जीवन में सफलता के रहस्य

लेखक

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती
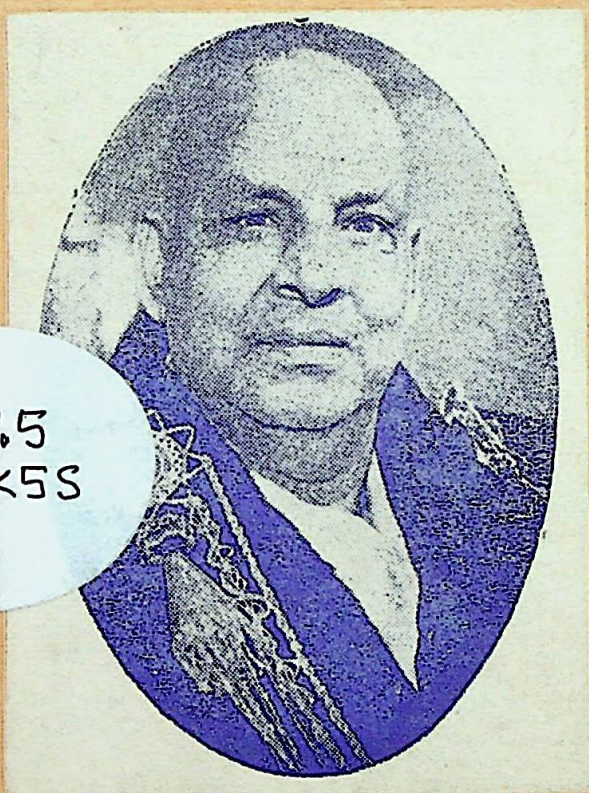
डिवाइन लाइफ सोसाइटी पब्लीकेशन
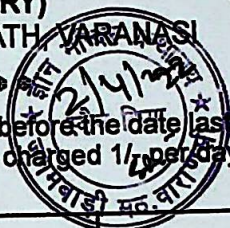
जीवन में सफलता के रहस्य

और

आत्म-दर्शन

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

हिन्दी रूपान्तरकार
स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
स्वामी ईश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
योग-वेदान्त फारेस्ट एकैडेमी
(डिवाइन लाइफ सोसाइटी)
पो० शिवानन्दनगर,
जिला–टिहरी-गढ़वाल (यू०पी०) हिमालय

मूल्य] १९६५ [६ रू०

योग–वेदान्त फारेस्ट एकैडेमी (डिवाइन लाइफ सोसाइटी) के लिए श्री स्वामी कृष्णानन्द जी द्वारा प्रकाशित तथा उन्हीं के द्वारा योग–वेदान्त फारेस्ट एकैडेमी प्रेस, शिवानन्दनगर, जिला टिहरी-गढ़वाल (यू. पी.) हिमालय में मुद्रित।

प्रथम संस्करण (हिन्दी)·········१९५३
द्वितीय संस्करण (हिन्दी)·········१९६५
(प्रति ३०००)

इस पुस्तक की (५००) प्रतियाँ
श्री रवीन्द्रनाथ, चण्डीगढ़
के उदार धर्मदान से प्रकाशित की गईं।
भगवान् उनका योग-क्षेम वहन करें!

मिलने का पता—
व्यवस्थापक, शिवानन्द पब्लीकेशन लीग,
पो० शिवानन्दनगर,
जिला टिहरी-गढ़वाल (यू. पी.)
हिमालय।

जिनके जीवन का कुछ लक्ष्य है,
ग्रौर जो उस लक्ष्य की ग्रोर जाना चाहते हैं।
जिनके जीवन में महत्त्वाकांक्षाएं हैं,
जो उन्हें पूरा करना चाहते हैं।
जिनके जीवन में सदाचार का ग्रभाव है,
पर जो सदाचारी बनना चाहते हैं।
जिनको समाज पतित कहता है,
पर जो उठना चाहते हैं—
विश्व के ऐसे मनुष्यों को

—सस्नेह भेंट

चतुःश्लोकी भागवत

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया।
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥

१— अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

२— ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो तथा तमः॥

३— यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥

४— एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा
सतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना
भवन्कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥

याचना

अथक गति से मार्ग पर बढ़ता चलूं,
यह साधना दो।

सजग अम्बर में अरुण सा रश्मि ले चढ़ता चलूं,
यह कामना दो।

सार ले निस्सार जीवन को पुनः गढ़ता चलूं,
यह कल्पना दो।

विश्व के कल्याण का शुभ पाठ मैं पढ़ता चलूं,
यह भावना दो।

छोड़ कर जड़ता सतत सङ्घर्ष से लड़ता चलूं,
यह सान्त्वना दो।

भावना

मैं उन्मुक्त गगन का पंछी
मैं अजस्त्र अमृत की धारा
मैं प्रशान्त सामोद सनातन
मैं खुशियों का दीप्त सितारा
जा रे क्रन्दन विसह वेदने
ध्वस्त हुई कष्टों की कारा
कहाँ रहे काँटें अब मग में
फूलों से पथ गया सँवारा

आज्ञा

जग जीवन को समझो अवस्तु आशा से भी रह कर वंचित।
जागरण स्वप्न निद्रा में भी होवे न तुम्हारा चित विचलित।
हो अनासक्त अविचल सदैव तुम वृद्ध युवा अथवा कुमार।
त्रयतापों से, त्रयभोगों से, अन्तस्तल रख कर निर्विकार।
शुभ तथा अशुभ लौकिक दैविक वासना चित्र सन्तत विलीन।
तुम त्रयकालों में स्वयं सिद्ध तुम महानन्द में सदा लीन।
यह जर्जरता या रोग शोक हैं तेरी गतिविधि के न रूप।
कर मूल धारणा को अमूल तुम जान सको अपना स्वरूप।

उपनिषद् के विचारों में तल्लीन

जो आत्मा में सब कुछ देखता है और आत्मा को ही सबमें देखता है, उसमें जुगुप्सा नहीं रहती।

आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम तथा महान् से भी महत्तम, प्रत्येक जीव के हृदय में विराज रहा है।

जो इच्छाओं से मुक्त है, मन और इन्द्रियाँ जिसने वश में कर ली हों, जो आत्मा की महानता को देखता है वह शोक-रहित हो जाता है।

प्रणव धनुष है, मन तीर और ब्रह्म है लक्ष्य। एकाग्र चित्तवाले व्यक्ति से यह निशाना साधा जा सकता है और तब, जिस प्रकार तीर लक्ष्य में मुद्रित हो जाता है वह भी ब्रह्म में स्थिर हो जायगा।

ब्रह्मानन्द का अनुभव कर, जहाँ तक न पहुँच कर शब्द भी लौट आते हैं, मन के साथ-साथ; और मनुष्य किसी से भयभीत नहीं होता तथा विचार उसे सन्तप्त नहीं कर सकते।

क्यों नहीं मैंने सुकर्म किये, क्यों मैंने पाप किया—निश्चयतः जो आत्मा को जानता है वह इन दोनों को भी आत्मा ही जानता है।

वह तेजोमय है, निर्गुण, सर्वव्यापक, अन्दर और बाहर स्थित, अजन्मा, प्राण-मन-इन्द्रियरहित, अव्याकृतत्व से परे और सबसे पार है।

ॐ—यह ॐ अमृत है। यह समस्त जगत् ही इसका व्याख्यान है। क्या था, क्या है और क्या होगा, यह सब निश्चयतः ॐ ही है। तीनों कालों से परे भी यदि कुछ है तो ॐ ही।

मन से जिसको जाना नहीं जा सकता, पर जिसके द्वारा, सन्तों ने कहा है, मन को जान लिया जाता है, जान लो वही ब्रह्म है, न कि वह जिसे यहाँ पूजा जाता है।

साधना का पथ

साधना का पथ अगम्य नहीं, आलसी लोगों के लिए
दुर्गम पर कर्मठ लोगों के लिए उतना ही सुगम है
जितना किसी प्रशस्त मार्ग पर चलना।

१. एक ही आसन पर निश्चल हो कर ३ घण्टे तक बैठने की आदत हो जानी चाहिए।

२. अभ्यास करते-करते कम से कम ३० मिनट तक प्राणायाम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

३. प्रातः ३ बजे उठ कर ध्यान आरम्भ करना चाहिए, तदुपरान्त आसन और प्राणायाम।

४. गुरु के बतलाये गये तरीकों से धारणा और ध्यान का अभ्यास करो।

५. सद्विचार, सदनुभव, सद्कर्म और सद्भाषण करो।

६. दुर्गुणों को अपने से दूर हटाओ।

७. इन्द्रियों पर अपना अनुशासन स्थापित करो। दिन में दो-चार घण्टे मौन धारण करो।

८. सद्गुणों का विकास करो

९. आध्यात्मिक दैनन्दिनी रखो और निश्चित दिनचर्या का पालन करो।

१०. अपना इष्टमन्त्र नित्यप्रति एकाग्र-चित्त हो कर लिखो।

११. शाकाहारी भोजन करो, माँसादि रजोगुणी पदार्थों को वर्जित जानना चाहिए।

तुम कौन हो ?

तुम कौन हो ? तुमको ही नहीं मालूम कि तुम कौन हो ?

तुम सत् चित् आनन्द स्वरूप हो ।

यह देह जो नाश को प्राप्त होती है, यह इन्द्रियाँ जो किसी दिन निष्क्रिय हो जाती हैं, यह हँसना, यह रोना और बिलखना तुम्हारा स्वभाव नहीं, तुम तो निर्विकार आत्मा हो ।

भले ही नौकरी न मिल रही हो, भले ही खाने को रोटी का टुकड़ा न मिले और पीने को पानी तथा पहनने को वस्त्र का टुकड़ा भी—किन्तु इससे तुम्हारी आत्मा के अमरत्व में क्षीणता नहीं आती । आत्मा भूख और प्यास, सर्दी और गर्मी, निन्दा और अपमान—सबसे परे है ।

मान लो और निश्चय कर लो कि तुम आत्मा ही हो, जो जन्म, मृत्यु, पाप, पुण्य, सुख और दुःख से परे है ।

यह देह तुम्हारी नहीं ।

तुम राजाओं के महाराजा तथा परम शक्तिशाली सम्राट् हो ।

तत्त्वमसि ! तुम वह हो ! तुम ही ब्रह्म हो ।

सङ्कल्पोपासना

सङ्कल्प आत्म-बल है, इसमें महान् शक्ति है।
सङ्कल्प का विकास कर आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।
इच्छाओं ने तुम्हारे सङ्कल्प को निर्बल कर दिया है।
विवेक, वैराग्य और त्याग से इच्छा का दमन और सङ्कल्प का
विकास करो।
मेरा सङ्कल्प शक्तिमान् है, मैं पर्वतों को तोड़ सकता हूँ,
समुद्र की तरङ्गों को रोक सकता हूँ और तत्त्वों को मिटा
सकता हूँ।
प्रकृति मेरी आज्ञानुवर्तिनी है, मैं विश्व-सङ्कल्प के साथ
एकरस हूँ।
मुनि अगस्त्य के समान मैं समुद्र को पी सकता हूँ।
मेरा सङ्कल्प इतना तीव्र है कि कोई उसका विरोध नहीं कर
सकता।
लोगों को मैं प्रभावित कर सकता हूँ और जीवन में सफलता
की सिद्धि भी।

मैं स्वस्थ हूँ, नीरोग हूँ और आनन्दमय,
सदा प्रसन्न तो मैं हूँ ही, लाखों को प्रसन्नता का वरदान भी
देता ही हूँ।
सङ्कल्प करते ही मैं शक्ति का प्रयोग कर सकता हूँ।
योगियों में परम योगी, राजाओं का महाराजा,
सम्राटों का महासम्राट् और शाहों का मैं हूँ शाहंशाह।

स्पर्शमात्र से ही मैं साधकों का उत्थान करता हूँ ।
सत्सङ्कल्प के चमत्कार से मैं आश्चर्यों को जन्म देता हूँ ।
दूर और सुदूर के देशों में भी मैं लाखों को रोगमुक्त करता हूँ ।
यह सब मेरी सङ्कल्प-शक्ति का प्रभाव है—अतः सङ्कल्प का
विकास करो ।

वासनाओं को त्याग कर आत्म-विचार करना—
सङ्कल्प-साधना का यही श्रेयपूर्ण मार्ग है ।
आध्यात्मिक दैनिकी रखो, चिन्ता उद्विग्नता त्यागो,
साधारण तपस्या करो और धारणा की सिद्धि भी,
धैर्य का विकास करो, क्रोध पर विजय भी,
इन्द्रियों को वश में कर, ध्यान का अभ्यास करो,
सहनशक्ति होनी चाहिए, ब्रह्मचर्य का अभ्यास भी,
यह सब सङ्कल्प-उपार्जन में तुम्हारी सहायता करेंगे ।
मैं न तो मन हूँ, न देह ही—पर हूँ अमर आत्मा
तीनों अवस्थाओं का साक्षी, पूर्ण ज्ञान-महान् ।

योग की वर्णमाला

अखण्ड अभ्यास से योग में सफलता मिलती है।

आसनों से स्वस्थ शरीर तथा ओजस्वी मन की प्राप्ति की जा सकती है।

इन्द्रियों का नियन्त्रण योग के अभ्यास से किया जा सकता है।

ईश्वर की प्राप्ति के लिए ऋषि-मुनि योग का अभ्यास करते थे।

उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से सुन्दर शरीर, शक्ति, ओज और प्रतिभा की प्राप्ति होती है तथा अन्नवाही स्रोतों शुद्धिकरण।

ऊर्ध्वरेता बनने के लिए शीर्षासन का अभ्यास करना चाहिए।

ऋषिगण योगविद्या के वैज्ञानिक थे।

एकाग्रता से हठयोग का अभ्यास किया जाय तो बड़ा आनन्द मिलता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हठयोग भारत की बहुत प्राचीन शास्त्र-विद्या है।

ओज-शक्ति के विकास के लिए हठयोग का अभ्यास करना चाहिए।

औषध-विज्ञान भी यही स्वीकार करता है कि हठयोग से सभी रोगों का उन्मूलन किया जा सकता है।

अंतःकरण पर योग का बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ता है।

कर्मयोग मन को पवित्र करता तथा साधक को भगवद्दर्शन के योग्य बना देता है।

ख से आकाश का बोध होता है। अतः खेचरी मुद्रा से आकाश में चलने की क्रिया सिद्ध होती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि प्राप्त कर हठयोगी आकाश में गमन कर सकता है।

गरिमा अष्टसिद्धियों में एक सिद्धि का नाम है, जिसको प्राप्त कर वह अतितर भारी हो जाता है।

घटाकाश और महाकाश में एक ही आकाश है, उसी प्रकार सभी जीवों में एक ही आत्मा।

चक्र लिङ्ग-शरीर में शक्ति के केन्द्रों को कहा जाता है। वे छः होते हैं।

छः चक्रों के नाम हैं, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार।

जप का अर्थ है परमात्मा के पवित्रतम नामों का सतत उच्चारण करना। जप करने से मन पवित्र होता है तथा एकाग्रता का भी उदय होता है।

झङ्कार के समान एक ध्वनि सुनाई देती है। योगी नादयोग में सिद्धि पाने पर इस ध्वनि को सुनता है।

टकटकी लगा कर किसी वस्तु पर दृष्टि को स्थिर करने का नाम त्राटक है।

ठाकुर जी को भोग लगा कर ही जो स्वयं भोजन करता है, वही ब्राह्मण है।

डर को राजयोग के अनुसार साधक की निर्बलता कहा गया है। इसके निवारण के लिए साहस की प्रतिपक्षीय भावना का अभ्यास करना चाहिए।

ढोंग और पाखण्ड योग के दुश्मन हैं, योगी को इनसे बचना चाहिए।

तपस्या मानसिक, वाचिक और शारीरिक—तीन प्रकार की होती है। तपस्या करने से तीनों का परिशोधन होता है।

थका-माँदा व्यक्ति, जो संसार को अच्छी तरह समझ चुका हो और उसके सामने हार भी खा चुका हो, योग की शरण में आकर ही शान्ति और विश्राम पा सकता है।

दम से इन्द्रियों के दमन का अर्थ प्रकट होता है। यह साधन-चतुष्टय के षट्-सम्पत् का दूसरा अङ्ग है।

ध्यान का क्या अर्थं है? एक ही विचार की तन्मय धारा के प्रवाह को ध्यान कहा जाता है।

नवविध भक्ति इस प्रकार जाननी चाहिए। श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य, दास्य, आत्म-निवेदन।

पद्मासन करने पर ध्यान में सरलता की अनुभूति होती है।

फण उठा कर सर्प, शस्त्र उठा कर योद्धा, चोंच उठा कर गृद्ध वार किया करते हैं। पर इन्द्रियाँ विषय-वासना को उठा कर ही अपना वार किया करती हैं, जो दुर्जेय रहता है।

ब्रह्मचर्य जीवन में सफलता की कुञ्जी है।

भक्तियोग आज के लौहयुग में भगवद्दर्शन का उत्तम मार्ग है।

मन्दिर जाना धर्मान्धता नहीं और न किसी जाति का धर्मगत पाखण्ड ही। यह तो उत्पाती मनुष्य को एक प्रकार के अनुशासन और सिद्धान्तों में बाँधने का मनोवैज्ञानिक आधार है।

यज्ञादि कर्मों को मिथ्या अथवा निःसार या पाखण्ड कह कर दूषित नहीं किया जा सकता। यज्ञ का प्रभाव वैदिक साहित्य में प्रतिलक्षित होता है और यज्ञ का अभाव आज की स्थिति को प्रकट करता है।

रजोगुणी वृत्ति से अनेकों मानसिक उपद्रव होते हैं, सात्त्विक बन कर रजोगुण को हटा देना चाहिए।

लघिमा अष्टसिद्धियों में एक ऐसी सिद्धि है, जिसको प्राप्त कर योगी अत्यन्त लघु रूप धारणा कर सकता है।

वैराग्य और विवेक दोनों बेकार हैं, दोनों का उपार्जन जीवन की सफलता में सहायक सिद्ध होता है।

शान्ति ही मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए योग ही एकैव साधन है।

षट्दर्शनों का सारांश यही है कि सर्वत्र एक ही आत्मा है।

सन्तोष धारण कर लिया जाय तो कितना अच्छा है। सन्तोष धारण कर लेने पर मन किसी भी वस्तु के अभाव में दुःखी नहीं होता और न प्राप्ति में उछलता ही है।

हठयोग की सिद्धि प्राप्त होते ही राजयोग का आरम्भ होता है।

क्षमा एक गुण है। इस गुण का उपार्जन कर लीजिए, जीवन में आनन्द की लहर लहराने लग जायगी।

त्राटक का अर्थ है किसी एक वस्तु पर दृष्टि को निर्निमेष किये रहना।

ज्ञान मनुष्य-जीवन का चरम-विकास है। ज्ञान के उपरान्त और कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। योग-साधना का उद्दश्य ज्ञान की प्राप्ति करना ही है।

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती
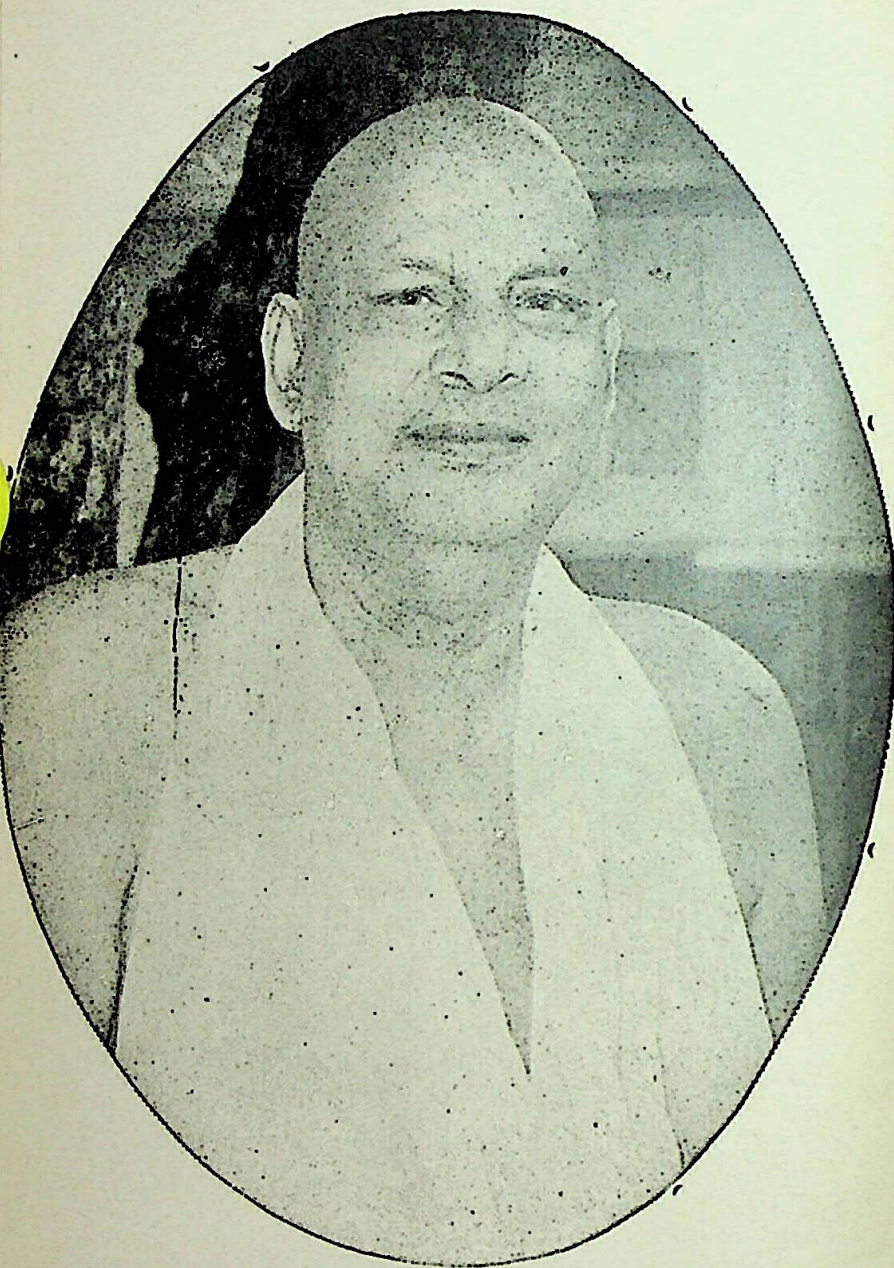
शिवानन्द वाणी
(लेखक की भूमिका)

जीवन क्या है ? क्या केवल साँस लेना, भोजन को पचाना, मलमूत्रादि वेगों का त्याग करना, शरीर-रचना और निर्माण के अन्य कार्यों का होना ही जीवन की परिभाषा का पूरक है या जीवन का अर्थ इससे अलग कुछ और है ? क्या केवल विचार करना, योजनाएं बनाना, विमर्श करना, नाम यश आदि के लिए प्रयत्न करना ही जीवन की सिद्धि का बोधक है? क्या सन्तति-प्रजनन से जीवन का अर्थ स्पष्ट होता अथवा जीव-जन्तुओं के गतिशील होने पर शरीर के अन्दर जो प्रतिक्रिया होती है, वह तो जीवन नहीं है ? वैज्ञानिक और नृतत्त्व के वैज्ञानिकों का जीवन-विषयक दृष्टिकोण अलग-अलग है। दार्शनिकों ने जीवन को दूसरे दृष्टिकोण से आँका है।

जीवन दो प्रकार का होता है, यथा भौतिक जीवन और चेतनात्मक जीवन। नृतत्त्व-शास्त्री तथा देहविज्ञानवादियों का कहना है कि सोचना, अनुभव करना, जानना, सङ्कल्प करना, पचाना, मलादि वेगों को त्यागना, रक्तादि का सञ्चरण, स्खलन आदि क्रियाओं से जीवन में गति आती है, अथवा जीवन का बोध इन क्रियाओं से होता है। परन्तु इस प्रकार का जीवन शाश्वत नहीं है। इस जीवन में खतरे, दुःख, चिन्ताएं और घबराहट, पाप, पुण्य, जन्म, मृत्यु, व्याधियाँ, वृद्धावस्था और अनेकों प्रतिक्रियाएं व्याप्त रहती हैं।

अतः जिन महात्माओं ने इन्द्रियों और मन पर संयम स्थापित कर, त्याग, तपस्या और वैराग्य-साधना कर आत्ममय

जीवन बिताया, उनको यह कहते तनिक भी झुंझलाहट नहीं हुई कि आध्यात्मिक जीवन ही शाश्वत है, भौतिक जीवन तो केवलमात्र बाहरी और अस्थिर आवरण है।

इसी जीवन की प्राप्ति के लिए उन्होंने अनेकों विधियों से प्रयोग किये। वे प्रयोग एक ही व्यक्तिमात्र के लिए नहीं, अपितु अनेकों व्यक्तियों के लिए, जिनकी रुचियाँ, जिनकी आदतें और जिनकी योग्यताएं अलग-अलग होती हैं, विभिन्न मार्गों को खोज निकाला। जिन लोगों में श्रद्धा, विश्वास और कर्मठता है, वे अवश्य उन योगों में से किसी एक प्रयोग को अपने जीवन में व्यवहृत कर सकते हैं—यह आवश्यकता नहीं रहती कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रयोग का व्यवहार करे, अथवा एक ही सिद्धान्त का अनुयायी हो।

भौतिक जीवन की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसकी असारता को जानता है। भौतिक जीवन में अनेकों सीमाएं, अनेकों कमियाँ हैं। भौतिक जीवन को ही परम जीवन समझने वाला व्यक्ति कभी भी सुखी और सफल नहीं बन सकता। जो रात और दिन भौतिक जीवन की तृप्ति के लिए ही चेष्टा कर रहा है, उसे कामयाबी नहीं मिल सकती—यह सिद्ध सत्य है।

परन्तु जो लोग भौतिक जीवन में ही सन्तुष्ट न रह कर आत्मचेतनामय जीवन को प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए अनेकों मार्ग हैं, जिनका अनुसरण कर वे अवश्य सफलता की प्राप्ति कर सकते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि हम भौतिक जीवन की अवहेलना करें। पदार्थ तो परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप है। भौतिक पदार्थमय जीवन का निर्माण परमात्मा की लीला का उपकरण

ही तो है। पदार्थ और उसके अन्दर वर्तमान शक्ति को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। आग और तेज, हिम और शीतलता, पुष्प और सौरभ तथा शक्ति और शक्तिमान् जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसी प्रकार शक्ति और उसका व्यक्त स्वरूप भी। ब्रह्म और माया अभिन्न हैं। इस भौतिक लोक का जीवन आत्मचेतनामय जीवन का उपकरण है, सफलता का प्रथम रङ्गमञ्च है। संसार से परमोच्च शिक्षा ग्रहण की जा सकती है प्रकृति की गोद में पल कर ही मनुष्य अच्छी शिक्षाएं प्राप्त कर सकता है। अभिप्राय यह कि आत्मचेतनामय जीवन की प्राप्ति करने के लिए जिन-जिन गुणों से व्यक्ति को सुमज्जित होना पड़ता है, उन सबका उपार्जन इसी भौतिक देह के माध्यम से इसी भौतिक लोक में किया जा सकता है। जहाँ सुर और असुर शक्तियों का युद्ध होता है, वह स्थान है यह भौतिक शरीर।

किन्तु जो इस जीवन के अर्थ को न समझ कर जीवन से उपलिप्त हो कर रहता है, वह कभी सफलता की प्राप्ति नहीं कर सकता। जीवन को उपकरण मान कर उच्च जीवन की प्राप्ति करना ही ज्ञानी के लिए श्रेयस्कर है। काँटे को काँटे से निकाल कर दोनों काँटों को फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार संसार में रह कर सांसारिकता से युद्ध कर उसे पराजित करना होगा—इसी में शूरता और वीरता है।

विज्ञान क्या और धर्म क्या, राजनीति और धर्म—यह सभी अभिन्न हैं। साथ-साथ ही उनका विकास किया जाता है। यदि इनमें किसी एक की भी अवहेलना की गयी तो जीवन की पूर्णता विच्छिन्न हो जाती है। यदि देश की आर्थिक स्थिति को भुला दिया गया तो आध्यात्मिक स्थिति कितनी खतरनाक

और सन्देहजनक हो जायगी। देश में धनाभाव होने से आध्यात्मिक प्रचार किस प्रकार अपना कार्य सम्पन्न कर सकेंगे। यदि देश की राजनीतिक हालत अच्छी नहीं है तो महात्मागण किस प्रकार अपने उपदेशों को क्रान्तिमय समाज में प्रसारित कर सकेंगे। देश में शान्ति होनी चाहिए, विज्ञान की उन्नति भी—तभी धर्म के प्रति लोगों की रुचि हो सकती है, तभी धर्म के व्यवहार के लिए लोगों को समय भी मिल सकता है और सुविधा भी।

मन किसी भी वस्तु का ग्रहण तभी कर सकता है, जब वह पूर्णतः शान्त हो। राजा जनक अपने समय में साधु और संन्यासियों को प्रश्रय दिया करते थे। ऋषियों के आश्रम तब पूर्णतः सम्पन्न थे, उनकी आर्थिक सुरक्षा राजा के अधीन थी। आज वैसी दशा नहीं है, महात्माओं और संन्यासियों को निवृत्तिमार्गगामी होने पर भी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होना पड़ रहा है: समाज के ढाँचे को गिरता देख कर कौन-सा संन्यासी चुप रह सकेगा। आखिर संन्यासी भी समाज का ही व्यक्ति है न? समाज से आया है, आकाश से तो नहीं गिरा। समाज के वातावरण का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है। समाज की दुर्व्यवस्था को वह चुप से देखता रहे, यह सम्भव नहीं। अतः राजनीति और विज्ञान तथा धर्म साथ-साथ उपार्जित किये जाने चाहिए।

आज कुछ लोग केवल राजनीति का दम्भ भर रहे हैं, कुछ लोग केवल विज्ञान के रङ्ग में रङ्गे हैं, किसी को भी धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं। मध्यकाल में उचित शिक्षकों के अभाव ने धर्म के स्वरूप को विकृत कर दिया था, बौद्ध और हिन्दू धर्म आपस में भिड़ पड़े थे, अतः धर्म में भयङ्कर परिवर्त्तन हुए, जिसका प्रभाव अभी नहीं मिट पाया है। इसके लिए कुछ समय

की जरूरत है। यदि प्रत्येक व्यक्ति धर्म के सही अर्थ को समझ पाये तो कार्य की पूर्ति में देर नहीं लगेगी।

यह कहना भी ठीक नहीं कि धर्म समाज को साम्प्रदायिकता में संकुचित कर देता है। मैं तो यह कहता हूँ कि जो धर्म समाज को किसी प्रकार के सीमित बन्धन में डाल देता है, वह धर्म जल्दी ही दुनियाँ से मिट जाय तो अच्छा और जो इसे मिटा सकेगा, वही अपने युग का नेता होगा, सन्त कहलायेगा। धर्म समाज को सीमित नहीं बनाता। धर्म का प्रथम सम्बन्ध व्यक्ति से है, पर एक ही व्यक्ति से नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति से— व्यक्तिगत रूप में। इसी व्यक्तिगत सम्पर्क का प्रभाव कालान्तर में समाज और राष्ट्र और मानव जगत् में पड़ना अनिवार्य है। इस प्रकार धर्म प्रत्येक व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध स्थापित कर समाज और राष्ट्र के निर्माण में सहायक होता है। राजनीति और विज्ञान को गौण भी कहा जाय तो अनुचित नहीं, धर्म इनका आधार है—यदि धर्म के आधार पर इनका विकास या उत्थान नहीं किया गया तो बुद्धिहीन व्यक्ति के समान ही इसकी उपमा दी जा सकेगी।

प्रत्येक देश में धर्म के मूलभूत सिद्धान्त वही हैं, जो दूसरे देशों में। पर इतना जरूर है कि उनकी विधियों में काल, स्वभाव, रुचियों और योग्यताओं के कारण विभिन्नता आ गई है, जो अनुचित नहीं। लक्ष्य एक है, धर्म एक है, पन्थ अलग-अलग हैं; उनको एक नहीं किया जा सकता।

यदि धर्म का ह्रास हुआ तो समाज में अव्यवस्था आ जाती है, व्यक्ति-व्यक्ति में अनुचित सम्बन्धों की सृष्टि हो जाती है। क्रान्ति, उत्पात आदि इसके परिणाम हैं। सदाचार के गिर जाने से (जो धर्म का पूरक है) समाज अवश्य गिरेगा, इसमें सन्देह नहीं।

समाज में फैली असफलताओं का कारण है, धर्म के प्रति अरुचि या घृणा। दोनों ने समाज को निराशा की ओर बहा दिया है। धर्माचरण करने से मनुष्य अपने जीवन में शान्ति और सफलता की प्राप्ति कर पाता है और आशा से नित्य प्रसन्न रहता है।

इसलिए जीवन की सफलता आत्म-दर्शन पर निर्भर है और आत्म-दर्शन जीवन की सफलता की सही कुन्जी है। जीवन की सफलता और आत्म-दर्शन की प्राप्ति के लिए कुछ साधनायें करनी पड़ती हैं, कुछ नियमों का पालन भी करना पड़ता है, कुछेक व्यवहारों को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है। यदि यह सब कर दिया गया तो मनुष्य के जीवन में वह दिन ही नहीं आता, जिसे असफल कहा जा सके। असफलता उसी व्यक्ति के मत्थे आ पड़ती है, जो जीवन की कला में कुशल नहीं। जीवन की इस कला में निपुण बनने के लिए यह पुस्तक अति उपादेय है।

इस पुस्तक में प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन-उन आवश्यक बातों का वर्णन किया गया है, जिनका व्यवहार कर वह अपने अन्दर प्रथमतः शक्ति को जगा सकेगा और बाद में उस शक्ति के सहारे जीवन में निश्चित सफलता को प्राप्त कर सकेगा। अनेकों ने, जिनकी गणना नहीं हो सकती, इसी मार्ग से जीवन की सफलता को पाया; अतः प्रयोगों की सत्यता में सन्देह नहीं रह जाता। आवश्यकता है कि जीवन में इनका व्यवहार भी किया जाय।

प्रत्येक व्यक्ति को वह शक्ति प्राप्त हो, जो आत्म-दर्शन और जीवन-सफलता के ज्ञान और प्रकाश को प्रसारित करती है!

—स्वामी शिवानन्द सरस्वती

प्रकाशक का वक्तव्य

"जीवन में सफलता के रहस्य" इस नाम से ही पुस्तक का पूर्ण परिचय मिल जाता है।

स्वामी शिवानन्द जी ने इस पुस्तक में अनेकों प्रयोगों को अच्छी तरह से दिग्दर्शित किया है। यह प्रयोग इतने सरस और सरल हैं कि प्रत्येक व्यक्ति, यदि चाहे, उनका व्यवहार कर सकता है। मुझे इतना निश्चय तो जरूर है कि इस पुस्तक में वर्णित प्रयोग खरे सोने के समान हैं, जिनको स्वामी जी ने अपने तपस्वी जीवन की कसौटी पर कस कर शुद्ध सिद्ध किया है।

श्री स्वामी जी ने जो कुछ इसमें लिखा है, वह उनके दीर्घ-कालीन आध्यात्मिक जीवन का रक्षित अनुभव है क्योंकि स्वामी जी इस पुस्तक में दिये गये नियमों का पालन आजीवन अपने दैनिक जीवन में करते रहे थे।

श्री स्वामी जी को पवित्र जीवन में इतना अधिक विश्वास था कि वे उस जीवन की प्राप्ति के लिए सब कुछ त्याग देने को तैयार थे। वे कहते हैं कि चाहे तुम विद्वान् बनो या नहीं, वैज्ञानिक भी बनो या नहीं, नेता बनो या नहीं, पर सच्चरित्र और पवित्र अवश्य बनो। सच्चरित्रता और पवित्रता—बाहरी और भीतरी दोनों—इस जीवन की सफलता के द्वार खोलती है और आत्म-दर्शन को भी सिद्ध करती है।

पुस्तक पढ़ने से प्रत्येक व्यक्ति को प्ररणा मिलेगी, ऐसा मुझे दृढ़ निश्चय है। पुस्तक के अनेकों संस्करण बिकते चले गये, यही पुस्तक की लोकप्रियता का एक उदाहरण है। तदतिरिक्त नित्यप्रति कई लोगों के पत्रों से (जो पुस्तकानुदर्शित विधि से साधना कर रहे हैं) ज्ञात होता है कि पुस्तक ने उनके जीवन में बहुत सुन्दर परिवर्त्तन कर दिये हैं। अनेक मद्यपों ने मद्यपान का त्याग कर दिया, अनेकों लोगों ने सिगरेट पीना और सिनेमा जाना छोड़ दिया। बहुत से लोग समाचार पत्र और उपन्यास भी नहीं पढ़ते। कई विद्यार्थियों ने ब्रह्मचर्य में अपने को दीक्षित कर दिया है। लोगों को इस पुस्तक से अवश्य प्रेरणा मिली है, इसमें सन्देह नहीं।

समय और साधन के अभाव और कुभाववश भी हम इस संस्करण को इस रूप में ला पाये हैं, जिसका श्रेय हमारे उत्साही पाठकों को है, वे बारम्बार अपना उत्साहप्रद सहयोग हमें देते रहें।

परमात्मा सब को कुशल और मङ्गल का वरदान दे !

अनुवादक के दो शब्द

इस पुस्तक का आपके जीवन से निकटतम सम्बन्ध है।

यह कागज की किताब नहीं, आपके जीवन की किताब है। समझ लीजिए कि आप अपने जीवन को ही इस पुस्तक में पढ़ रहे हैं।

इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद करने का उद्देश्य अनुवादक का कर्त्तव्य निभाना नहीं बल्कि हिन्दी भाषाभाषी समाज के आगे एक नवीन जीवनधारा को रख देना है। समाज में जो उत्पात मचा हुआ है, उनका निराकरण करना है और जीवन में जो भयावह अशान्ति छायी हुई है, उसको मिटाना है।

प्रथम अध्याय का और दूसरे अध्याय के कुछ अंशों का अनुवाद श्री स्वामी ईश्वरानन्द जी ने किया था; अतः उत्तर-अनुवादिक शैली में कुछ विचित्रता भी प्रतीत होगी। भाषा साधारण बोलचाल की है।

यदि इस पुस्तक के उपदेशों ने लोगों के जीवन में प्रत्याशित पवित्र प्रभाव डाला तो अनुवादकों का श्रम सार्थक हो जायगा।

विषय-सूची

प्रथम प्रयोग

सङ्कल्प और स्मृति का विकास

द्वितीय प्रयोग

राजयोग महाविद्या

तृतीय प्रयोग

आत्म-शक्ति के प्रभाव

चतुर्थ प्रयोग

सद्गुणों का उपार्जन

पञ्चम प्रयोग

दुर्गुणों का निराकरण

षष्ठ प्रयोग

योग की अभ्यासमाला

सप्तम प्रयोग

उपसंहार

अष्टम प्रयोग

दो कथाएं

परिशिष्ट

जीवन में सफलता के रहस्य
और
आत्म-दर्शन

प्रथम प्रयोग

संकल्प और स्मृति का विकास

ईश्वर ? ? ?

ईश्वर सच्चिदानन्द (अस्तित्वपूर्ण, ज्ञानमय और केवलानन्द) है। ईश्वर सत्य है। ईश्वर प्रेम है। परमात्मा प्रकाशों का प्रकाश है। ईश्वर सर्वव्यापी, बुद्ध और चैतन्य है। ईश्वर ही वह सर्वव्यापी शक्ति है, जो इस ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करती है और इसको सुव्यवस्थित भी रखती है। वह (परमेश्वर) इस शरीर और मन का आन्तरिक शासक (अन्तर्यामी) है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है। वह तुम्हारे मन का मूक साक्षी है। वह सूत्रधार अर्थात् तुम्हारे जीवन की डोरी का धारण करने वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् और सभी वेदों का योनिभूत कारण है। वही संकल्पों को प्रेरणा देता है। उसके छः गुण ज्ञान, वैराग्य, सौन्दर्य—माधुर्य, ऐश्वर्य, श्री और कीर्ति हैं। ततः वह भगवान् कहलाता है।

उसकी सत्ता भूत, वर्त्तमान और भविष्य में निरन्तर रहती है। जगत् की परिवर्त्तनशील घटनाओं के मध्य वही एक अपरिवर्त्तनशील और निर्विकार है। संसार की सभी नश्वर वस्तुओं

के मध्य वही अविनश्वर है। वह नित्य, शाश्वत, अविनाशी, अव्यय और अक्षर है। उसने इस जगत् को अपनी लीला के हित गुणत्रयसमायुक्त किया है। वह मायापति है।

वह स्वतन्त्र है। उसको सत्यकाम और सत्यसंकल्प कहा जाता है। वह जीवों के कर्मों का फल देने वाला है। वह दयामय है। वह जीवों की प्यास को शीतल जल और रसान्वित फलों से बुझाता है। परमात्मा की शक्ति से तुम देखते हो, सुनते हो और चलते हो। जो कुछ तुम देखते हो, वह ईश्वर है। जो कुछ तुम सुनते हो, वह ईश्वर है। ईश्वर तुम्हारे हाथों द्वारा काम करता है और मुख द्वारा भोजन करता है। केवल अज्ञान और अहङ्कार के कारण तुम उसे भूल गए हो।

नित्य सुख और परम शान्ति तभी प्राप्त की जा सकती है, जब ईश्वरीय राह पर चलो। यही कारण है कि विचारवान्, बुद्धिमान्, जिज्ञासु तथा साधक ईश्वर-दर्शन तथा ब्रह्म-साक्षात्कार की चेष्टा करते हैं। ईश्वर का दर्शन हो जाने पर जन्म-मरण का चक्कर तथा उसके सहकारी दुःखों का नाश हो जाता है। यह विश्व (जगत्) दीर्घकालीन स्वप्न के समान है। यह माया की बाजीगरी है। पाँचों इन्द्रियाँ मनुष्य को हर दम भ्रमित करती रहती हैं। अपनी आँखें खोलो। विवेक बुद्धि से काम लो। ईश्वर के रहस्यों को समझो। भगवान् की सर्वव्यापकता की अनुभूति करो। सदा यही अनुभव करो कि वह तुम्हारे निकटतम है। उसको अपनी हृदय-गुहा में सर्वदा विराजमान् हुआ जानो। 'आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः' श्रुति प्राचीन काल से यही कहती आ रही है।

आध्यात्मिक संस्कृति

(क) ज्ञानयोग

आध्यात्मिक उन्नति सभी उन्नतियों में श्रेष्ठ समझी गई है। मैं इसी उन्नति को विशेष रूप से मानता हूँ। संस्कृति का अर्थ है, शुद्धता या शिक्षा। जो अन्तर्यामी आत्मा या ब्रह्म से सम्बन्ध रखता हो, जिसकी प्रकृति अस्तित्वपूर्ण, ज्ञानमय और केवलानन्द हो—वह आध्यात्मिक है। मेरा मतलब उस अध्यात्मवाद से नहीं, जो भूत-विज्ञान, प्रेतात्मा-संलाप तथादिक बातों से सम्बन्ध रखता है। अध्यात्मवाद के अन्तर्गत आत्मोन्नति, आत्म-चिन्तन, आत्मध्यान और आत्मचर्चा तथा वेदान्तोपनिषद् का श्रवण और आत्मा के स्मरण को प्रधान माना जाता है। आध्यात्मिक साधक को आत्म-दर्शन की प्राप्ति के लिए अधिकारी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। अधिकारीत्व प्राप्त करने के लिए चार योग्यतायें होनी चाहिए।

(१) विवेक (सत् और असत् का यथार्थ ज्ञान),
(२) वैराग्य (विषय पदार्थों से विरक्त होना),
(३) षड्सम्पत्ति या छः गुण—

(क) शम अर्थात् मन की पवित्रता, (ख) दम अर्थात् इन्द्रियों का संयम करना, (ग) उपरति या संन्यास-भावना, (च) तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता, (छ) श्रद्धा अर्थात् वेद, गुरु-वचन और अपने आप में विश्वास और (ज) समाधान अर्थात् मन की एकाग्रता।

(४) मुमुक्षुत्व (जन्म और मरण से मुक्त हो जाने की तीव्र इच्छा)।

आध्यात्मिक संस्कारों को जगाने के लिये आरम्भ में आत्मबोध, तत्त्वबोध, विवेक चूड़ामणि, पञ्चदशी, उपनिषद्, विचारसागरादि वेदान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

ध्यान के निए 'ॐ' या 'सोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'शिवोऽहम्' मन्त्र का मानसिक जप करना चाहिए। तुम अपनी इच्छा के अनुसार इनमें से किसी एक मन्त्र को चुन सकते हो। सदा यह अनुभव करना चाहिए—

"मैं अमर आत्मा हूँ, मैं शाश्वत सत्य हूँ। मैं सर्वव्यापी प्रकाश, शुद्ध, बुद्ध और चैतन्य हूँ।"

इन मन्त्रों का जप तथा चिन्तन करने से आत्म-साक्षात्कार होगा।

(ख) भक्तियोग

आध्यात्मिक उन्नति के लिए दूसरे रास्ते हैं—भक्तियोग और राजयोग।

जिसका मन भक्ति की ओर झुक रहा है, उसे नौ प्रकार की विधियों से भक्ति का अभ्यास करना चाहिए। नवविध भक्ति यह है—

(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पाद-सेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्म-निवेदन।

अपना इष्टदेव चुन लेना चाहिए। भगवान् राम, कृष्ण या देवी या गायत्री या शिव—इनमें से किसी को चुन लो। तत्पश्चात् तद्देवता-सम्बन्धी मन्त्र का जप करो अर्थात्—

श्री कृष्ण का मन्त्र है "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"
श्री राम का मन्त्र है "ॐ श्री राम जय राम जय जय राम"
श्री देवी का मन्त्र है "ॐ क्लीं कालिकायै नमः"
श्री शिव का मन्त्र है "ॐ नमः शिवाय"

इसी प्रकार सभी देवताओं के अपने-अपने मन्त्र विशेष हैं। अपने इष्टदेव के मन्त्र का जप प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त (४ से ६ बजे) में करना चाहिए।

रामायण और भागवत का स्वाध्याय करना चाहिए। भागवतजनों की संगति में रहना चाहिए। कीर्तन करना चाहिए, भगवन्नाम का भजन करना चाहिए। अपने हृदय में भगवान् का ध्यान करना चाहिए। सदा भगवान् के गुणों—सर्वदयामय, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथादि का ध्यान करना चाहिए। मनुष्य के स्वभावसुलभ कामवासना, क्रोध, लोभ, वेईमानी, निष्ठुरता तथादि दुर्गुणों पर विजय पानी चाहिए। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यादि का, जो सच्चरित्रता के द्योतक हैं, पालन करना चाहिए। इस प्रकार साधक को धीरे-धीरे भक्ति का आचरण प्राप्त हो सकेगा और इष्टदेवता के दर्शन हो जाएंगे। यही भक्ति का पथ है सर्वसाधारण के लिए।

(ग) राजयोग

आध्यात्मिक विकास का एक मार्ग और है। यह मार्ग है मन को संकल्परहित कर देने का और चित्तवृत्तियों के निग्रह का। यह राजयोग है। राजयोग के आठ अङ्ग होते हैं, अतः यह "अष्टाङ्ग योग" के नाम से भी जाना जाता है। अष्टाङ्ग योग पर पतञ्जलि महर्षि ने "योग दर्शन" नामक अत्यन्त सुन्दर पुस्तक लिखी है। राजयोग के आठ अङ्ग हैं—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और आठवीं समाधि।

राजयोग के साधक को यम और नियम में पूरी निपुणता प्राप्त कर लेनी चाहिए। यम-नियम में सफलता प्राप्त कर लेने पर ही वह योगनिष्ठ होने की आशा कर सकता है।

यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह (लालच न करना) का अभ्यास करना पड़ता है।

नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वरभक्ति) का अभ्यास करना पड़ता है।

अतः राजयोग को पूर्ण विज्ञान कहा जाता है। इसकी प्रक्रिया परम वैज्ञानिक है। साधक को सर्वप्रथम आचार-विचार की शुद्धि करनी पड़ती है, तभी वह राजयोग के अन्य अङ्गों में सफलतापूर्वक बढ़ता जाता है।

विशेष शिक्षाएं

प्रारम्भ में अपनी स्मृति को समुन्नत करो। इच्छित व्यायाम करो और नित्यप्रति इसमें नियमित रहो। प्रतिदिन का वृतान्त रखो और वह भी मन में ही। यह मुख्य है। केवल किताबों के पन्नों को रँगने से काम नहीं चलेगा। यदि तुम जल्दी आत्मसुधार करना चाहते हो, यदि तुम एक सच्चे मनुष्य बनना चाहते हो तो सभी शिक्षाओं को आचरण के साँचे में ढालो। तुम अपनी गलतियों को सुधार सकते हो।

मैं तुमको शीघ्र ही एक व्यावहारिक मनुष्य बना देना चाहता हूँ।

एक छोटी सी पुस्तिका रखो ; अर्थात् एक दैनिकी (दिन भर का ब्योरा) में अपने दिन भर के कार्यों का वृतान्त नोट कर लो। यदि तुम बहुत ही इच्छुक और लगन के पक्के हो तो स्मृति की उन्नति के अभ्यास को केवल तीन महीनों में पूर्ण कर सकते हो। मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए छः माह का समय पर्याप्त है और तीसरे दर्जे के साधक के लिए साल भर उन्नति के अभ्यास के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार जब तुम स्मृति की उन्नति कर चुकोगे तो संकल्पोन्नति का बीड़ा उठा सकोगे।

जब स्मृति के विकास से कुछ बल प्राप्त होने लगता है तो संकल्पोन्नति में अधिकाधिक प्रेरणा मिलेगी। तुम्हें अभ्यास में प्रसन्नता प्राप्त होगी और एक प्रकार का आनन्द अनुभूत होगा। तुम्हारी प्रत्येक स्नायु में संकल्प का प्रवाह सञ्चरित होगा। इससे तुमको उत्साह और साहस की प्राप्ति होगी। अतः शान्तिपूर्वक और दृढ़ता से अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते रहो। अपनी प्रतिज्ञा के अभिप्राय को अच्छी तरह समझ लो और सदा याद रक्खो। धीरे-धीरे भावना प्रत्यक्ष होती जायगी। हतोत्साह तो कभी होना ही नहीं चाहिए। तुमको अपने पुराने संस्कारों से युद्ध करना पड़ेगा। अतः धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो। धैर्य, ध्यान, सहनशक्ति, मन की साम्यता, सावधानी तथादिक गुणों के विकास की चेष्टा करनी चाहिए। यह जान लो कि संकल्पों के विकास के लिए इन गुणों का विकास अनिवार्य है। जिस प्रकार बीज

के बिना वृक्ष नहीं पनपता, उसी प्रकार इन गुणों के बिना संकल्प की उन्नति नहीं हो सकती। ध्यान का भी विकास करो। तीन माह तक संकल्प-साधना करो। इस काल में तुमको आन्तरिक बल का अनुभव होगा और वे कार्य जो कुछ काल पूर्व कठिन प्रतीत होते थे, अब आसानी से किए जा सकेंगे। तुम यह भी अनुभव करोगे कि तुम्हारा मन स्थिर होने लग गया है या हो ही गया है। पहले जो विचार तुम्हारे मन को सहज में ही उद्विग्न कर देते थे, वे अब वैसा नहीं कर पाएंगे। कठिन-से-कठिन कार्य को अब तुम सरलता से कर पाओगे और किसी भी कार्य में शान्ति को निभा सकोगे। अब तुम किसी कार्य को अपने हाथों में लेते हो तो योग्य दीखते हो। तुम्हारी वाणी में शक्ति का आविर्भाव हुआ दीखता है। तुम्हारे व्यक्तित्व में ही परिवर्त्तन आ गया है। तुम्हारी मुस्कान में एक विशेष आकर्षण है। अब बहुत लोग तुम्हारी उपस्थिति में प्रभावुक व्यक्तित्व का अनुभव करते हैं। तुम्हारे मित्रवर्ग तुम्हारे मुखमण्डल पर ज्योति की आभा की उज्ज्वलता की चमक पाते हैं।

मन को स्थिर करने का अभ्यास (एक केन्द्र में लाने का अभ्यास) संकल्प और स्मृति की साधना के साथ-साथ चलना चाहिए। मन की एकाग्रता से साधना में सफलता मिलती है। मन एकाग्र हुए बिना साधना में उन्नति नहीं हो सकती है। हर रोज प्रातःकाल घण्टे आध घण्टे मन को एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए। मन की एकाग्रता के लिए एक आध्यात्मिक आधार की आवश्यकता है। यह याद रखो कि मन को केन्द्रस्थ करने का अभ्यास तुम केवल संकल्प और स्मृति के विकास के लिए ही नहीं करते हो, वरन् ईश्वर-दर्शन

के लिए भी करते हो। वास्तव में ध्येय तो यही है। इसको कभी भी न भूलो। मेरे और दूसरों के अनुशासनों में यही मुख्य भेद है। ब्रह्मचर्य और ईश्वर-दर्शन दोनों कुञ्जियाँ हैं। मैं डङ्के की चोट पर इसी अनुशासन को भिन्न-भिन्न स्थलों में कहा करता हूँ। मैं तुम्हारे संकल्प और स्मृति की उन्नति को तुम्हारे ही जीवन की सफलता और ईश्वर-दर्शन के लिए चाहता हूँ।

अपनी मनोनुकूलता के अनुसार मन को एक केन्द्र पर स्थापित कर दो। भगवान् कृष्ण या भगवान् राम या भगवान् शिव या भगवान् मसीह या भगवान् बुद्ध या भगवान् मुहम्मद—किसी एक की मूर्ति पर अपने मन को स्थिर कर सकते हो। यही एकाग्रता, संकल्प और स्मृति की उन्नति में सहायक होगी। मन की एकाग्रता के अनुभवों का लेखा एक डायरी में लिखते रहो। प्रति-सप्ताह या प्रति-मास डायरी के पिछले पन्नों को दुहराते भी रहो।

चौथी बात है गुणों के विकास की। चरित्र-निर्माण सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन करो, उनसे तुम बहुत प्रकार के गुणों की साधना के तरीकों को सीख सकोगे। जो गुण तुम में अनुपस्थित है उसी की साधना करो। क्रम-क्रम से साहस, दया, विश्वप्रेम, भद्रता, सहिष्णुता, सन्तोष, निष्कपटता और ईमानदारी आदि गुणों की साधना करो। एक-एक महीने के लिए एक-एक गुण के विकास का निश्चय कर लो और उसका क्रमिक विकास करो। धीरे-धीरे वह गुण तुम्हारे चरित्र में ढल जायगा। सच बात तो यह कि जब तुम एक गुण का विकास कर चुकते हो तो बहुत से गुण अपने आप तुम में आ जाएंगे। अगर

तुमने नम्रता और साहस का विकास कर लिया है तो दूसरे सहायक और उप-सहायक अथवा आधारभूत गुण स्वतः प्रत्यक्ष हो कर तुम्हारे चरित्र में साथ-साथ ढल जाएंगे। अनिवार्य रूप से सद्‌गुणों का अभ्यास कम-से-कम आध घण्टे रोज करना चाहिए।

यदि तुम ब्रह्मचर्य और सत्य में स्थिर हो गए तो बहुत से गुण स्वतः तुम में अवतरित हो जाएंगे। विनम्रता, उत्साह, ब्रह्मचर्य, सत्यता—इन चारों गुणों में किसी एक को विकास के लिए चुन लो।

पाँचवीं बात है अवगुणों के अवमूलन की। वैसे तो सद्‌गुणों के विकास से ही दुर्गुणों का मूलोच्छेदन हो जायगा, किन्तु अच्छा यह है कि दुर्गुणों के दमन का सीधा उद्योग किया जाय। उनका दमन हो जाने पर सद्‌गुणों का विकास द्रुत गति से होगा। उस अवस्था में सफलता आसान और निश्चित हो जाती है। अगर तुम कामवासना, क्रोध या अभिमान को हटा सके तो सब अवगुण आप-से-आप लुप्त हो जाएंगे। सभी अवगुण अहङ्कार के सेवक हैं। अगर अहंकार का नाश हो जाय तो सभी सेना भयातुर होकर भाग जायगी। सभी अवगुणों का गर्भ क्रोध है। अगर क्रोध का नाश कर दिया जाय तो सम्भावी अवगुण लापता होते जाएंगे। इसलिए अपनी शक्ति से अहङ्कार और क्रोध के आक्रमण का प्रतिकार करो।

छठवीं बात जो ध्यान में रखने की है, वह है इन्द्रिय-संयम : यदि इन्द्रियाँ उपद्रवी हैं तो मन की एकाग्रता स्थापित नहीं की जा सकती। अतः सावधानी से प्रत्येक इन्द्रिय के कार्य-कलापों का निरीक्षण करते रहो तथा मौन-अभ्यास, उपवास,

त्राटक, ब्रह्मचर्य, प्रत्याहार, अपरिग्रह और दम आदि सुन्दर तरीकों से उसका मार्ग भी अवरुद्ध करते रहो। इन्द्रियों के कारण ही तुम्हारी मनुष्यता वहिर्मुख हो जाती है और इन्द्रियाँ ही मन की गति को अन्तर्मुख नहीं होने देतीं। अतः इन्द्रियों को वश में करने का अर्थ है, मन को वशीभूत करना।

सातवीं बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह है शारीरिक उन्नति। मैं पुनः याद दिलाता हूँ कि शारीरिक उन्नति के बिना कोई भी उन्नति सम्भव नहीं है। अगर तुम्हारी शारीर-प्रकृति पुष्ट और स्वस्थ नहीं तो इस दुनियाँ में कोई सुन्दर कार्य नहीं कर सकोगे। अतः नियमित व्यायामों से अपने शरीर को तेजस्वी वनाए रखो।

आठवीं बात है अपनी दैनन्दिनी रखने की। अगर तुम शीघ्र उन्नति चाहते हो तो अपना रोजनामचा रखो; उसमें अपने पूरे दिन का ब्योरा अङ्कित करो। उस रोजनामचे में जो कुछ अङ्कित किया जाय, वह विवेक और सत्यशीलता से किया जाय। यदि तुम अपने को तत्कथिक साधनों से सुसज्जित कर लो तो संसार के शक्तिशाली सम्राट् बन सकते हो। तुम आरोग्य, धन, आध्यात्मिक सुख और दीर्घायु के आनन्द की प्राप्ति कर सकते हो। मैं विद्यार्थियों के योग्य आसनों को ठीक-ठीक बतलाया करता हूँ, किन्तु अभ्यास की जिम्मेदारी तुम पर निर्भर है। तुमको स्वयं सुचारु रूप से कार्य करना होगा। भूख लगने से तुम्हें ही स्वयं भोजन करना पड़ता है, दूसरे के भोजन करने से तुम्हारी भूख नहीं मिटा करती। प्यास लगने से तुम स्वयं जल पी कर ही प्यास बुझा सकते हो, दूसरे के पीने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा।

अब अमरत्व का अमृत भी स्वयं पियो और आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति करो। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के सौभागी बनो। एक साल तक अभ्यास करते-करते यह सद्गुण तुम्हारे चरित्र में समीकृत हो जाएंगे और तुम्हारा जीवन-निर्माण ही इनके आधार पर होने लगेगा। अतः जब तक पूर्णता की प्राप्ति न हो, इनका अभ्यास करते रहो।

संकल्प की उन्नति

अब एक प्रमुख संस्कृति का नम्बर आता है। विद्यार्थियों को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। इससे उनको अत्यधिक लाभ प्राप्त होगा। आत्मबल को ही संकल्प कहा जाता है। संकल्प शत्रुओं का दमन करने वाली शक्ति है। संकल्प का शुद्ध और अप्रतिहत अभ्यास किया जाय तो अद्भुत कार्य भी सिद्ध कर लिये जा सकते हैं। बलवती इच्छा वाले व्यक्ति के लिये इस संसार में कोई भी प्राप्तव्य असम्भव नहीं है। संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं, जिनको संकल्प, मन और बुद्धि की चेतना का ज्ञान भी नहीं है, यद्यपि वे संकल्प और मन के विषय में खूब तर्क किया करते हैं।

वासना से संकल्प अशुद्ध और निर्बल हो जाता है। एक-एक इच्छा, यदि वश में कर ली गई तो संकल्प बन जाती है। कामशक्ति, मांसलशक्ति, क्रोध आदि शक्तियों पर जब अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है तो वे संकल्प में विलीन हो जाती हैं। इच्छायें जितनी कम हों, संकल्प उतना ही बलवान् होता जाता है।

नेपोलियन् का संकल्प अत्यन्त शक्तिशाली था, इसीलिये उसे युद्धों में आशातीत सफलता मिली। विश्वामित्र के संकल्प

में शक्ति थी और इसीलिये वे त्रिशङ्कु के लिये तीसरे लोक की रचना कर सके थे। दत्तात्रेय की इच्छा-शक्ति प्रबल रहने के कारण ही एक नारी की सृष्टि सम्भव हुई। सम्स् तेब्रीज् का संकल्प अत्यन्त तेजस्वी था। ज्ञानदेव का संकल्प भी तेजस्वी था। सभी ज्ञानी और योगीजनों का संकल्प शक्तिमान् हुआ करता है, तभी वे आश्चर्यजनक कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य की तेजस्विता पर संकल्पों का तेज निर्भर है। ब्रह्मचर्य में स्थित हुये बिना संकल्प की साधना में उन्नति नहीं की जा सकती। सच कहा जाय तो ब्रह्मचर्य के तेज का ही दूसरा नाम संकल्प है। प्रत्येक वीर्य-विन्दु में अमित शक्ति है, जिसमें चुम्बकीय आकर्षण रहता है। अतः विन्दु-संयम से शक्ति का संयम और विन्दु-पतन से शक्ति का ही पतन हुआ करता है।

ज्ञानी पुरुष जो कुछ सोचते हैं, वह शुद्ध संकल्प है—वही सत्संकल्प है। सत्संकल्प की शक्ति के कारण वे किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक कर सकते हैं। योगी या ज्ञानी सत्संकल्प के वल से ही निर्माणात्मक कार्यों को किया करते हैं। शिखिध्वज की पत्नी चुड़ालाई ने किस प्रकार अपने कार्य की सम्पूर्त्ति के लिये संकल्प-वल का आश्रय लिया था, सवको विदित है।

संकल्पोन्नति के लिए नियम

प्रातःकाल चार बजे उठो और आसन लगा कर ध्यान करो तथा इन संकल्पों का आवाहन करो :—

(१) मेरा संकल्प शुद्ध, तेजस्वी और अप्रतिहत है। ॐ ॐ ॐ।

(२) संकल्प से मैं किसी भी कार्य को कर सकता हूँ।
ॐ ॐ ॐ।

(३) मेरा संकल्प सत्य है और अजेय।
ॐ ॐ ॐ।

अमर आत्मा पर ध्यान करने से संकल्प का विकास होता है। यह नियम सब से अच्छा है। अपने संकल्पों का दुरुपयोग न करो, अन्यथा महान् पतन के आगार में जा गिरोगे। आरम्भ में अपने संकल्प की परीक्षा न लो। जब तक संकल्प शक्तिमय और तेजस्वी नहीं हो जाते, प्रतीक्षा करते रहो।

मनुष्य के अन्दर जितने प्रकार के मानसिक बल हैं, संकल्प-बल उन सब का राजा है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान से शक्तिमय हो जाने से संकल्प का प्रतिपादन होता है और हमारी सभी शक्तियों— निर्णय शक्ति, स्मृति शक्ति, प्रज्ञा, साधारण शक्ति, तर्क शक्ति, विवेक शक्ति, अनुमान शक्ति, प्रतिभिज्ञा शक्ति तथादि सभी शक्तियों का विकास पलक मारते ही होने लगता है। तदनन्तर वे अपने स्वामी—संकल्प महोदय के सहायक बन कर उसके कार्य में सहायता देने आते हैं। अर्थात् संकल्प-बल पर जिन-जिन शक्तियों का विकास किया जाता है, वे शक्तियाँ ही बाद में संकल्प-शक्ति की सहायिका बन जाती हैं।

संकल्प-व्यवहार किस प्रकार हो ?

यदि संकल्प के विकास में विलम्ब हो तो दुःखित और चिन्तित नहीं होना चाहिए। किसी-न-किसी दिन संकल्प तुम्हारी सब इच्छाओं की पूर्त्ति करेगा ही। जिस दिन संकल्प

का आविर्भाव होगा, तुम केवल इच्छामात्र से दूसरों के दुःखों को दूर कर सकोगे।

इसका एक प्रयोग है। इच्छा करो कि रोगी उस रोग से मुक्त हो जाय। होते-होते यह इच्छा सचमुच में घट जायगी। तुम ही वास्तव में चकित हो जाओगे। संकल्प करते ही शारीरिक व्याधियों का निवारण किया जा सकेगा।

ध्यानपूर्वक और निश्चयपरायण बुद्धि से संकल्प करो—'मैं श्रीनिवास को ८ बजे सुबह मिलूँगा।' तुम्हें आश्चर्य होगा कि वह व्यक्ति प्रातःकाल ही तुम्हारे पास आ चुकेगा। इस प्रकार संकल्प को अपना हितैषी और आज्ञाकारी बन्धु बनाया जा सकता है। तुम जो कुछ सुन्दर और उचित चाहोगे, वह सब संकल्प बल से ही तुमको प्राप्त हो जायगा।

शान्तिपूर्वक और दृढ़ता के साथ संकल्प करो कि 'मैं उस नौकरी को जरूर प्राप्त करूँगा।' देखिये, तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी। यदि विलम्ब हो तो संकल्प का प्रयोग पुनः करो। हाँ, यह है कि प्रारम्भ में संकल्प के प्रयोग में कुछ कठिनाई अवश्य अनुभूत होगी ; क्योंकि तुम्हें इसका अभ्यास नहीं है और न इसमें तुम सफल ही हुए हो। पर अभ्यास करते-करते जब तुम युक्ति और पद्धति को समझते जाओगे, संकल्प का प्रयोग भी देखते-देखते हो जायगा और प्रकाम्य वस्तु की प्राप्ति पलक मारते ही हो जायगी।

संकल्प की तेजस्विता, पवित्रता और व्यापकता पर ही ब्रह्म-दर्शन निर्भर है। अभ्यास से तुम पूर्णता प्राप्त करोगे और अनुभव से तुमको नवीन प्रयोगात्मक शिक्षा मिलेगी।

एक बात जानने योग्य है। अपने संकल्पों के प्रयोग में तुम्हें बहुत सावधान रहना होगा। संकल्प-शक्ति को महान् आध्यात्मिक सफलताओं की प्राप्ति के लिये, निश्चयरूपतः सुरक्षित रखना ही बुद्धिमानी है। सांसारिक सफलता के लिये शक्ति का प्रयोग करना मूर्खता होगी। यह जीवन, जिसके लिए तुम इस महान् शक्ति का प्रयोग करते हो, केवल एक बुलबुला है, केवल दीर्घ-स्वप्न के समान है। ऐसे संसार की सफलतायें तुम्हें नित्य शान्ति और चिरसुख नहीं दे सकेंगी। यदि विश्वास नहीं है तो अपने संकल्पों का प्रयोग एक या दो सांसारिक सफलताओं के लिये करके देखो। तव तुम स्वयं समझ जाओगे और तभी तुमको इस महान् शक्ति की उपयोगिता का पता चलेगा। अतः अपने संकल्पों का प्रयोग आत्म-साक्षात्कार के लिए करो। सांसारिक सफलताओं को ठुकरा कर अलग रख दो। इनका मूल्य ही क्या? खर या काक की विष्ठा के समान ही यह त्याज्य हैं। वैभवशाली सांसारिक वनने के वदले आत्मज्ञानी और राजयोगी बन जाओ। तभी तुम नित्य-तृप्त हो सकोगे। तभी तुम त्रिलोकी के सम्राट् से भी महान् अधिकार—ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकोगे। इस प्रकार तुम्हारी सभी इच्छायें महान् संकल्प में समाश्रित होती जायेंगी। तुम आप्तकाम हो सकोगे। क्या यह वस्तुतः एक ऊँची अवस्था नहीं है?

इच्छा-शक्ति की साधना

ध्यान का नियमित अभ्यास, घृणा, अप्रसन्नता और चिड़-चिड़ापन का दमन, विपत्तियों में धीरता, तपस्या, उपवास, प्रकृति-विजय, तितिक्षा, दृढ़ता, सत्याग्रह तथा दैनन्दिनी

रखना—यह सब संकल्प के विकास को सुलभ बनाते हैं। मनुष्य को चाहिए, वह दूसरों की बातों को भी ध्यानपूर्वक सुने, यद्यपि वे बातें दिलचस्प और मनोनीत न हों। क्रोध के कारण अधीरता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। धैर्यपूर्वक सब की बातें सुननी चाहिए, तभी दूसरे के हृदय को जीता जा सकता है। जो काम तुम्हें अच्छा न लगे, यदि दूसरे उसे चाहते हों तो करना चाहिए। इससे संकल्प का विकास होता है। आरम्भ में वे काम तुम्हें दिलचस्प नहीं लगेंगे, किन्तु कुछ दिनों के अनन्तर उनमें से नवीन आनन्द बरसने लगता है।

विषम परिस्थितियों की शिकायत मत करो। जहाँ कहीं तुम रहो और जहाँ कहीं तुम जाओ, अपने लिए अनुकूल मानसिक जगत् का निर्माण करो। जहाँ कहीं तुम जाओगे, वहाँ कठिनाइयाँ और हानियाँ अवश्य मिलेंगी ही; तुम उनका निवारण तभी कर सकते हो, जब तुम्हारा मानसिक जगत् एकदम अप्रभावित हो। विषम परिस्थितियों में रह कर जो मनुष्य अपने को शान्त, दृढ़ और संयमी बनाए रखता है, वही सफलता के सही अर्थ को स्पष्ट करता है।

सुख और सुविधाओं के पाने से तुम मजबूत नहीं बन सकोगे। तुम्हारा मन निर्बल और परिस्थितिओं का दास बन जायगा। अतः सभी स्थानों का सदुपयोग करो। "यह जगह ऐसी है, वह ऐसा है—" इत्यादि इत्यादि शिकायतें करने की आदत त्याग दो। वातावरण, परिस्थिति या घिराव या स्थान के स्वभाव में कुछ नहीं; यह केवल अपने मन की अवस्था का प्रतिबिम्ब है। यदि तुम्हारे मन में शान्ति है, सरलता और पवित्रता है तो तुम किसी भी स्थान में एक ही प्रकार का महान् आनन्द

अनुभूत करोगे, इसमें सन्देह नहीं। अतः हर स्थान में अपने लिए नवीन और अनुकूल मानसिक जगत् का निर्माण करो। किसी भी वस्तु से मन को उद्विग्न न होने दो। सच पूछो तो तुम गङ्गोत्री के निकट—हिमालय के प्रदेश में भी राग-द्वेष पाओगे। तुम संसार के किसी भी हिस्से में एक आदर्श स्थान या अनुकूल परिस्थिति नहीं पा सकोगे। काश्मीर शीतप्रधान सुन्दर प्रदेश है, लेकिन पिस्सू के कारण तुम तङ्ग आ जाओगे, सोना मुश्किल हो जायगा। बनारस संस्कृत-विद्या का महान् केन्द्र है, लेकिन गरमी की ऋतु में यह स्थान गरम हवा के लिए प्रसिद्ध है। हिमालय में उत्तरकाशी सुन्दर स्थान है, लेकिन तुम वहाँ तरकारी या फल नहीं पा सकते। इसी प्रकार यह संसार सुन्दर और असुन्दर, अनुकूल और प्रतिकूल का मिश्रण है— इसे हर समय याद रखो। किसी स्थान में और किसी भी अवस्था में अपने को प्रसन्न रखने की चेष्टा करो। तुम्हारे व्यक्तित्व में इससे बल और तेज उतरेगा। यह एक महान् रहस्य है। इसे अपने हृदय में रखो और ऐसे स्थान को खोजो, जिसमें अनहत प्रसन्नता है, अनन्त धन है, शाश्वत सुखदायक निवास है। तुम किसी भी कार्य में सफल वनोगे और किसी भी कठिनाई पर विजय की प्राप्ति कर सकोगे।

मन की एकाग्रता का अभ्यास संकल्प की उन्नति में अति-सहायक है। मन का क्या स्वभाव है; इसका अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लो। मन किस तरह इधर-उधर घूमता है और किस तरह अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया करता है—यह सब अच्छी तरह सोच समझ कर हृदय में रखना चाहिए। मन के चलायमान् स्वभाव को वश में करने के लिए आसन और प्रभावशाली तरीकों को खोज

निकालना होगा। संकल्प की उन्नति, मन की एकाग्रता का अभ्यास, स्मृति का विकासाभ्यास आदि सभी प्रयोग एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। इन सबका व्यवहार संकल्पोन्नति में सहायता देता है।

कहाँ एकाग्रता के अभ्यास या स्मृति के विकास की समाप्ति होती है और कहाँ से संकल्प का विकास आरम्भ होता है? इसकी सीमान्त-रेखा नहीं खींची जा सकती। कोई सीमित नियम नहीं हैं। हाँ, मन की एकाग्रता के अन्य नियमों को जानने के लिए मन की यात्रा पर रोक थाम रखो।

मिस्टर ग्लेडस्टोन ज्योंही बिछावन पर जाते थे, उनको गहरी निद्रा आ जाया करती थी। महात्मा गान्धी जी को भी यही अभ्यास था, वे जब चाहते तभी उठ सकते थे। उन्होंने अपने अतिचेतन मन को इस प्रकार शिक्षित किया था कि वह उनकी आज्ञाओं का पालन तत्पर हो कर किया करता था। अतिचेतन मन निरन्तर अभ्यास से आज्ञा का तत्पर-पालन किया करता है। तुमने भी इस प्रकार का अभ्यास करना होगा। प्राय: देखा गया है कि लोग बिछावन पर करवट बदलते-बदलते रात काट देते है, उनको निद्रा नहीं आती। जहाँ मनुष्य को एक घण्टे की गहरी निद्रा आई कि वह निद्रा के पूरे विश्राम को पा लेता है और मन की शिथिल शक्ति पुन: जागृत और कार्यरत हो जाया करती है।

तुम जिस क्षण बिछावन पर जाते हो, मन को स्वतन्त्र छोड़ दो और यह विचार करो, 'हमें अच्छी तरह निद्रा आवेगी।' अन्य किसी भी प्रकार के विचार न करो। यही

आदत नेपोलियन को भी थी। लड़ाई के मैदान में, जहाँ जोर से रण के मारू बजते थे, नेपोलियन स्वेच्छानुसार अश्व की पीठ पर ही निद्रा ले लेता था और इच्छानुसार ही जाग जाया करता था और तुरन्त ही नवीन बल पा कर रण में प्रविष्ट होता था। तुम भी अपने को इस प्रकार अभ्यस्त करो कि किसी भी विषम स्थिति में स्वेच्छानुसार सो सको और जाग भी जाओ।

डाक्टरों, वकीलों और व्यापारीवर्ग के लिए इच्छाशक्ति का अत्यन्त महत्व है। आज जीवन इतना विशाल और पेचीदा हो गया है कि उद्योगी लोग सोने के लिए पर्याप्त और उचित समय नहीं पा सकते हैं। जब कभी पाँच मिनट के लिए अवकाश प्राप्त हो, उन्हें एक स्थान पर कुछ देर के लिए आँखें बन्द कर निद्रा देवी की गोद में विश्राम लेना चाहिए। उनको इस निद्रा से पर्याप्त और प्रेरक विश्राम मिलेगा। तत्परतः वे अपने आगे के कार्यक्रम को सुस्थिर-चित्त हो, कर सकेंगे। उद्योगी लोगों के लिए इस प्रकार का अभ्यास वरदान के समान है। उन लोगों की नसों में तनाव और गुरुता आ जाती है। इस अभ्यास से वे अपने शरीर को विश्राम देने के लिए ढीला छोड़ सकते हैं। यदि इसका अभ्यास किया गया तो इसमें अनेकों आश्चर्य निहित मिलेंगे।

डा० एनी विसेण्ट चलती मोटर में सम्पादकीय नोट लिख लिया करती थीं। आजकल बहुत से उद्योगी वैद्य हैं, जो स्नानागार में समाचार पत्र देख लेते हैं। उनका मन सदा विचारशील रहता है। शारीरिक और मानसिक ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये मन को सदा काम में लगाए रखना चाहिए।

जो शक्तिशाली और विलक्षण व्यक्तित्वशाली मनुष्य बनना चाहते हैं, उन्हें अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग महान् कार्यों में करना चाहिए और मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। व्यर्थ की बातचीत सदा के लिए त्याग देनी चाहिए। प्रत्येक को समय के मूल्य का ज्ञान होना चाहिए। संकल्प में तेज तभी निखरने लगेगा, जब समय का उचित उपयोग किया जाय। व्यवहार और दृढ़ता, लगन और ध्यान, धैर्य और अप्रतिहत प्रयत्न, विश्वास और स्वावलम्बन मनुष्य को ख्यातिमान् बना देते हैं।

योग्यता और संकल्प

अपने संकल्पों का व्यवहार योग्यतानुसार करना चाहिए, अन्यथा संकल्प क्षीण हो जायगा; तुम हतोत्साह हो जाओगे। अपना दैनिक नियम अथवा कार्य-व्यवस्था अपनी योग्यता के अनुसार बना लो और उसका सम्पालन नित्यप्रति सावधानी से करो। अपने कार्यक्रम में पहिले-पहल कुछ ही विषयों को सम्मिलित करो। यदि तुम अपने कार्यक्रम को अनेकों विषयों से भर दोगे तो न उसे निभा सकोगे और न लगन के साथ दिलचस्पी ही ले सकोगे। तुम्हारा उत्साह कम होता जायगा। शक्ति तितर-वितर हो जायगी। मस्तिष्क में शिथिलता का आभास होगा। अतः तुमने जो कुछ करने का निश्चय किया है, उसका अक्षरशः पालन प्रतिदिन किया जाना चाहिए।

विचारों की अधिकता संकल्पित कार्यों की सफलता में बाधा पहुँचाती है। इससे भ्रान्ति, संशय और दीर्घ-सूत्रिता

का उदय होता है। संकल्प की तेजस्विता में ढीलापन आ जाता है। अवसर हाथ से चले जाते हैं। कभी-कभी तो यह भी हो जाता है कि तुम किसी कार्य को हाथ में लेने से हिचकिचा जाते हो। अतः आवश्यक है कि कुछ समय के लिए विचार करो और तभी निर्णय करो। ज्यों ही मन में विचार आवें त्यों ही संकल्प करना आरम्भ कर देना चाहिए। कभी-कभी सोचते तो हो, पर कर नहीं पाते हो। उचित विचार और उचित अनुभवों के अभाव में ही यह हुआ करता है। अतः उचित रीति से सोचना चाहिए और उचित अनुभव ही करने चाहिए, तभी संकल्प की सफलता अनिवार्य है। उचित विचार और सत्य अनुभव सदा आपके साथ-साथ चला करेंगे।

इच्छा और संकल्प

भगवदिच्छा सर्वशक्तिमान् है। ईश्वर का संकल्प हुआ कि तत्क्षण ही कार्य का सम्पादन हो जाता है। मनुष्य संकल्प करता है, पर उसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने या कार्य के पूर्ण होने में देर लग जाती है। इसका कारण क्या है? संकल्प की कमजोरी ही। मनुष्य सोचता है, संकल्प करता है और धीरे-धीरे उस वस्तु को कुछ काल के अन्दर प्राप्त कर लेता है। मनुष्य निर्माण भी करता है। यदि संकल्प शुद्ध और बलवान् है तो पदार्थ की प्राप्ति अथवा कार्य की सफलता तत्क्षण में ही प्राप्त की जा सकती है।

किन्तु केवल संकल्प ही किसी वस्तु की प्राप्ति में सफल नहीं होता है। संकल्प के साथ निश्चित उद्देश्य को भी जोड़ना

होगा। इच्छा या कामना तो मानस-सरोवर में एक छोटी लहर सी है, लेकिन संकल्प वह शक्ति है, जो इच्छा को कार्य-रूप में परिणत कर देती है। इच्छा का कार्यान्वित होना संकल्प पर निर्भर है।

इच्छा और संकल्प का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। इच्छा किसी प्रकार की समृद्धि को प्राप्त करने की कामना है, जबकि संकल्प निश्चय करने की शक्ति है, जिसके पीछे किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति का ध्येय नहीं रहता। इच्छा वासना है, जो मन से सम्बन्ध रखती है; जबकि संकल्प नियम है और आत्मा के व्यक्त गुणों का लक्षण है। यह विश्व चैतन्य है—यह ईश्वर का संकल्प हुआ। जव आत्मा अपने चारों ओर के पदार्थों के आकर्षण और विकर्षण से अप्रभावित हो कर अपना कार्य निर्धारित करता है तो संकल्प प्रकट होता है। जव बाहरी आकर्षण और विकर्षण कार्य का निर्धारण करते हैं तथा मनुष्य आत्मा की आवाज को न सुन कर या आन्तरिक आदेश को न पहिचान कर, इन सबसे विमुख हो जाता है, तब इच्छा प्रगट होती है।

स्वतन्त्र संकल्प

मनुष्य जिन-जिन पदार्थों की कामना करता है, सोचता है और जिनके लिए वह काम करता है, उनसे अलग हो जाने का प्रयत्न भी करता रहे। यह समझना चाहिए कि यह सभी विषय आत्मा से तदात्म्य नहीं हैं। इस प्रकार जो इच्छायें निम्नतमा इच्छाओं के कारण बाहरी वस्तुओं की ओर उन्मुख हुई थीं, मन के तत्त्वाधान में संकल्प का रूप धारण कर लेती

हैं और उच्च मन ही बुद्धि का रूप धारण कर लेता है। चूँकि निम्नतर-मन उच्चतर-मन का और उच्चतर-मन ही बुद्धि का रूप धारण कर लेता है, अतः शुद्ध-संकल्प परम संकल्प में आत्म-शासित हो जाता है। केवल इसी अवस्था में बन्धन टूट जाते हैं और उत्साह-शक्ति अनवरुद्ध हो जाती है। तभी कहा जाता है कि 'संकल्प स्वतन्त्र हो चुके हैं।'

मन को शान्त और सन्तुलित रखो

जो मनुष्य संकल्प-विकास की चेष्टा कर रहा है, उसे सदा मस्तिष्क शान्त रखना चाहिये। सभी परिस्थितियों में अपने मन का सन्तुलन कायम रखना चाहिए। मन को शिष्टाचार की शिक्षा देनी चाहिये। यह अभ्यास करने की बात है। मन का सन्तुलन हुआ तो पहुँचे हुए ज्ञानी या योगी के लक्षणों का आभास प्रत्यक्ष होता है। जो अपने मन को सदा सन्तुलित रखता है, वास्तव में वह सुखी व्यक्ति और सिद्ध योगी है। वह सभी कार्यों में आशातीत सफलता प्राप्त करेगा।

मन को सन्तुलित करने के लिए तुम पचासों चेष्टाओं में असफल होते रहोगे, किन्तु धैर्य न खोना। इकावनवीं चेष्टा से तुम मन को सन्तुलित करने में सफल बन सकोगे। संकल्प को बल प्राप्त होगा। आरम्भ में असफलताओं के बावजूद भी हतोत्साह नहीं होना चाहिये। वीर पुरुष मकड़ी से भी शिक्षा ग्रहण किया करते हैं। सात बार युद्ध में हार जाने पर भी आठवीं बार वे प्रयत्न करते रहने पर, विजयी बनते हैं।

भयानक संकट के आने पर भी मन का सन्तुलन नहीं खोना चाहिये, मन की वृत्ति में नीचता नहीं आनी चाहिये। मन को शान्त और उत्साही रखो। बहे हुए दूध पर चिल्लाने से क्या लाभ? घटना घट चुकी है। हँस-हँस कर विफलताओं का प्रतिकार करना होगा।

जो कुछ भी तुम करते हो, अच्छे ढंग से करो। याद रखो कि जो स्वस्थ नहीं, उसे रोग का आघात सहना ही पड़ेगा। कठिनाइयों को उड़ा देने के तरीके खोज निकालो। मन को कभी भी उद्विग्न न होने दो। भावनाओं की प्रचुरता और बुलबुले के समान उठने वाली उत्तेजनाओं के प्रवाह में बह न जाओ। उनको वश में करो। आखिर संकट आया क्यों, यह झंझट बरसी कैसे—इस पर मनन करो और भविष्य में सावधानी से काम करो। परिस्थितियों पर विजय पाने के लिये अनेकों प्रभावशाली और आसान तरीके हैं, उन्हें सीखो।

विवेकी बनो और दूरदर्शी भी। इस प्रकार विपत्तियों और दुर्घटनाओं पर विजय पाई जा सकती है। विफलताओं, दोषों और गलतियों पर ध्यान रखते हुए भी उनमें लीन न हो जाओ। ज्यों-ज्यों तुम्हारा संकल्प दिन-प्रतिदिन शुद्धतर और महत्तर होता जायगा, त्यों-त्यों सभी अवगुण स्वतः ही हटते जायेंगे।

समय मिलने पर यह विचार अवश्य करो कि तुम क्यों असफल हो रहे हो। कारण खोज कर दूसरी बार चेष्टा करो और सावधानी से आगे बढ़ो। जिन कारणों से पहली बार असफलता मिली थी, उनका निराकरण करो—अलग हटाओ। अपने को स्थिरचित्त रखो, सदा सावधान रहो, फुर्तीले और

कुशल बनो। तेजस्वी होते हुए भी सुकर्म के योग्य होना चाहिये। तेजस्विता का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिये।

सदा सतर्क रहो

कभी-कभी व्यावहारिक कठिनाइयाँ द्विविधा (दुविधा) में डाल देती हैं। तुम्हें हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिये। हिम्मत न हारो, बल्कि अपनी बुद्धि का उपयोग करो। चतुर तरीकों और सफल योजनाओं का आविष्कार करो। अपनी आन्तरिक शक्तियों और जागृतीभूत तेजस्विता को काम में लाओ। जब घर में आग लग जाती है तो तुम कितनी फुर्ती से काम पर जुट जाते हो। किस प्रकार और कहाँ से यह दृढ़ता और स्फूर्ति आई? पता नहीं चलता कि कहाँ से वह तेज और वह बल आया था। उस समय तुम्हें अन्येतर व्यापार अनुभूत नहीं होते, तुम्हारा चित्त एकाग्र हो जाता है। ततः तुम सुन्दर व्यवस्थापूर्वक कार्य करने लग जाते हो और इस प्रकार जायदाद और तथादिक वस्तुओं की यथासम्भव रक्षा कर पाते हो। जब बला टल जाती है तो कहते हो कि 'ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति उस समय मेरे अन्दर कार्य कर रही थी।' समय का निरर्थक प्रयोग न करो। जब एक बार कार्य का निश्चय कर लिया है तो दक्षतापूर्वक उसका सम्पादन करो। दीर्घसूत्रिता समय का नाश कर देती है। दीर्घसूत्री व्यक्ति इस लोक और परलोक में कभी भी सफल नहीं हो पाता है।

संकल्पोन्नति के पूर्व लक्षण

अनुद्विग्न मन, समभार, प्रसन्नता, आन्तरिक बल, कठिन कार्य-सम्पादन की क्षमता, प्रभावुक व्यक्तित्व, शान्ति, ओजपूर्ण

मुखमण्डल, चमकती आँखें, सतर्क दृष्टि, स्पष्ट स्वर, सरल चरित्र, दृढ़ स्वभाव और निडरता—तथादि लक्षणों से पता चलता है कि संकल्पोन्नति हो रही है।

निपुण बनो

गीता में भगवान् ने द्वादशाध्याय के सोलहवें श्लोक में कहा है कि 'तुम्हें दक्ष हो जाना चाहिए।' जब कभी तुम उभय-संभव तर्क में पड़ जाते हो तो यही दक्षता तुम्हारा मार्ग निश्चित कर देती है, जिससे तुम सीधी सफलता प्राप्त कर सकते हो। इसके लिए बुद्धि अति सूक्ष्म रहनी चाहिए और कुशाग्र भी। प्राचीन काल में क्षत्रिय राजागण युद्धकाल में कितने फुर्तीले और निपुण रहते थे। शिवाजी और नेपोलियन में यह गुण प्रचुरता से था।

धैर्य और दृढ़ लगन

विकट परिस्थितियों पर विजय पाने और सफल बनने के लिए दृढ़ लगन और अनहत धैर्य की आवश्यकता है। धृति और मानसिक साम्य संकल्पोन्नति में सहायक होते हैं।

साधारण सी घटना से विचलित नहीं होना चाहिए और न बात-बात में धैर्य का त्याग ही करना चाहिए। विपत्तिकाल में धैर्य धारण करना चाहिए। कहा है कि समुद्र में—विशाल सागर के मध्य, पोत के डूब जाने पर भी, पोतस्थ नाविक और यात्री तैर कर तट पर पहुँचने की आशा करते हैं। जिस व्यक्ति में धैर्य नहीं, वह जल्दबाज भी होता है और बात-बात में हताश, निराश और स्वभावतः विफल भी हो जाता है।

कुशल बनो। तेजस्वी होते हुए भी सुकर्म के योग्य होना चाहिये। तेजस्विता का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिये।

सदा सतर्क रहो

कभी-कभी व्यावहारिक कठिनाइयाँ द्विविधा (दुविधा) में डाल देती हैं। तुम्हें हतोत्साह नहीं हो जाना चाहिये। हिम्मत न हारो, बल्कि अपनी बुद्धि का उपयोग करो। चतुर तरीकों और सफल योजनाओं का आविष्कार करो। अपनी आन्तरिक शक्तियों और जागृतीभूत तेजस्विता को काम में लाओ। जब घर में आग लग जाती है तो तुम कितनी फुर्ती से काम पर जुट जाते हो। किस प्रकार और कहाँ से यह दृढ़ता और स्फूर्ति आई? पता नहीं चलता कि कहाँ से वह तेज और वह बल आया था। उस समय तुम्हें अन्येतर व्यापार अनुभूत नहीं होते, तुम्हारा चित्त एकाग्र हो जाता है। ततः तुम सुन्दर व्यवस्थापूर्वक कार्य करने लग जाते हो और इस प्रकार जायदाद और तथादिक वस्तुओं की यथासम्भव रक्षा कर पाते हो। जब बला टल जाती है तो कहते हो कि 'ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति उस समय मेरे अन्दर कार्य कर रही थी।' समय का निरर्थक प्रयोग न करो। जब एक बार कार्य का निश्चय कर लिया है तो दक्षतापूर्वक उसका सम्पादन करो। दीर्घसूत्रिता समय का नाश कर देती है। दीर्घसूत्री व्यक्ति इस लोक और परलोक में कभी भी सफल नहीं हो पाता है।

संकल्पोन्नति के पूर्व लक्षण

अनुद्विग्न मन, समभार, प्रसन्नता, आन्तरिक बल, कठिन कार्य-सम्पादन की क्षमता, प्रभावुक व्यक्तित्व, शान्ति, ओजपूर्ण

मुखमण्डल, चमकती आँखें, सतर्क दृष्टि, स्पष्ट स्वर, सरल चरित्र, दृढ़ स्वभाव और निडरता—तथादि लक्षणों से पता चलता है कि संकल्पोन्नति हो रही है।

निपुण बनो

गीता में भगवान् ने द्वादशाध्याय के सोलहवें श्लोक में कहा है कि 'तुम्हें दक्ष हो जाना चाहिए।' जब कभी तुम उभय-संभव तर्क में पड़ जाते हो तो यही दक्षता तुम्हारा मार्ग निश्चित कर देती है, जिससे तुम सीधी सफलता प्राप्त कर सकते हो। इसके लिए बुद्धि अति सूक्ष्म रहनी चाहिए और कुशाग्र भी। प्राचीन काल में क्षत्रिय राजागण युद्धकाल में कितने फुर्तीले और निपुण रहते थे। शिवाजी और नेपोलियन में यह गुण प्रचुरता से था।

धैर्य और दृढ़ लगन

विकट परिस्थितियों पर विजय पाने और सफल बनने के लिए दृढ़ लगन और अनहत धैर्य की आवश्यकता है। धृति और मानसिक साम्य संकल्पोन्नति में सहायक होते हैं।

साधारण सी घटना से विचलित नहीं होना चाहिए और न बात-बात में धैर्य का त्याग ही करना चाहिए। विपत्तिकाल में धैर्य धारण करना चाहिए। कहा है कि समुद्र में—विशाल सागर के मध्य, पोत के डूब जाने पर भी, पोतस्थ नाविक और यात्री तैर कर तट पर पहुँचने की आशा करते हैं। जिस व्यक्ति में धैर्य नहीं, वह जल्दबाज भी होता है और बात-बात में हताश, निराश और स्वभावतः विफल भी हो जाता है।

एक निश्चित लक्ष्य हो जीवन का

बहुसंख्यक लोगों का, यहाँ तक कि शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्तियों का भी जीवन में कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। फल यह होता है कि वे लोग इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं; जैसे समुद्र में एक लकड़ी का कुन्दा चपल लहरों के साथ निरवलम्ब इधर-उधर भटकता है। आज के जनसमुदाय को अपने कर्तव्य का यथार्थ ज्ञान नहीं है। बहुत से विद्यार्थी अपनी बी० ए० और एम० ए० की पढ़ाई खतम कर लेते हैं; पर आगे क्या करना होगा, इसका उन्हें पता नहीं रहता। अपनी प्रकृति के अनुसार किसी अच्छे उद्यम को चुनने की शक्ति उनमें नहीं है, जिससे वे जीवन को किसी आधार पर खड़ा तो कर सकें। अतः वे आलसी बन जाते हैं और साहस के कार्य या किसी कार्य को, जिसमें कुशलता, चतुराई और कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता है, करने में अयोग्य सिद्ध होते हैं।

इस तरह उनका समय बरबाद होता जाता है। और सारा जीवन उदासी, निराशा और दुःख में बीत जाता है। उनके पास शक्ति है, बुद्धि भी है, पर कोई निश्चित लक्ष्य या ध्येय नहीं और न जीवन का कोई कार्यक्रम ही। इसलिए उनका जीवन असफलता का प्रतीक बन जाता है। प्रत्येक को प्रथमतः अपने जीवन के लक्ष्य का उचित ज्ञान होना चाहिए। उसके बाद कार्य करने का एक ऐसा ढंग निकालना चाहिए, जो अपने ध्येय की सफलता के अनुकूल हो।

लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कड़ी मेहनत तो जरूर करनी होगी, साथ-साथ अपना आदर्श भी निश्चित होना चाहिए और

जीवन में हर क्षण उसी आदर्श के अनुसार कर्म करना चाहिए। लड़खड़ाते पग से दस साल बाद भी या अभी ही तथा इसीं क्षण तुम अपने लक्ष्य को ठीक तौर से समझ सकोगे, यह कोई बड़ी बात नहीं ; किन्तु अपना एक आदर्श और ध्येय अवश्य होना चाहिए। तभी संकल्प का विकास किया जा सकता है।

जब व्यक्ति ने सफलतापूर्वक अपने द्वितीय आश्रम (गृहस्थ आश्रम) को निबाह लिया है, जब उसके सभी लड़के जीवन में दक्ष हो चुके हैं, जब उसकी लड़कियों का विवाह भी हो चुका है तब उसके जीवन के अवशेष भाग को भागवत-आचार, धर्म पुस्तकों के अध्ययन और ध्यान में व्यतीत करना चाहिए। पर ऐसा होता ही कहाँ है ? बहुत से लोगों को तो इसका विचार तक नहीं आता कि वे क्या करने जा रहे हैं। प्रथम नौकरी से अवकाश मिलते ही वे दूसरी नौकरी पकड़ लेते हैं। उनमें लालच यथावत् वर्तमान रहता है। यहाँ तक कि वे जीवन के अन्तिम क्षणों तक रूपयों को ही गिनते रहते हैं; पोतों और परपोतों के विषय में ही सोचते रहते हैं। ऐसे लोगों के भाग्य को क्या कहा जाय ? वे सचमुच दयनीय हैं। सुखी है वह, जो चाकरी से अवकाश पाते ही, अपना सारा समय धर्म-कर्म में व्यतीत करने लगता है।

पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृति के प्रयोग

हिन्दू-संस्कृति पौर्वात्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। हिन्दू साधुओं और ऋषियों की पूर्वीय संस्कृति और पाश्चात्य देशों की मनमोहक संस्कृति की रीतियों में आसमान और जमीन का अन्तर पड़ जाता है। मुख्य भेद यही है कि पाश्चात्य

देशों में लोग अपने संकल्प और स्मृति को भौतिक विकास और सांसारिक उन्नति के हेतु प्रयुक्त करते हैं। उन्होंने सामान्यतः परा-जीवन की तो अवहेलना ही कर दी है। यह उन लोगों की महान् भूल है। परन्तु भारत के योगीजन अपनी स्मृति और संकल्प शक्ति को आध्यात्मिक उन्नति के लिये शिक्षित करते हैं। उनका लक्ष्य सदा आत्म-साक्षात्कार ही हुआ करता है। आत्म-विषयक सिद्धियों का प्रकाशन अथवा प्रदर्शन, वे केवल अपने विद्यार्थियों को इस विषय की शिक्षा देने के लिये ही करते हैं। उस प्रदर्शन का अर्थ होता है कि 'इस इन्द्रिय-जन्य सुख से बढ़ कर महान् सुख आत्मनिष्ठ जीवन में है, जहाँ सच्चा आनन्द और अमरत्व प्राप्त होते हैं।'

उनका कथन है कि 'अमरत्व की प्राप्ति न तो कर्म से, न धन से और न सन्तति से—एकमात्र त्याग से हो सकती है। सच्चा सुख भूमा या निस्सीम या अनन्त में है। संसार के नश्वर पदार्थों में सुख नहीं है। वास्तविक और अनन्त शान्ति केवल ब्रह्म में ही है। उस पूर्ण की खोज और उसका ज्ञान अवश्य होना चाहिये।' उनकी यही शासनावली हमारे कानों में सदा गूँजती आ रही है।

अतः पाश्चात्यों ने आध्यात्मिक संस्कृति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये और किसी भी संस्कृति के आध्यात्मिक आधारों को तो भूलना ही नहीं चाहिये। भौतिक उन्नति की प्राप्ति तो कुछ सीमा तक ही हो सकती है। साथ-साथ आध्यात्मिक गुणों का विकास भी होते रहना चाहिये। सभी संस्कृतियों और कार्यों के लिये एक आध्यात्मिक आधार होना चाहिये। यह आवश्यक है। यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो वह

'संस्कृति' नहीं रहेगी। तात्पर्य की संकल्पोन्नति के साथ-साथ तपस्या का अभ्यास और सच्चरित्रता का दिव्य भाव अवश्य होना चाहिये।

शौनक नामक एक बुद्धिमान् गृहस्थ ने ऋषि अङ्गिरा के पास जाकर यह प्रश्न किया—'पूज्यवर, परमोच्च संस्कृति अथवा महान् संस्कृति कौन है, जिसको जानने के अनन्तर सभी संस्कृतियों का ज्ञान हो जाता है?'

अङ्गिरा ने उत्तर दिया—'यह ब्रह्मविद्या या परा विद्या है।'

आध्यात्मिक संस्कृति को दूसरे शब्दों में आत्म-ज्ञान कहा जाना चाहिये। मैं इसलिये पाश्चात्य देशों के सांस्कृतिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता हूँ। कुछ भारतीय धर्मगुरु भौतिक-वाद की एकदम उपेक्षा कर डालते हैं और तामसिक तपस्या करते हैं। यह भी अवज्ञेय है। गीता में भी यही कहा गया है। अतिशयता कभी-कभी विनाश की जननी और सदैव अनौचित्य की कुञ्जी है। मुक्ति और भुक्ति दोनों की आवश्यकता है, जैसा तान्त्रिक कहा करते हैं। योग और व्यवहार दोनों का समन्वय किया जाना चाहिये।

उपसंहार

एक दूसरी बात है, मुख्य है वह। संकल्पोन्नति असम्भव या कठिन या यथासम्भव या दुःसाध्य नहीं है। ऐसी शिकायत कभी नहीं करनी चाहिये। कम-से-कम एक साधक के लिये तो यह शिकायत वाञ्छनीय नहीं है। जो साधक संकल्प और स्मृति की साधना का प्रयोग कर रहे हैं, उनके लिये अच्छा होगा, यदि वे अपने शब्दकोष से इन कठिनाइयों और क्लेशों

का बहिष्कार कर दें; क्योंकि इनके प्रयोग करने वालों में नपुंसत्व या स्त्रीत्व का आभास होता है। डरपोक औरतें ही कहा करती हैं—'यह कठिन है, ओहो, वह तो असम्भव है; अरे ऐसा कभी हो ही नहीं सकता' इत्यादि। सिंह के समान साहसी आचरण करो। आध्यात्मिक वीरता को अपने अन्दर प्रत्यक्ष करो। आध्यात्मिक क्षेत्र में निरन्तर रण हो रहा है, अपनी बहादुरी दिखलाओ। संकल्पमात्र से तुम क्या नहीं कर सकते हो ? संकल्प के बल से गतिहीन में गति लाई जा सकती है और मृत्यु में जीवन का स्फुरण भर दिया जा सकता है। ईसामसीह ने जो कुछ किया, तुम उसे कर सकते हो—संकल्प बल से। यह प्रकृति का अटूट नियम है कि संकल्प अनेकों मार्गों के अवरुद्ध अभियानों को खोलता है ; संकल्प सफलता का अग्रदूत है।

अतः मन को सदनुशीलन में शिक्षित करो। निषेधात्मक विचारों को भूल जाओ। आत्मा की महिमा को जानो। उसकी शक्ति को पहचानो, उसकी महत्ता के गौरव का ध्यान करो। तुम्हारे मन, विचार, संकल्प और स्मृति की आड़ में और है ही क्या ? केवल आत्मा ही आत्मा। वह सब में व्यापक है, सब की रग-रग में समाया हुआ है। वह ज्ञान, आनन्द, शक्ति, सौन्दर्य, शान्ति और समृद्धि तथा कल्याण एवं सुख का भण्डार है—यदि यह जान जाओ तो संकल्प दिव्य-संकल्प बन जायेंगे।

ऐसा अनुभव करो कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे और अग्नि तुम्हारी आज्ञा से अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। ऐसा समझो कि तुम्हारी आज्ञा से वायु बहती है, जल बरसता है, अग्नि

जलती है, नदियां बहती हैं तथा इन्द्र, अग्नि और यम अपना-अपना कार्य करते हैं। तुम प्रतापों के प्रताप, सूर्यों के सूर्य, प्रकाशों के महाप्रकाश, पवित्रताओं की परम पवित्रता, देवत्व के परम देवत्व, देवताओं के महादेव, सम्राटों के महासम्राट् और सबसे महान् ईश्वर हो। तुम ही सत्य हो, तुम ही ब्रह्म हो, तुम ही अविनश्वर, अविनाशी और अमर आत्मा हो, जो ब्रह्माण्ड में समाया हुआ है। अपने दैवी वैभवों को पहचानो। ब्रह्म की महिमा का अनुभव करो। अपनी स्वतन्त्रता, अपना सच्चिदानन्द स्वभाव, अपना महाकेन्द्र, आदर्श और लक्ष्य कभी न भूलो। उस प्रकाश, ज्ञान, प्रेम, शान्ति, सुख और आनन्द के समुद्र में सदा आनन्दमग्न रहो। महावाक्य का महत्व समझो। 'तत्त्वमसि' वह तुम (ही) हो—उपनिषदों के इस वाक्य का साक्षात्कार करो।

सदाचार—संस्कृति का सौन्दर्य

क्या तुम इसका कारण जानते हो कि मैं क्यों इस विषय को तृतीय क्रम में चुन रहा हूँ? आत्मा ही प्रत्येक का वस्तुतः आधार है। मैं इसीलिए आध्यात्मिक संस्कृति को सर्वप्रधान मानता हूँ। आत्मा और संकल्प में घनिष्ट सम्बन्ध है; क्योंकि संकल्प आत्म-गति या आत्म-प्रकाशन है। अतएव मैं आध्यात्मिक उन्नति के उपरान्त ही संकल्पोन्नति पर विचार प्रकट कर चुका हूँ।

सदाचार के पक्ष का ज्ञान हुए बिना संकल्पोन्नति सम्भव नहीं है। इसलिए यह तृतीय क्रम में आ रहा है। सदाचार में उन्नति कर लेने से चरित्र की पूर्णता प्राप्त होगी। सदाचारी

बुद्धिवादी से कहीं अधिक शक्तिमान् है। चरित्र की उन्नति होने से नाना प्रकार की सिद्धियों और गुप्त शक्तियों की प्राप्ति होती है। यदि तुम योगसूत्रों का अध्ययन करो तो उनमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह के अभ्यास से जो शक्तियाँ प्रकट होती हैं, उनका विवेचन पाओगे। जो सदाचार में उन्नति कर रहे हैं, अष्ट-सिद्धियाँ और नव-निधियाँ उनके चरणों के पास लोटा करती हैं; वे सदा उनकी सेवा में प्रस्तुत रहती हैं।

दर्शन-शास्त्री सदाचारी हो, यह अनिवार्य नहीं; परन्तु आध्यात्मिक साधक को सदाचारी होना अनिवार्य है। सच्च-रित्रता आध्यात्मिकता के साथ-साथ चलती है। दोनों का अस्तित्व साथ-साथ है। तीन प्रकार की तपस्याओं अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक का आदेश गीता के १७वें अध्याय में है। राजयोग दर्शन में यम का अभ्यास और बौद्धों के आठ नियम (उचित विचार, उचित प्रयास, उचित कर्म, उचित चर्या आदि) मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए अत्यन्त विचारवान् सिद्धान्त हैं। सदाचार या उचित आचरण से मनुष्य नैतिक बनता है और आत्म-तत्त्व या ब्रह्मज्ञान पाने योग्य हो जाता है।

सदा यह प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक परिस्थिति में सच बोला जाय। आरम्भ में तुम अपनी आमदनी से हाथ भी धो सकते हो, पर अन्त में तुम्हारी विजय दुर्निवार्य है। तुम उपनिषदों के सत्य को जानोगे—"सत्यमेव जयते नानृतम्", अर्थात् एकमात्र सत्य की ही विजय होती है, असत्य कभी विजयी नहीं होता।

एक वकील जो क़ानून की कचहरी में सत्य बोलता है, झूठी गवाही नहीं पढ़ाता, आरम्भ में अपनी वकालत को खो सकता है; परन्तु कालान्तर में वही वकील न्यायाधीश और मवक्किलों के सम्मान प्राप्त कर सकेगा। उसके पास सहस्रों मवक्किल जमा हो जाएंगे। किन्तु उपक्रम में उसे उपरोक्त बलिदान अवश्य करना होगा। वकील लोग प्रायः शिकायत किया करते हैं—"हम लोग क्या कर सकते हैं? हम लोगों का तो पेशा ही ऐसा है। हम लोगों को असत्य भाषण करना ही पड़ेगा, अन्यथा हम लोग अपना मुक़द्दमा हारते हैं।"

यह सब झूठे बहाने हैं। उत्तर प्रदेश में एक एड्वोकेट थे। वह मानसिक रूप से संन्यासी का व्यवहार करते रहे। उन्होंने कभी भी झूठी गवाही नहीं दिलवाई। वह ऐसे मुक़द्दमों को हाथ में लेते ही नहीं थे। किन्तु जब तक वे जीवित रहे, वकीलों में आदर्श नेता के समान पूजे गए और न्यायाधीशों, मवक्किलों तथा अपने मित्रों के श्रद्धापात्र बने रहे। अतः भाइयो, क्यों अपने विवेक की हत्या कर रहे हो? क्यों अपनी आत्मा का हनन कर रहे हो? क्या तुम सभी पूर्वोक्त वकील साहब के आदर्श का अनुसरण करोगे? सच्चे बनो। तुम्हारे अन्तिम दिन आनन्द से कटेंगे। अपने जीवन को भोग-विलासी बनाने और अपनी पत्नी को प्रसन्न रखने के लिए अपने विवेक की हत्या न करो। जीवन तो एक न एक दिन लुप्त हो जाने वाली वस्तु है और एक बुलबुले के समान दो क्षणों की भी मेहमान नहीं है। अपने को दिव्य बनने के लिए साधना करो।

अहिंसा ही परम धर्म है। किसी भी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। सत्य बोलना चाहिए और धर्म का आचरण

करना चाहिए। दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा तुम दूसरों को अपने प्रति करते हुए देखना चाहते हो। अपने प्रतिवासी से अपने ही समान प्रेम-भाव का व्यवहार करो। मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए यह सब अत्यन्त आवश्यक बातें हैं। आत्मिक एकता या जीवन का एकत्व या अद्वैत-दर्शन के लिए नैतिकता ही दृढ़ आधार है। नैतिक उन्नति वेदान्त-दर्शन के लिए रास्ता तैयार करती है।

प्रायः सभी साधक गृहत्याग करने के पश्चात् नैतिक शुद्धि की परवाह न कर, समाधि और ध्यान में कूद कर बड़ी भारी गल्ती किया करते हैं। यद्यपि उन्होंने १५ साल तक ध्यान का अभ्यास किया है, तथापि उनका मन उसी मूढ़ स्थिति में रहता है। ईर्ष्या, घृणा, गुरुत्व का विचार, अहंकार और घमण्ड उनके मन में भरे हुए रहते हैं। नैतिक-संस्कृति के बिना ध्यान या समाधि कदापि सम्भव नहीं। समाधि और ध्यान तो स्वतः आ जाते हैं, जब नैतिक शुद्धि का मन में अवतरण होता है।

भावों का विकास

'भाव' शब्द संस्कृत पद है। इसका अर्थ होता है, मानसिक दृष्टिकोण या स्वभाव। आन्तरिक भावना या अनुभव ही भाव है। मनुष्य में जो गुण प्रबल हैं, उनके स्वभाव के अनुसार भाव भी तीन प्रकार के होते हैं, अर्थात् सात्त्विक भाव, राजसिक भाव और तामसिक भाव। सात्त्विक भाव दैवी भाव है और शुद्ध है। जिस तरह विचार, स्मृति या संकल्प का विकास अभ्यास द्वारा हो सकता है, उसी

तरह भाव का विकास भी हो सकता है। दुर्भाव को सुभाव में रूपान्तरिक किया जा सकता है। मित्रता या शत्रुता की भावना मानसिक सृष्टि है। यह आन्तरिक विचार या भावना है। बहुत दिनों का विश्वासी मित्र एक क्षण में अपना कट्टर वैरी बन जाता है। केवलमात्र एक कठोर शब्द ही सारी स्थिति को पलक मारते ही बदल देता है। जब मित्रता का भाव रहता है तो केशव आशा करता है या सोचता है कि उसका मित्र राजेन्द्र बीमारी की हालत में उसकी सेवा करेगा; वह यह भी सोचता है कि संकट और आवश्यकता आ पड़ने पर वह अपने मित्र से ऋण भी ले सकता है—इस प्रकार की अनेकों भावनायें केशव के मन में इसलिए उठती हैं कि वह राजेन्द्र को अपना मित्र समझता है। यह सब मनुष्य की भावनायें हैं। जब दोनों अपनी मित्रता से हाथ धो बैठते हैं, तब केशव के मन में राजेन्द्र-विषयक नाना प्रकार की भावनायें जागती हैं। उसे अपने पुराने मित्र में किसी प्रकार का विश्वास ही नहीं हो पाता। वह उससे डरता रहता है। रास्ते में कहीं मिल जाने पर मुँह फिरा लेता है। वह उसकी निन्दा करता है। अनेकों शंकाओं से उसका मन भरा हुआ रहता है। देखिये, सम्पूर्ण परिस्थिति मौलिक रूप में बदल गई है। भाव पूर्णतया बदल गया है।

वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य जब अज्ञान से रहित होता है तो वह ब्रह्म है; अर्थात् वह ब्रह्म हो जाता है। मनुष्य अपने को भ्रम से समझ बैठता है कि वह यह शरीर है और छोटा जीव है, जिसे छोटे-छोटे अधिकार और लौकिक ज्ञान प्राप्त हैं। यह उसके वर्तमान का भाव है। यह मानवीय भाव है। इसका रूपान्तर ब्रह्मभाव में हो जाना

चाहिये। सोचो कि तुम ब्रह्म हो। अनुभव करो कि तुम शुद्ध और सर्वव्यापी ज्ञान, प्रकाश और चैतन्य हो; समझो कि तुम अमर हो। विचारो कि तुम सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हो। विश्वास करो कि तुम साक्षी हो। साक्षी और अकर्त्ता के भाव अपने मन में आने दो। 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ। मैं भोक्ता नहीं हूँ'—इस प्रकार के भावों को मन में लाने का अभ्यास किया करो; अशुद्ध भावनायें पराभूत हो जायेंगी और तुम कर्मबन्धन को तोड़ सकोगे।

वेदान्त यह सिखलाता है कि नाम और रूपों की अवहेलना कर, हर जगह ब्रह्म को ही देखो और उसी का अनुभव करो। वेदान्त तुम्हें उचित विचार और गम्भीर ध्यान से आत्म-भाव का विकास करना सिखलाता है।

जब कोई बाहरी विचार हमारे मन पर अधिकार स्थापित करने लगता है तो एक प्रकार की मानसिक स्थिति और भावना उस विचार की प्रकृति के समान हमारे अन्दर आती है। अपने शत्रु के विषय में कुछ देर सोचो तो तुम्हारे अन्दर शत्रुभाव आने लगेंगे। दया या विश्वप्रेम के विषय में सोचो तो प्रेम-भाव या करुणाभाव प्रकट होगा। विश्व-सेवा की सोचो, सेवा-भाव तुम्हारे अन्दर आ जायगा। भगवान् कृष्ण और उनकी वृन्दावन-लीला का विचार करो तो कृष्ण-भक्ति का जागरण होगा। भावना और विचार साथ-साथ चलते हैं। विचार को भावना से अलग नहीं किया जा सकता, उनका सम्बन्ध आग और उसकी गरमी के समान अभिन्न है। साव-धानी और अन्तरावलोकन द्वारा सदा मानसिक परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिये। मन में किसी प्रकार का निषेधा-

त्मक या अनिच्छित भाव प्रकट होने देना चाहिये। कलुषित भावना को शुद्ध-भावना में बदल देना चाहिए। स्थिर-भावना अनिश्चित भावनाओं को पीछे ढकेल देती है। सात्त्विक भावना मूल्यवान् सम्पत्ति के समान है।

सात्त्विक भाव की लड़ी द्वारा अपने को ब्रह्म से सम्बद्ध किये रहना चाहिए। आरम्भ में घमासान युद्ध होगा; अपने आसुरिक और दैवी भावों में एक अन्तर्द्वन्द्व होगा। अपना आसुरिक स्वभाव दैवी स्वभाव पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करेगा। निरन्तर अभ्यास से ही अन्ततः सात्त्विक भाव की विजय सम्भव हो सकेगी।

भाव पर भोजन का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है। सात्त्विक भोजन से सात्त्विक भावों का उदय होता है। अपने को अनन्य भाव में समाश्रित करने का अभ्यास करो। पन्दरह दिनों तक केवल फल तथा दूध का आहार सेवन करो और तब मन के भाव और स्वभाव में परिवर्तन देखो। तुम्हारा मन सात्त्विक भावना से आश्चर्यजनक शान्ति की प्राप्ति कर रहा होगा। जब इस सात्त्विक भाव का उदय होता है, तब मन स्वभावतः ईश्वर की ओर दौड़ने लगेगा और समाधि का अवतरण स्वतः ही हो जायगा।

जब भक्त सोचता है कि वह ईश्वर का सेवक है, तब उसमें 'दास्य भाव' का आगमन होता है। जब वह सोचता है कि भगवान् उसके सखा हैं तो 'सख्य भाव' का उदय होता है। वह जब ईश्वर को वत्सलता के रूप में देखने का प्रयत्न करता है तो 'वात्सल्य भाव' जागते हैं। इस प्रकार वह अपनी भावना

के अनुसार अपने अन्दर माधुर्य अथवा शान्त भाव विकास करता है। जब वह अनुभव करता है कि भगवान् सब जगह पर हैं तो उसमें तन्मयता का भाव आता है।

भक्त सदा यह सोचता है कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं, वह तो उनके हाथों का उपकरणमात्र है; केवल निमित्त है। अपने अन्दर यह भाव जगाने से वह कर्त्तापन और भोक्तापन का विचार त्याग देता है और इस प्रकार कर्म के जटिल बन्धनों से अपने को मुक्त करता है। इस भाव का विकास करने से भक्त पूर्ण और विकार-रहित शान्ति प्राप्त करता है। जब कभी उसके जीवन में अच्छी या बुरी घटना घटती है तो वह कहता है—"ईश्वर ही सब कुछ हैं। वह मेरे लिए कार्य करते हैं। वह जो कुछ भी करते हैं, अच्छा ही करते हैं। ईश्वर न्यायी हैं। ईश्वर की इच्छा ही सम्पन्न होती है। सब कुछ भागवान् का है। मैं भगवान् का हूँ, सब भगवान् के हैं।" इस अभ्यास से वह जीवन की सभी परिस्थितियों और दशाओं में प्रसन्नचित्त रहता है।

भक्त और वेदान्ती के भावों में यह भेद है। वेदान्ती साक्षी और अकर्त्ता का भाव ग्रहण करता है; भक्त निमित्त-भाव की उन्नति करता है; भक्त दास्य-भाव का विकास करता है। वेदान्ती अपने को ब्रह्मस्वरूप मानता है; भक्त अपने में द्वैत भावना (भक्त और भगवान् की भावना) विकसित करता है। वह भगवान् का पूजन करता है। अन्ततोगत्वा भक्त भी ज्ञानी के समान ज्ञान की चरम अवस्था प्राप्त करता है। केवलमात्र आरम्भिक साधना और भाव में भेद होता है। अन्त में दोनों एक ही समतल भूमि पर आ मिलते हैं।

धनी तथा पण्डित गर्व और गुरुत्व का भाव ग्रहण करते हैं। सच्चे संन्यासी में समदर्शिता, एकत्व और प्रेम का भाव रहता है। प्रत्येक मनुष्य में उसके स्वभाव और गुणों के अनुसार अलग-अलग भाव होता है। पिता और पुत्र का सम्बन्ध, पति और पत्नी का सम्बन्ध, नौकर और मालिक का सम्बन्ध प्रेम की विभिन्न सीमाओं का विकास करता है; यदि इस प्रेम को पवित्र और उच्चतर दैवी आवेगों में रूपान्तरित कर दिया जाय तो इसके क्षुद्र आवेग परिमार्जित किए जा सकते हैं। निम्नतर भाव का परिवर्तन उच्चतर दिव्य भावों में होता है। दिव्य भावों के विकास के लिए सांसारिक सम्बन्ध और भावों का समन्वय प्रारम्भिक शिक्षा के समान जानना चाहिए। यह बात कभी न भूलो।

प्रतिपक्ष भावना के नियम

मान लो कि तुम दुःख की भावना से सन्तप्त हो। एक प्याले में दूध या चाय ले लो। शान्तिपूर्वक बैठो। अपने नेत्र बन्द कर लो। अपने अन्दर जागृत हुई नैराश्य-भावना के कारणों का पता लगाओ और परिहार की चेष्टा करो। प्रतिकूल भाव का विचार ही इसके निवारण का सब से अच्छा तरीका है। सामान्य विचार सदैव निषेधात्मक-विचारों पर विजय पाते हैं, यह प्रकृति का सुन्दर नियम है। अब दृढ़ता से प्रतिकूलता की बातें सोचो। विषाद के प्रतिकूल आनन्द की बातें सोचो। आनन्द से क्या-क्या लाभ होते हैं, वह सोचो, ऐसा अनुभव करो कि वास्तव में तुमको वह गुण प्राप्त हैं। बार-बार मन में इस सूत्र को दुहराओ--'ॐ आनन्दोऽहम्।' अनुभव करो कि तुम अत्यन्त सुखी हो।

मुस्कराना आरम्भ करो और अनेकों बार हँसो। कुछ राग-अलाप करो, जिससे तुम में प्रफुल्लता आवेगी। गाने से विषाद दूर किया जा सकता है। बार-बार जोर से 'ॐ' का उच्चारण करो और खुली हवा में इधर-उधर दौड़ो। इन प्रयोगों से विषाद दूर हो जायगा। यह नियम राजयोग में 'प्रतिपक्ष-भावना' के नाम से जाना जाता है। यह सब से आसान नियम है। बलात्कार और शक्तिपूर्वक संकल्प का उपयोग कर विषाद को हटाने से संकल्प को भी चोट पहुँचती है। इसके प्रयोग में दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है, अन्यथा विषाद का दमन सम्भव नहीं होगा। साधारण मनुष्यों को इस प्रयोग से सफलता नहीं मिलेगी। निषेधात्मक भावना के बदले प्रतिकूल सामान्य-भावना रख देने से विषादमयी भावना जल्दी दूर हो जाती है; यही सबसे आसान रीति है। कुछ काल में विषादादि निम्न भावनाएं लुप्त हो जाती हैं। इसका अभ्यास और अनुभव करो।

यदि तुम बार-बार असफल भी रहो तो भी इसका अभ्यास करते जाओ। कुछ अभ्यास और स्थिरता के बाद सफलता अवश्य मिलेगी। सभी निम्न भावनाओं के साथ यह नियम बरता जा सकता है। यदि क्रोध की भावना प्रबल है तो प्रेम के विचारों को अपने अन्दर जगाने के प्रयोग करो। यदि काम-भावना उपद्रव कर रही है तो ब्रह्मचर्य के लाभों को सोचो। यदि बेईमानी की भावना प्रबल है तो ईमानदारी, पवित्रता आदि के सम्बन्ध में सोचो। यदि कृपणता (कंजूसपन) के विचार प्रबल हैं तो दान और दानी व्यक्तियों के सम्बन्ध में सोचो और दान के प्रयोग करो। यदि मोह प्रबल है तो विवेक और आत्म-विचार के सम्बन्ध में सोचो।

छल-कपट की भावना प्रबल होने पर निष्कपटता और उसके मूल्यवान् लाभों को सोचो। यदि द्वेष की भावना प्रबल है तो भद्रता और महानुभावुकता के विषय में विचार करो और उनके प्रयोग करो। यदि कायरता सबल है तो साहस की बातें सोचो। इस प्रकार अनिश्चित और निषेधात्मक भावनाओं को प्रतिपक्ष भावनाओं से टाल दिया जा सकेगा और आपकी स्थिति सामान्य हो जायगी। किन्तु इसके लिए निरन्तर और सतत अभ्यास की आवश्यकता है। अपने नियमों के चुनाव में सावधान रहो।

विचारोन्नति

बहुत कम लोग इस कला या विज्ञान को जानते हैं। यहाँ तक कि शिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति भी इस शिक्षा से वञ्चित हैं। सभी चिन्ताग्रस्त हैं। इस मानसिक कारखाने में अनिश्चित और नाना प्रकार के विचार आते हैं और चले जाते हैं। उन विचारों में न तो कोई सिलसिला है और न एकता ही। न तो उनमें कोई ताल है और न उनका कोई कारण ही। न उनमें किसी प्रकार का मेल या संगठन। न तरीका और न शिष्टाचार। सभी विचार व्यर्थ, गोलमाल और भ्रान्ति में हैं। विचारों में स्वच्छता नहीं है। तुम किसी एक विषय को नियमित और सिलसिलेवार दो मिनट के लिए भी नहीं सोच सकते हो। तुम्हें विचारों और मानसिक समक्षेत्र के नियमों का ज्ञान नहीं है। तुम्हारे अन्दर पाशविकता का संग्रह है। विषयी मन में घुसने के लिए सभी प्रकार के इन्द्रियजन्य सुख आपस में लड़ रहे हैं और एक विचार दूसरे विचार पर विजय पाने की चेष्टा में सतत सचेष्ट हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने

विचारों को मन के अन्दर घुसाना चाहती हैं। कान रेडियो का आनन्द लेना चाहते हैं। मन में क्षुद्र, विषयी, घृणापूर्ण, द्वेषमय और वीभत्स विचारों का साम्राज्य है। वे दिव्य विचारों को अन्दर प्रवेश करने का अवसर नहीं देते। मन का ढाँचा भी इस प्रकार का है कि मानसिक शक्ति विषय-वासना की ही ओर दौड़ती है।

प्रत्येक व्यक्ति का सोचने, समझने और काम करने का अपना तरीका होता है। जिस तरह एक व्यक्ति की आकृति दूसरे से भिन्न हुआ करती है, उसी तरह विचारों और समझ में भी अन्तर है। यही कारण है कि प्रायः मित्रों में अनवन हो जाया करती है। एक दूसरे के मतलबों को ठीक से नहीं समझ पाता। अतः घनिष्ट मित्रों में भी झगड़ा हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के विचारों के स्फुरण के साथ मेल रखे, तभी एक दूसरे को आसानी से समझ सकता है। कामुक विचार, घृणा की भावना, द्वेष और स्वार्थ के विचार—मन में विकारों का रूप धारण कर लेते हैं, जिनके कारण बुद्धि और समझ में विकार आ जाता है, स्मरण-शक्ति का ह्रास होने लगता है और मन में भ्रम उत्पन्न होता है।

प्रत्येक विचार का विशेष रूप-रंग हुआ करता है, विशेष आकार-प्रकार हुआ करता है और लम्बाई तथा चौड़ाई भी। विचार एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक जाते और पहुँचते हैं।

विचारों से मनुष्य प्रभावित होता है। शक्तिपूर्ण विचार वाला व्यक्ति निर्बल विचार वाले व्यक्ति को जल्दी प्रभावित कर सकता है। मानसिक संक्रमण द्वारा योगी लोग संसार के

किसी भी हिस्से के लोगों के पास अपने विचार पहुँचा सकते हैं। मानसिक संक्रमण प्राचीन योगियों की विद्युत-वेग से शब्द या विचार भेजने की क्रिया है।

व्यक्ति के मानसिक कारखाने से घृणा या क्रोध का विचार लोगों की ओर बाण सन्धान करता है, व्यक्ति को हानि पहुँचाता है, विचार-जगत् में विरोध और फूट फैलाता है और फिर भेजने वाले के पास ही लौटता है और उसको भी चोट पहुँचाता है। यदि मनुष्य विचार की शक्ति और उसके प्रभाव को समझ ले तो वह अपने विचारों के निर्माण में बहुत ही सावधान हो जायगा। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह मानसिक शिष्टाचार, खान-पान में एकता, सत्यभाषण, सत्संगति, धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन, जप, ध्यान, प्राणायाम और प्रार्थना का अभ्यास कर सात्त्विक विचारों को उत्पन्न करने की शक्ति का विकास करे।

अच्छा मनुष्य यदि अपने मित्र से दूर भी रहता है तो वह अपने मित्र को अच्छे विचारों द्वारा सहायता पहुँचा सकता है। सच तो यह है कि अपने अन्दर किसी भी दुर्विचार को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। सदा अपने विचारों का निरीक्षण कर, व्यर्थ और निम्न-विचारों को दूर हटाया जाय और मानसिक शक्ति की सुरक्षा की जाय। व्यर्थ की चिन्ता से शक्ति ही नष्ट होती है।

अपने को सदा धार्मिक कार्यों और धार्मिक पुस्तकों में संलग्न रखो। वहीं से तुम अच्छे और पवित्र विचारों की शिक्षा पा सकते हो। जिन विचारों में सार और ध्येय नहीं, उनकी उपेक्षा ही की जानी चाहिए। एक विषय पर विचार

करो, उसके भिन्न-भिन्न रूपों का चिन्तन करना आरम्भ करो। जब तुम किसी विषय पर विचार करते हो तो (उस समय) किसी दूसरे विचार या विचारों को अपने सचेतन मन में न आने दो। बार-बार मन को अपने लक्ष्य की ओर प्रेरित करो। मान लो तुम जगद्गुरु शङ्कराचार्य के जीवनचरित्र और उनकी शिक्षाओं के विषय में सोचते हो, तो उनकी जन्मभूमि, उनके प्रारम्भिक जीवन, चरित्र, व्यक्तित्व और गुण, उनकी शिक्षा और विद्वता, उनका दर्शन, उनके कुछ श्लोकों का प्रवचन, उनकी सिद्धियाँ और दिग्विजय, उनके चार शिष्य, चार मठ और प्रस्थानत्रय पर भाष्य तथा उनसे सम्बन्धित प्रत्येक विषय ले कर सोचते रहो। एक-एक कर उनके इन गुणों का पूर्णतया विचार कर लो। इस अभ्यास से सामूहिक और संगठित तथा नियमबद्ध चिन्तन का विकास होगा। मानसिक शक्ति को अधिक बल और तेज की प्राप्ति होगी; उसका रूप सुन्दर और परिमार्जित हो जायगा। साधारण व्यक्तियों में यह मानसिक शक्ति अपरिमार्जित और निस्तेज रहती है। प्रत्येक विचार का एक-एक मूर्त्तरूप होता है। उदाहरण के लिए लीजिए, मेज क्या है ? एक मानसिक शक्ति (मूर्त्ति) और कुछ स्थूल पदार्थों का मिश्रण। जो कुछ बाहर देखा जाता है, उसकी प्रतिमूर्त्ति मन में स्थित हो जाती है। आँखों के अन्दर की पुतली एक छोटी सी वस्तु है, किन्तु उसके अन्दर बड़े से बड़ा स्वरूप समा जाता है। यह आश्चर्यों का आश्चर्य है। पर्वत की मूर्त्ति पहले से ही मन में रहती है। मन प्रभावित होने वाले फिल्म के समान है, जिसमें बाहर के सभी दृश्यों का अङ्कन हो जाता है; जिस प्रकार फोटो खींचने पर फिल्म में।

तुम्हें अवश्य ही मानसिक संयोग, सम्बन्ध और क्रमिक नियमों का ज्ञान रखना चाहिए। तब तुम बहुत शीघ्रता से विचारोन्नति कर सकते हो। प्रत्येक वस्तु के साथ तुम्हारा साहचर्य-सम्बन्ध होना चाहिए।

विचारोन्नति के लिए ब्रह्मचर्य और सात्त्विक आहार परमावश्यक है। प्रातःकाल ४ बजे उठ जाओ। वीरासन या पद्मासन या सिद्धासन में बैठो। दस मिनट तक अपना मन्त्र जपो और तब विचारोन्नति का अभ्यास करो। रात को भी एक बैठक का अभ्यास करो।

जब तुम किसी एक विषय के सम्बन्ध में सोच रहे हो तो दूसरे विचार या विचारों को मन में न घुसने दो। जब तुम गुलाब के फूल के सम्बन्ध में सोचते हो तो केवल गुलाब के फूलों के विषय में ही सोचते जाओ। किसी इतर विचार को मन में आने ही न दो। जब तुम दया के विषय में सोचते हो तो केवल दया के सम्बन्ध में ही सोचो। तत्काल क्षमा और सहनशीलता के विषय में न सोचो। जब तुम गीता का अध्ययन करते हो तो चाय या क्रिकेट मैच के विषय में मत सोचो। तात्पर्य कि एक ही विचार में पूर्णतया दत्तचित्त रहो।

नेपोलियन ने अपने विचारों को इसी प्रकार अपने वश में किया। जब मैं बहुत सुख देने वाली चीजों के विषय में सोचता हूँ तो दुःखद विचारों के लिए अपने मन के अनुभवों की दरार बन्द कर देता हूँ और अधिक सुखदायी विचारों वाले अनुभवों के द्वार खोलता हूँ। यदि मैं सोना चाहता हूँ तो मन के सभी अनुभवों या विचारों को बन्द कर देता हूँ।

विचार में गति है और तेज भी। विचार में महान् शक्ति है। विचार में संचरण-शक्ति भी है। विचार नाना प्रकार के होते हैं। विचारों को अपने स्वभाव से प्रेरणा मिलती है। दृष्टि-सम्बन्धी विचार होते हैं। कर्ण-सम्बन्धी विचार भी होते हैं। लाक्षणिक-विचार भी होते हैं। कुछ विचार स्वाभाविक होते हैं। गति या रूप में भी विचार होते हैं; जैसे किसी खेल को खेलते समय हम सोचते हैं तथा हम में उत्तेजक विचार भी होते हैं। मानसिक थकावट में दृष्टि-सम्बन्धी विचार कर्ण-सम्बन्धी विचारों में और कर्ण-सम्बन्धी विचार गति-सम्बन्धी विचारों में परिवर्तित होते हैं। मन और प्राण में घनिष्ट सम्बन्ध है, इसलिये सोचने और साँस लेने की क्रिया में आत्मीयता है। जव मन एकाग्र हो जाता है, श्वास भी शनैः शनैः चलने लगता है; यदि कोई उत्तेजित हो कर सोचता है तो श्वास और उच्छ्वास की क्रिया भी तेज हो जाती है।

अधीन-सचेतन-मन

अधीन-सचेतन-मन को ही वेदान्त में चित्त के नाम से पुकारा गया है। अधीन-सचेतन-मन का अधिकांश भाग पुनः प्राप्तिभूत अनुभवों और स्मृतियों से भरा है, जो पृष्ठभूमि में दबा दिए गए थे.।

स्मृति लुप्त होने के चिह्न प्रकट होते-होते उम्र बढ़ने का बोध होता है। सबसे पहिला चिह्न यह कि तुम मनुष्य के नामों का स्मरण करने में कठिनाई पाते हो। ऐसा क्यों होता है ? सभी नाम मनमाने हैं, काल्पनिक या कल्पनासृजित हैं।

नामों में साहचर्य नहीं है। मन प्रायः साहचर्य द्वारा ही स्मरण रखता है, क्योंकि उसी हालत में गहरा संस्कार पड़ता है। तुम स्कूलों में पढ़े हुए कुछ परिच्छेदों को वृद्धावस्था में भली प्रकार याद रख सकते हो, लेकिन जिस प्रकरण को आज सुबह तुमने पढ़ा था, सायंकाल के समय उसका स्मरण करना तुम्हारे लिए कठिन है। इसका कारण यह है कि मन धारणा-शक्ति को खो चुका है। मस्तिष्क-शक्ति का ह्रास हो गया है। जो लोग अधिक मानसिक श्रम करते हैं, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करते, चिन्ताओं और दुःखों में उलझे रहते हैं, वे स्मरण-शक्ति से हाथ धो बैठते हैं। चूँकि घटनाओं के साथ तुम्हारा साहचर्य रहा है, इसलिए वृद्धावस्था में भी तुम उनको याद कर सकते हो।

मानसिक प्रयोग केवल चेतना के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हैं। अधीन-सचेतन-मन का विस्तार सचेतन मन से अधिक है। वेदान्तियों के चित्त के कूट-द्वार से संवाद जब तैयार हो जाता है, बिजली की भाँति अधीन-सचेतन-मन से बाहर निकल कर सचेतन-मन की सतह पर आ जाता है। हम लोग मन के कार्यों के दस प्रतिशत भाग से ही परिचित रहते हैं; कम-से-कम हमारा ९० प्रतिशत मानसिक जीवन चित्त-जगत् में ही रहता है। हम लोग किसी समस्या का समाधान करने की चेष्टा करते हैं, पर असफल रहते हैं। हम लोग चारों ओर देखते हैं, प्रयत्न करते हैं, किन्तु फिर भी विफल ही रहते हैं। सहसा एक विचार मन में आता है, जिससे समस्या का समाधान हो जाता है। यह समाधान अधीन-सचेतन-मन के माध्यम से हुआ।

कभी-कभी तुम यह विचारते हुए सो जाते हो कि "मैं प्रातःकाल उठकर अवश्य ही गाड़ी पकड़ूंगा।" यह निश्चयात्मक सम्वाद अधीन-सचेतन-मन द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है और यह अधीन-सचेतन-मन ही तुमको निश्चित रूप से ठीक समय पर उठा देता है। अधीन-सचेतन-मन तुम्हारा निरन्तर मित्र और सच्चा साथी है। तुम बार-बार गणित या रेखागणित की किसी समस्या को सुलझाने में रात को असफल रहते हो। प्रातःकाल उठने पर जब तुम प्रयत्न करने बैठते हो तो तुरन्त उचित उत्तर पाते हो। यह उत्तर अधीन-सचेतन-मन से विद्युत् की तरह बाहर आता है।

अधीन-सचेतन-मन निद्राकाल में विश्राम नहीं लेता, सतत कार्य करता है। यह व्यवस्था करता है, वर्गीकरण करता है, तुलना करता है, सत्य बातों को चुनता है और सन्तोषजनक सुझाव देता है। अधीन-सचेतन-मन की सहायता से तुम अपने पापी स्वभाव को (अच्छे गुण सीख कर) बदल सकते हो। यदि तुम भय पर विजय पाना चाहते हो तो मन में सोचो कि भय कोई वस्तु नहीं है, और 'प्रतिपक्ष-भावना' द्वारा मन में साहस का आदर्श जगाओ। जब साहस का विकास हो गया तो भय अपने आप ही चला जायगा। 'प्रतिपक्ष-भावना' अनिश्चित-भावना पर सदा विजय प्राप्त किया करती है। इच्छा और रुचि के अभ्यास से तुमको अरुचिकर चीजों और कार्यों में रुचि प्राप्त हो सकती है। तुम पुराने नियमों को बदल कर नई आदतों, नए विचारों और नवीन स्वादों और अधीन-सचेतन-मन के नूतन चरित्र में स्थित हो सकते हो।

स्मृति या स्मरण, धारणा और अनुसन्धान चित्त के कार्य हैं। जब तुम किसी मन्त्र या जप को दुहराते हो तो चित्त का काम उसका 'स्मरण' करना है। चित्त बहुत से कार्यों का सम्पादन करता है। मन या बुद्धि की अपेक्षा यह अच्छे और महत्तर कार्यों को करने की क्षमता रखता है।

कार्य, भोग और अनुभव सूक्ष्म संस्कार के रूप में अधीन-सचेतन-मन पर अपना प्रभाव अङ्कित कर देते हैं। संस्कार ही जीवन तथा सुख-दुःख के कारण हैं। संस्कार के पुनरुत्थान से स्मृति का जागरण होता है। योगी जब अन्दर-ही-अन्दर (आत्मा में) गोता लगाता है तो इन संस्कारों के सम्पर्क में आता है और अपनी आन्तरिक दृष्टि द्वारा उन्हें प्रत्यक्ष देखता है। इन संस्कारों पर संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) द्वारा वह (योगी) अपने पूर्व-जन्मों की जान-कारी प्राप्त कर लेता है। दूसरों के संस्कारों पर अपना संयम स्थापित कर वह उनके पूर्व-जन्मों का ज्ञान भी सम्प्राप्त कर लेता है।

जब तुम किसी बात को याद रखने की इच्छा करते हो तो तुम्हें उद्योग करना होगा; अपने अधीन-सचेतन-मन की भिन्न-भिन्न गहराइयों में नीचे-ऊपर जाना होगा और अप्रा-संगिक बातों के अजीब और आश्चर्यजनक सम्मिश्रण में से भी सत्य को चुनना होगा—जिस तरह डाक छाँटने वाला अत्यन्त दक्षता के साथ रेल के डिब्बे में ही डाक छाँटने लगता है। अधीन-सचेतन-मन नाना प्रकार की खोजों के बाद सत्य वस्तु को (यथाक्रम) सचेतन-मन में ला देता है। वह विविध-विषयों में से उचित विषय अपने अनुकूल चुन सकता है।

जिस समय व्यक्ति किसी प्रकार का अनुभव करता है, उसी क्षण एक संस्कार उसके चित्त में पड़ जाता है। तात्कालिक अनुभव और अधीन-सचेतन-मन में एक संस्कार पड़ने की कोई रोक-टोक नहीं है। स्मृति भी इसी का कार्य है। वेदान्तिक क्रम से यह एक अलग शक्ति या श्रेणी है। कभी-कभी यह मन के अन्तर्गत मानी जाती है। सांख्यदर्शन में यह बुद्धि या महत्-तत्त्व में ही सन्निहित है। पतञ्जलि ऋषि के योग-दर्शन का चित्त और वेदान्तियों का अन्तःकरण एक ही है।

स्मृति का विकास

जो चित्त या अधीन-सचेतन-मन और स्मृति में निवास करता है, जो इस स्मृति के भीतर है, जिसको चित्त और स्मृति नहीं जानते, स्मृति और अधीन-सचेतन-मन जिसका शरीर है, जो स्मृति और चित्त पर अन्दर से शासन करता है, वह सब का आन्तरिक शासक है, अमर आत्मा, अन्तर्यामी और अमृतम् है। उसको मेरा मूक प्रणाम।

स्मृति का विकास अत्यन्त आवश्यक कार्य है। स्मृति उन्नत होने से ब्रह्म-साक्षात्कार में सहायता मिलती है। स्मृति-हीन व्यक्ति अपने प्रयास में सदा असफल रहता है। यदि कर्मचारी स्मृतिहीन हो तो अध्यक्ष अप्रसन्न हो जाता है। भुलक्कड़ व्यक्ति अनेकों भूलें करता है। जिससी स्मरण-शक्ति तीव्र है, जो चीजों को बहुत दिनों तक याद रख सकता है, वह अपने कार्यों में आशातीत सफलता प्राप्त करता है। जिसकी स्मरण-शक्ति तीव्र है, उसका व्यवसाय सफलतापूर्वक चलता है और वह प्रत्येक कार्य विधिपूर्वक करता है। स्मृतिसम्पन्न

विद्यार्थी सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता है ; स्मृति का नवमांश बुद्धि है।

याददाश्त, यादगार और स्मृति पर्यायवाची हैं। स्मरण का अर्थ है याद करना। यह अधीन-सचेतन-मन या चित्त का कार्य है। सोचने और करने के संस्कार चित्त में गहरे पड़ जाते हैं। चित्त विम्बग्राही शीशे के समान है। इसमें सभी संस्कार अमिट-सा रूप धारण कर जमा हो जाते हैं। जब कभी तुम पिछली घटनाओं को याद करने का उद्योग करते हो, तब वे (संस्कार) कूट-द्वार से सचेतन-मन की सतह पर लौटते हैं। जिस तरह नाटक का पात्र नेपथ्य से रंगमंच पर आ खड़ा होता है, उसी तरह संस्कार कूटद्वार से विशाल लहरों या मानसिक चित्रों के रूप में बाहर निकलते हैं। यदि तुम में दूरदर्शिणी शक्ति (दिव्य दृष्टि) है तो तुम भूमि के भीतर की गतियों के चित्रों को इनमें देख सकते हो।

स्मृति को दो रूपों में व्यवहृत किया जाता है। हम लोग कहते हैं कि मोहन की स्मृति (स्मरण-शक्ति) अच्छी है। यहाँ इसका अर्थ होता है कि मोहन में पुरानी घटनाओं को (एकत्र कर) प्रकाशित करने की बड़ी सामर्थ्य है। तुम कभी कहते हो—'मुझे उस घटना की याद ही नहीं।' यहाँ इसका अर्थ होता है कि तुम सचेतन-मन की सतह पर उन सब घटनाओं को प्रारम्भिक रूप में नहीं ला सकते हो, जो कुछ समय पूर्व घटी थीं। यह स्मरण का एक कार्य है।

यदि अनुभव नवीन है तो तुम उसे संकल्प द्वारा याद कर सकते हो। स्मृति से तुम्हें कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता

है; यह केवल दुहराने की क्रिया करती है। जब दुहराने की क्रिया में सम्मिश्रण होता है तो स्मृति ज्ञान का कारण बनती हैं, पर स्वयं ज्ञान नहीं बन सकती।

मान लो, तुम किसी मित्र से उपहार के रूप में एक सुन्दर पङ्खा पाते हो। जब तुम उस पङ्खे को व्यवहार में लाते हो तो वह तुमको कभी-कभी उस मित्र की याद दिला देता है। तुम उसके सम्बन्ध में कुछ देर के लिये सोचते हो। अतः पङ्खा स्मृति-हेतु, स्मृति-बोधक या स्मृति का कारण हुआ।

अच्छी स्मृति के निम्नलिखित चार लक्षण अच्छे माने गए हैं:—

(१) यदि तुम किसी प्रकरण को एक बार पढ़ते हो और पुनः उसकी प्रत्यावृत्ति कर सकते हो तो तुम्हारी स्मृति अच्छी है। यह 'सुगमता' लक्षण है।

(२) अगर तुम उसी को बिना कुछ जोड़े या घटाये, फिर से दुहरा सकते हो तो यह 'अवैकल्य लक्षण' कहलाता है।

(३) अगर तुम किसी बात या प्रकरण को दीर्घकाल तक याद रख सकते हो तो यह 'धारणा लक्षण' है।

(४) अगर तुम किसी प्रकरण को शीघ्र ही बिना किसी कठिनता के पुनः दुहरा सकते हो तो यह 'उपाहरण लक्षण' है।

यदि तुम्हारा भाई डरपोक है तो उसी प्रकार के मनुष्य को किसी अन्य स्थान में देखने से तुम्हें अपने भाई की याद आवेगी। पदार्थों की एकता के कारण यह सादृश्यता कहलाती है।

मान लो, तुम किसी बौने आदमी को मद्रास में देख रहे हो। जब तुम किसी लम्बे आदमी को देखोगे, तुरन्त तुम्हें उस बौने की याद भी आ जावेगी, जिसे मद्रास में देखा था। किसी बड़े स्थान का दृश्य तुम्हें किसी किसान की कुटिया या संन्यासी के गङ्गातीरस्थ उद्यान का स्मरण दिलायेगा। यह स्मृति-भावना पदार्थों की विपरीतता के कारण होती है।

जब तुम सड़क पर, किसी आँधी वाले दिन, टहलते हुए किसी गिरे हुए वृक्ष को देखते हो तो यह अनुमान लगा लेते हो कि यह वृक्ष आँधी के कारण गिरा होगा। इस अवस्था में स्मृति का सम्बन्ध कारण और परिणाम से है। इसको 'कार्य-कारण सम्बन्ध' कहते हैं।

स्मृति का विकास करने के लिये अधीन-सचेतन-मन के कार्यों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। अधीन-सचेतन-मन में ही चरित्रों का कार्य प्रतिपादन हुआ करता है। सचेतन-मन कुछ आराम भी करता है, पर अधीन-सचेतन-मन सर्वदा काम करता है। जब तुम लगातार कई घण्टों तक अपने मन को ठोकने के बाद भी किसी समस्या के समाधान में असफल रहते हो तो अधीन-सचेतन-मन ही दूसरे दिन प्रातःकाल विद्युत् के समान उत्तर ला देता है। रात को जब तुम यह निश्चय कर सोते हो कि तुम्हें ३ बजे रात की गाड़ी पकड़नी है तो अधीन-सचेतन-मन ही तुम्हें ठीक उस घड़ी उठा देता है। यदि तुम इसको भल-भाँति हिला-मिला चुके हो तो यह सबकी अपेक्षा अधिक आज्ञाकारी सेवक है। इसके द्वारा अनेकों कार्य कर सकते हो। संसार में विलक्षण-गुण-सम्पन्न सभी महापुरुष और बुद्धिमान् व्यक्ति मन के इस अङ्ग पर

अपना पूर्ण शासन स्थापित करते रहे और उससे काम लेना जानते थे। चित्त का कार्य है छानबीन करना, चुनना, वार्तालाप का प्रसङ्ग तैयार करना तथा मन के अन्दर से पुरानी स्मृतियों को बाहर निकाल लाना।

जब तुम किसी दुविधा में पड़ जाते हो, आकुल हो जाते हो, जब तुम्हें भ्रान्ति हो जाती है और जब तुम्हारे अन्दर ज्ञान की स्वच्छता का अभाव हो जाता है कि किस प्रकार अमुक कठिन समस्या को हल किया जाय तो स्वभावतः तुम अपनी कठिनाइयों कोइस (चित्त) के समक्ष उपस्थित कर दो और इसको निश्चित आदेश दे दो। प्रातःकाल उठते ही तुम्हारी समस्या का निश्चित हल प्राप्त हो जायगा। इसका प्रयोग करो; दो-चार बार अभ्यास करने पर तुम्हें आशातीत सफलता प्राप्त होगी। तुम्हें अनुभव हो जांयगा कि अधीन-सचेतन-मन सच्चा मित्र बन गया है।

जिस व्यक्ति की धारणा-शक्ति दीर्घायु और स्वस्थ है, वह भारी-से-भारी काम भी पलक मारते ही कर देता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी कार्य को कुछ ही समय में सीख सकता है और किसी भी कला को अल्प-काल में ही ग्रहण कर सकता है। डा० जान्सन् की विशेषता थी कि वे अनेकों प्रकरणों को कुछ देर में लगातार दुहरा दिया करते थे। उनकी धारणा-शक्ति पर उनकी माँ आश्चर्यचकित हो जाया करती थीं; जबकि जान्सन् चन्द मिनटों में पाठ याद कर लिया करते थे। अतः धारणा-शक्ति की उन्नति करनी चाहिये; इससे अनेकों व्यापार सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाया करते हैं।

बाबू भगवान् दास-लिखित 'प्रणव वाद' की भूमिका में लिखा है कि उन्होंने एक पण्डित से (जो जन्मान्ध था) सभी गीतों को सुन कर एक विशाल ग्रन्थ लिखा। वह व्यक्ति जन्मान्ध था, पर उसे अनेकों पुस्तकों के पन्ने अच्छी तरह कण्ठस्थ थे। ऐसे अनेकों आश्चर्य हैं जिनको सुन कर हमें दाँतों तले अंगुली दबा देनी पड़ती है।

प्राचीन काल में संस्कृत के विद्वान् वेदों को मुखाग्र कर लेते थे। शिक्षा की उस (गुरुकुलीय) प्रणाली में एक विशिष्ट सौन्दर्य था; वह (सौन्दर्य) था—स्मृति-शक्ति को अप्रत्याशित सीमा तक विकसित करने की क्षमता। अभी भी ऐसे पण्डित विद्यमान् हैं, जिनके लिये वेद-वेदान्त और सभी शास्त्र हस्तामलकवत् हैं। गुरुकुलीय प्रणाली के आधार पर शिक्षा देने से विद्यार्थी की स्मृति-प्रतिभा को पूर्ण वल मिलता है। इस दृष्टिकोण से आज के विश्वविद्यालयीय छात्र प्राचीन विद्यार्थी समुदाय की बरावरी नहीं कर सकते।

स्मृति-प्रतिभा के विकास के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। खान-पान में सुचर्या का पालन और इन्द्रियों का संयम धारणा-शक्ति के विकास में अति आवश्यक समझा जाना चाहिए। वीर्य, बुद्धि तथा चित्त का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः जो लोग धारणा-शक्ति का विकास करना चाहते हैं, वे अवश्यमेव वीर्यधारण का अभ्यास कर लेवें। वीर्य के रूप में जीवन-शक्ति का पतन हो जाने से स्मृति का लोप होने लगता है। आजकल के नवयुवक ब्रह्मचर्य के महत्व को नहीं समझते हैं। वे अविद्या के अन्धकार में भटकते रहते हैं। उनके दिमाग नग्न चित्रों तथा अश्लील-प्रसंगों से भरे रहते हैं। उनका समय

उपन्यास पढ़ने में ही व्यतीत हो जाता है। अनेकों मार्गों से उनकी विषय-वासना उभरती रहती है। कुसङ्ग के कारण उनमें सद्ज्ञान का अभाव होता है। मिथ्याभिमान, हठ और स्वेच्छाचार उनके स्वभाव के लिए कोई नवीन नहीं। सन्तों-महात्माओं की सङ्गति में जाना तो दूर रहा, वे कभी सत्सङ्गति की इच्छा नहीं रखते। जब तक वे सन्तों की सङ्गति नहीं करेंगे, तब तक किस प्रकार उनके मन में आत्म-विकास की भावना जागृत हो सकेगी ?

ऐसे लोगों के जीवन में किसी प्रकार के नियम नहीं हुआ करते—न खाने का नियम, न पीने का नियम और न किसी प्रकार के अन्य व्यावहारिक नियम! 'भोजन का शरीर और मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है'—यह सत्य उनकी समझ में आता ही नहीं। यही कारण है, जिससे वे लोग जीवन में असफलता पाते हैं; निराश तथा दुःखी होकर अन्धकारमय जीवन व्यतीत करते हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्य की साधना कर रहे हैं, जिनका इन्द्रियों पर संयम है, जो साधु तथा सन्तों की सङ्गति में रह रहे हैं, वे सदा सुरक्षित रह सकते हैं। वे ही जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों से भूल-चूक में कुछ गलती भी हो जाय तो सत्सङ्ग द्वारा उसका परिष्कार हो जाता है।

'साहचर्य-विधान' और स्मृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हाथ की घड़ी से तुम्हें अपने मित्र का स्मरण हो आता है, जिसने वह घड़ी तुम्हें उपहार में दी थी। घड़ी के सम्पर्क से तुम्हें मित्र की याद आई।

'चार' शब्दान्त एक शब्द से—समाचार, सदाचार, आचार, उपचार, अनाचार, दुराचार तथा अन्य चारान्त-शब्दों का स्मरण हो आता है।

'वान्' शब्दान्त शब्दों में स्वतः भगवान्, पहलवान्, गाड़ीवान् , पकवान तथा अन्य 'वान्' शब्दों का स्मरण हो आता है।

एक वस्तु का जब किसी दूसरी विजातीय वस्तु से सम्बन्ध स्थिर होता है, वह साहचर्य-सम्बन्ध है। एक वस्तु या घटना या स्मृति को उसी प्रकार के स्वभाव वाले अन्य तत्त्व से मिला दो, स्मृति अनेकों यथानिश्चित सम्बन्धों के रूप में प्रकट होगी।

स्मृति की उन्नति के लिए अभ्यास

स्मृति के विकास के लिए यहाँ कुछ सरल तरीके दिए जा रहे हैं।

वीरासन या पद्मासन या सिद्धासन या स्वस्तिकासन या सुखासन में बैठो। नेत्रों को मूँद लो। कल्पना करो कि एक सुन्दर विशाल उपवन है। उस उपवन के एक कोने में चमेली का फूल है, दूसरे कोने में गुलाब, तीसरे में चम्पा, चौथे में कुमुदिनी।

पहिले चमेली के विषय में विचार करो, तब अपने मन को गुलाब के फूल पर, तब चम्पा और अन्त में कुमुदिनी की ओर आमुख करो। पुनः मन को चमेली की ओर ले जाओ। इसी तरह मन को दो या तीन मिनटों तक घुमाते रहो।

रात को आकाश की ओर एकटक देखकर, एक छोटे से क्षेत्र में तारों की गणना कर लो। पिछले बुधवार को प्रातः

काल में क्या खाया और सायंकाल में क्या खाया—स्मरण करने का प्रयत्न करो। कल तुम किन-किन व्यक्तियों से मिले —क्रमवार सोचो।

गीता का एक मुख्य श्लोक पढ़ लो। उसी के समान (समानान्तर) उद्धरणों को रामायण, भागवत, उपनिषद्, योगवाशिष्ठ और बाइबिल् में खोजो। उन उद्धरणों को मिला दो और उन्हें अपने दिमाग के अन्तःपुर में सन्निहित रखने का प्रयत्न करो।

"बैं-नी-ह-पी-ला-गु' अक्षरों का स्मरण करो। नाना प्रकार के रङ्गों को याद करने का प्रयत्न करो; जैसे बैंगनी, नीला, हरा, पीला, लाल और गुलाबी। अपनी स्मृति में किसी विषय-विशेष को समस्थिर रखने के लिए, इसी प्रकार के नवीन शब्दों की गुप्त भाषा या संहिता-शब्द बना लो। प्रत्येक का अपना संहिता-शब्द अलग-अलग हो सकता है।

आलंकारिक शब्दों सहित वाक्य-रचना करो। यह स्मरण-शक्ति के विकास का सुन्दर साधन है। 'ज' से या 'भ' से या 'द' से आरम्भ होने वाले शब्दों से बने वाक्यों या श्लोकों को पूछ-खोजकर कण्ठस्थ करो। जैसे माघ कवि के निम्न-लिखित चरण। ऐसे ही अनेकों एकाक्षर पाद याद कर लो।

जजौजोजाऽऽजिजिज्जाजी तं ततोऽतितताऽतितुत्।
भाऽऽभोऽभीभाऽभिभूभाभूराराऽरि ररिरीररः॥ सर्ग-२॥

भूरिभिर्भरिभिर्भीरा भूभारेरभिरेभिरे।
भेरीरेभिभिरभ्राऽऽभैरभीरुभिरिभैरिभाः॥ १६-६६॥

दाददो दुद्द ददवी दादादो दूददीददोः ।
दुद्दावं ददवे दुद्द ददाऽददददोऽददः ॥ १६-११४ ॥

जप, ध्यान, कीर्तन, प्रार्थना, शीर्षासन और प्राणायाम के अभ्यास से भी स्मृति का विकास किया जा सकता है। इनके अभ्यास से बौद्धिक सामर्थ्य की उन्नति की जा सकती है। शीर्षासन से ब्रह्मचर्य में अतीव सहायता मिला करती है। जप और ध्यान करने से अपने अन्दर सात्त्विकता प्रकट की जा सकती है और प्राणायाम की सहायता से अनेक शारीरिक विकलताओं का निवारण किया जा सकता है।

स्मृति की उन्नति के लिए इन सिद्धान्त-विषयों का उच्चारण भी लाभप्रद है :—

(१) मेरी स्मृति शक्तिशालिनी है, ॐ ॐ ॐ।

(२) मैं प्रत्येक प्रसङ्ग को पूर्णतः स्मरण रख सकता हूँ, ॐ ॐ ॐ।

(३) मेरी स्मरण-शक्ति में आशातीत विकास हुआ है, ॐ ॐ ॐ।

(४) मेरी स्मृति स्थिर और दीर्घायु है, ॐ ॐ ॐ।

इन सूत्रों को प्रतिदिन दुहराओ। प्रातःकाल और रात को अनेकों बार इन सिद्धान्तों का उच्चारण करो। तुम्हें प्रतीत होगा कि तुम प्रतिदिन आश्चर्यजनक उन्नति करते जा रहे हो।

एक नोट-बुक रख लो। जो-जो काम तुमने दिन में करने हैं, उनको (नोट-बुक) में प्रातःकाल के समय अङ्कित कर लो। रात्रि को निरीक्षण करो कि तुम उन सब कामों को कर

चुके हो या नहीं। जो-जो काम सम्पन्न हो चुके हैं, उनमें सही के निशान लगाते जाओ।

ताशों की एक गड्डी ले लो। उनमें से ६ ताशों को बाहर निकाल कर, सावधानी से प्रत्येक ताश को बारीवार देख लो। अब उनको बन्द कर दो। एक कागज पर (अपनी याद से) उन ताशों के क्रम लिखो। इस प्रकार का अभ्यास करते-करते ताशों की संख्या १२ तक बढ़ाई जा सकती है और एक बार उन ताशों के क्रम को देखते ही उनको बिना देखे अङ्कित कर देने की योग्यता होनी चाहिए।

किसी आराम कुर्सी पर बैठ जाओ। मन में अपने पिता जी के चित्र का ध्यान करो। नेत्रों को मूँद लो। मन ही मन उनके सभी शारीरिक लक्षणों और शरीर के अवयवों की विशेषता का सूक्ष्म वर्णन करने का प्रयत्न करो। किसी महा-पुरुष को एक बार देख चुकने के बाद, उनके विशेष गुणों और आकृति को अपने मन में उतार लाने की चेष्टा करो।

पर्यायवाची समानार्थक शब्दों को याद रखने का अभ्यास करो। इस अभ्यास से शब्द-कोष में भी वृद्धि होगी और सुन्दर लेख लिखने तथा स्वच्छ भाषण देने में सहायता भी मिलेगी। तुम एक अच्छे सम्पादक हो कर अच्छी पुस्तकों की रचना करने में सफल बन सकोगे। एक शब्द मन में लाकर साहचर्य-विधान के अनुसार तद्सम्बन्धी दूसरे शब्दों से उसका संयोग करो। 'करुणा' शब्द का स्मरण कर उदारता, शिष्टता, सज्जनता, भद्रता तथादि सद्गुणवाची शब्दों को खोज निकालने का यत्न करो। 'काफी' शब्द का विचार आते ही मन में नीलगिरि की पहाड़ियों का विचार आना चाहिए एवं 'स्टेन'

की कम्पनी का विचार भी। इसी प्रकार कम्पनी के संस्थापक का स्मरण हो आवेगा।

समानता या सादृश्य-सम्पर्क से संसार के अन्य देशों का स्मरण कर सकते हो, जहाँ काफी की खेती की जाती है। तुरन्त काफी के समान अन्य पेयों का स्मरण हो आना चाहिए तथा किस प्रकार वह व्यापार चला, कौन उसका संस्थापक था तथा कहाँ-कहाँ उसकी खेती होती है—यह सब स्मरण हो आना चाहिये।

इस प्रकार (कभी-कभी) ऐसे विचारों से साक्षात्कार होगा, जिनको तुम डायरी में नोट किये बिना नहीं रह सकोगे।

बम्बई या कलकत्ते के किसी व्यापारिक स्थान में शाम के समय टहलते हुए मन-ही-मन यह नोट कर लो कि कौन दुकान कहाँ पर, किस तरतीब से है और किस दुकान में क्या हो रहा है। उनकी कुछ विशेषताओं को भी मन में अङ्कित कर लो। घर आ जाने के बाद एक नोट-बुक में उन दुकानों का यथाक्रम विवरण नोट कर लो। दूसरे दिन पुनः वहीं पर जाकर अपने विवरण को मिलाओ।

भिन्न-भिन्न वस्तुओं के निर्माताओं के नाम और उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के तत्कालीन मूल्यों को याद रखने का अभ्यास करो। संसार के प्रसिद्ध दार्शनिकों के नामादि याद रखो। उनकी शिक्षाओं और कार्यों को याद रखने का यत्न करो। शङ्कर, रामानुज, केण्ट, प्लेटो आदि दार्शनिकों का पूरा जीवन-चरित्र याद रखो और उनके दर्शन की सम और विषम तुलना करो। ऐसा करने से स्मृति में सूक्ष्म गुणों का आविर्भाव

होगा। स्थूल वस्तुओं को याद रखना सरल है। अनेक विशेष घटनाओं को भी आसानी से याद किया जा सकता है। अनेक विशिष्ट व्यक्तियों का स्मरण भी किया जा सकता है। एक की याद आते ही साहचर्य-विधान से सम्पर्कजनित अनेक पदार्थों और घटनाओं का स्मरण हो आता है। स्मृति, दर्शन और श्रवण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन उसी विषय पर विचार करता है, जिसको देखा या सुना हो। जिसने दर्शन और श्रवण-शक्ति का विकास कर लिया है, उसकी स्मरण-शक्ति का विकास भी सत्वर हो जाया करता है।

किसी पुस्तक के एक या दो पृष्ठ पढ़ो। पढ़ने के बाद वन्द कर लो और अपने मन में मुख्य-मुख्य बातों को लाने की चेष्टा करो। पुस्तक में दिये गये विषय का वर्णन अपनी भाषा में लिख डालो। उन प्रकरणों की तुलना दूसरी पुस्तक के प्रकरणों से करो। दोनों में अन्तर निकालो। तदनन्तर अपना निष्कर्ष और अनुमान निकालो। इस अभ्यास से स्मरण-शक्ति का आश्चर्यजनक विकास होगा और किसी भी प्रकरण को दीर्घकाल तक याद रखा जा सकेगा।

जव तुम कोई पुस्तक पढ़ते हो तो उसके सुन्दर प्रकरणों के एक ओर लाल पेंसिल से रेखा खींच दो। असावधानी से अक्षरों के ऊपर पेंसिल नहीं फेरनी चाहिए। पुस्तक का अध्ययन कर चुकने पर उन रेखाङ्कित उद्धरणों को एक नोट-बुक में अङ्कित कर लो। सप्ताह में एक बार (अवश्य) उनकी पुनरावृत्ति करते रहना चाहिए। पुस्तकों का अध्ययन करते समय अपने साथ एक शब्दकोष अवश्य रखना चाहिए। (अनुमान लगा कर) किसी शब्द का स्वतन्त्र अर्थ नहीं करना

चाहिए। जो शब्द समझ में नहीं आता, उसका अर्थ शब्दकोष में खोज लेना चाहिए। प्रारम्भ में यह अभ्यास श्रमपूर्ण सिद्ध होगा; किन्तु अभ्यास होते-होते तुम्हें इससे अतीव लाभ मिलेगा। बहुत से आलसी विद्यार्थी पन्ने उलटते हुए आगे चले जाते हैं; न शब्दकोष देखते हैं और न प्रकरणों को कापी में अङ्कित करते हैं; फल यह होता है कि उनको वह बात याद नहीं रहती। वे पहले दिन के पढ़े हुए प्रकरण को दूसरे दिन ही भूल जाते हैं। जो विद्यार्थी ऊपर लिखे हुए तरीके से अध्ययन करते हैं, वे कभी भी अपना पाठ नहीं भूल सकते। सच पूछो तो वे ही विद्वान् बनते हैं। उनका शब्द-ज्ञान अत्यन्त विशाल होगा और उनकी भाषण-पटुता आश्चर्य-जनक होगी। वे अच्छे सम्पादक और साहित्यिक बन सकेंगे।

स्मरण-शक्ति को संस्कृत में 'स्मृति-शक्ति' कहा जाता है। स्मरण-शक्ति के लिए धारणा-शक्ति की आवश्यकता है। बातों को मन में रखने की शक्ति धारणा-शक्ति कही जाती है।

सोने से पहिले दस मिनट तक आत्म-चिन्तन करो। कुर्सी पर आराम से बैठ जाओ। अपनी आँखों को बन्द कर लो। दिन भर में जो-जो अच्छे या बुरे कार्य किए हों, उनको सोचो। उन सभी गलतियों को सोचो, जिनको जान कर या अनजान में किया हो। पहिले-पहल अपने कार्यों में से एक या दो गलतियाँ न भी निकाल सको तो कोई बात नहीं; क्योंकि तुम्हें ऐसा करने का अभ्यास नहीं है; लेकिन प्रतिदिन के नियमित और क्रमिक अभ्यास से तुम दैनिक कार्यों में से गलतियों को खोज निकाल सकोगे। मन के अन्दर के कार्यों का निरीक्षण करने से मन सूक्ष्म और तेज होता है। इससे मन अधिकाधिक

अन्तर्मुख होता जाता है। यह अभ्यास पलक मारते ही कार्यों का विश्लेषण कर सकता है, उनकी छानबीन कर लाता है, उनको एकत्रित कर सकता है और उनकी स्पष्ट सूची हमारे सामने रखता है। इस अभ्यास से स्मरण-शक्ति तीव्र होगी। अपनी दैनन्दिनी में हर रात को या दूसरे दिन सुबह पूरे दिन की गलतियों तथा विशेषताओं को अङ्कित करो। एक दिन ऐसा भी आएगा, जब अपने पूरे दिन के कार्यों की सूक्ष्म छानबीन करने पर भी तुम एक गलती तक नहीं खोज सकोगे। जब मैं दैनन्दिनी की बात सोचता हूँ तो मुझे तुरन्त बेंजामिन् फ्रैंकिलन् का स्मरण हो आता है। वे डायरी रखने के कायल थे।

गीता के अठारह अध्यायों को अनेक बार पढ़ो। भिन्न शीर्षकों के अनुसार श्लोकों को याद करने की चेष्टा करो। सोचो कि गीता में कौन-कौन से श्लोक विवेक की व्याख्या करते हैं; कौन-कौन से श्लोक वैराग्य, सदाचार, गुणों के विकास, तपस्याओं के तीन भेद, भोजन के तीन भेद तथा अन्य विषयों का विवेचन करते हैं। उन श्लोकों को याद रखो, जो प्राणायाम, मन की एकाग्रता, भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग आदि का वर्णन करते हैं। साथ-साथ उन श्लोकों को मन में भर कर मन के विभिन्न स्थलों पर उनका वर्गीकरण करना होगा। स्मृति की उन्नति के लिए यह भी एक तरह का अभ्यास है। किसी भी प्रकार के अभ्यास को अपनी रुचि, प्रकृति और योग्यता के अनुसार चुना जा सकता है।

फुटबाल या क्रिकेट् के मैच में जाकर ध्यानपूर्वक प्रत्येक विशेषता का विचार करो और घर आकर उसका याथातथ्य

विवरण लिखने का अभ्यास करो। विवरण लिखने के उपरान्त उसे दुहरा लो और सुधार कर लो। सुधार करने के अनन्तर उसकी शुद्ध प्रति तैयार कर लो।

अपने पास सदा कागज और पेंसिल रखना चाहिए; यह अच्छी आदत है। जो इस जीवन में महान् बनना चाहते हैं, वे हमेशा (चलते हुए भी) साधारण घटनाओं तक में किसी विशेषता को लक्ष्य कर अपनी डायरी में नोट कर लें। जो लोग संकेत-लिपि जानते हैं, वे उसका उपयोग कर सकते हैं। इससे दो लाभ होंगे ; लिपि का अभ्यास भी बना रहेगा और साथ-साथ नोट भी होता जायगा। जब-जब अवकाश मिले, उन नोटों को सुधार और घटा-बढ़ा कर सुन्दर प्रबन्ध तैयार किया जा सकता है।

जब-जब मन में कुछ अच्छे विचार प्रकट हों, अथवा जब-जब विशेष विचार उदय हों, तुरन्त उन्हें नोट-बुक में अङ्कित कर लिया जाय। यही आदत जीवन के सभी कार्यों और प्रयासों में सफलता की कुञ्जी है। इस अभ्यास का विकास करो। अनुभव करो और सुखी रहो। केवल सिद्धान्तों को रटने अथवा बक देने से काम नहीं चलेगा। एक व्यावहारिक मनुष्य बन जाना चाहिए। मैं सदा इस बात पर जोर दिया करता हूँ और कहते-कहते कभी थकता नहीं। मैं तुम्हें प्रशंनीय आदर्शों का एक महान् व्यक्तित्व सिद्ध कर देना चाहता हूँ और अभी इस क्षण—अज्ञात भविष्य में नहीं—एक महान् व्यक्ति बनाना चाहता हूँ। मेरी बातों पर पूरा ध्यान दो। मैं एक सरल तरीका जानता हूँ, जिसका प्रयोग कर प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से उन्नति के शिखर पर जा पहुँचता है। मुझमें सेवा

की तीव्र उत्कण्ठा है, पर मैं ठीक प्रकृति के साधकों को नहीं पाता हूँ। यदि तुम ध्यान दे कर मेरे तरीकों को हासिल कर सकोगे तो निकट भविष्य में ही जन-शिरोमणि बन सकोगे।

सभाओं में जाया करो, वहाँ जो-जो भाषण सुनो, उनको अपनी भाषा में अङ्कित करते जाओ। घर में उनकी शुद्ध प्रतियाँ तैयार कर किसी स्थानीय समाचार-पत्र में प्रकाशित होने के लिए भेज दो। तुम अल्पकाल में ही प्रथम श्रेणी के सम्वाददाता और योग्य सम्पादक बन सकते हो। बद्री नारायण या गङ्गोत्री या गोमुख की—जहाँ से गङ्गा का उद्गम होता है—यात्रा करो और जो कुछ रास्ते में देखो, लिखते जाओ। यह संस्मरण किसी भी पत्र में प्रकाशित करवा सकते हो। नित्यप्रति समाचार-पत्र पढ़ते हो तो उसके सम्पादकीय लेख भी अवश्य पढ़ो; उन पर अपने स्वतन्त्र विचार लिखने की चेष्टा करो। उन विचारों को उसी पत्र के सम्पादक के पास भेज दो। इस प्रकार के अभ्यासों से धारणा-शक्ति का अपूर्व विकास हो सकेगा।

स्मृति की उन्नति के लिए एक दूसरा अभ्यास भी है। कुर्सी पर आरामपूर्वक बैठ जाओ। संसार के सबसे समृद्ध धनी व्यक्तियों के नाम याद रखने का प्रयत्न करो; जैसे हैदराबाद के निज़ाम, राक्फैलर्, फोर्ड इत्यादि। संसार की सबसे बड़ी नदियों—आमेज़न, नील, ब्रह्मपुत्र का स्मरण करो। भारत की सात पवित्र नदियों के नाम—गङ्गा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी—भी याद किये जा सकते हैं।

नियाग्रा और शिवसमुद्रम् के जल-प्रपातों को याद रखो। गंजम जिले में चिलका और हिमालय में मानसरोवर झील है,

यह स्मरण करो। कवियों के नामों का स्मरण करो, जैसे कालिदास, वर्ड्सवर्थ, मिल्टन्, शेक्सपियर, कीट्स इत्यादि। निबन्ध-लेखकों में जान्सन् और इमर्सन्, दार्शनिकों में शङ्कराचार्य, रामानुज, कैण्ट, हेगिल्, प्लेटो; वैज्ञानिकों में न्यूटन्, बोस, रमण और ईन्स्टीन; ज्ञानियों में शङ्कर, दत्तात्रेय, याज्ञवल्क्य और जड़ भरत; योगियों में ज्ञानदेव, भर्तृहरि, त्रिलिङ्ग स्वामी और सदाशिव ब्रह्म; भक्तों में गौराङ्ग महाप्रभु, तुलसीदास, हाफिज़, मीरा आदि; पञ्चकन्याओं में कुन्ती, द्रौपदी, मन्दोदरी, अहल्या और अनसूया; सप्तर्षियों में अत्रि, भृगु, वशिष्ठ, गौतम, कश्यप, पुलस्त्य और अङ्गिरा; सात चिरञ्जीवियों में अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृप और परशुराम; बारह ब्रह्मविद्या-गुरुओं में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौड़पाद, गोविन्दपाद, शङ्कराचार्य और कृष्ण का स्मरण करो। इस प्रकार के अभ्यास से धारणा-शक्ति को बल मिलेगा।

अधीन-सचेतन-मन से काम लेने की कला का पूरा ज्ञान होना चाहिए। यदि शेक्सपियर के किसी नाटक में कोई बात भूल गए हो तो बिछौने पर बैठ कर, रात को सोने से कुछ पहिले, अपने चित्त को निश्चित आदेश दो। जिस प्रकार तुम किसी मित्र या नौकर से बातचीत करते हो, उसी प्रकार अधीन-सचेतन-मन से भी कर सकते हो। तुम उससे इस तरह कह सकते हो, "देखो भाई, मैं कालेज में पढ़े हुए शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' और 'ऐज़ यू लाइक इट्' के अमुक (१) प्रकरणों को भूल गया हूँ। उनको अब मेरी स्मृति में जल्दी ले आओ। मुझे कल को प्रातःकाल ही उन प्रकरणों

की आवश्यकता है। जल्दी करो।" स्पष्ट शब्दों में आज्ञा दो। दूसरे दिन सुबह के समय तुम्हारे समक्ष स्पष्ट उत्तर आ जायगा। यदि ऐसा न हुआ तो दूसरे दिन फिर वही आज्ञा दो। तीसरे दिन अवश्य उत्तर मिल जायगा। कभी-कभी अधीन-सचेतन-मन बड़ा व्यस्त रहता है और दिमाग भर जाता है। काम के अधिक बोझ तथा अन्य तनावों के कारण दिमाग पर दबाव और तनाव रहते हैं। अतः शान्त मन से प्रतीक्षा करनी होगी। एक या दो बार आदेश अवश्य दुहराने होंगे। प्रारम्भ में तो अधीन-सचेतन-मन को पर्याप्त समय अवश्य देना होगा। उसे बहुधा तङ्ग भी नहीं करना होगा। अभ्यस्त न रहने से वह प्रारम्भ में तुम्हारे आदेशों को साफ-साफ नहीं समझ सकता है।

न्यायाधीश को गवाहियों का सारांश लिखना पड़ता है और न्याय की तैयारी करनी होती है। उसका दिमाग कभी-कभी संशय-भ्रमित हो जाता है। वह घबड़ा उठता है। उसका निर्णय किसी निश्चित समाधान पर नहीं पहुँच पाता है। ऐसी अवस्था में अधीन-सचेतन-मन यदि सुशिक्षित रहा तो उसके लिए अत्यन्त सुन्दर रीति से काम कर सकेगा, सभी बातों की व्यवस्था पूर्ण नियम के साथ कर, उसके समक्ष एक स्पष्ट उत्तर ला देगा।

जिन बातों में विचार और विवेचन की अधिक आवश्यकता है, उनके लिए तुमको अधीन-सचेतन-मन की सहायता मिलेगी। किन्तु इसके लिए कुछ दिन तक प्रतीक्षा करनी होगी। हर रात अपने मन को आज्ञाएं देनी होंगी और दूसरे दिन परिणामों को देखना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि

नित्यप्रति विविध प्रकार की आज्ञाएं दे देकर अधीन-सचेतन-मन को तङ्ग करने लग जाओ। विषय-विशेष ले कर नित्य-प्रति एक या दो आज्ञाएं दुहराओ। मन के सामने उन सभी बातों को रख देना होगा, जिनका तुम समाधान चाहते हो।

दिलचस्पी से स्मृति का विकास होता है

डाक्टरों को चिकित्सा-कोष में उल्लिखित औषधियों और चिकित्सा-सम्बन्धी विषयों का खूब स्मरण रहता है, क्योंकि वह रोगों की चिकित्सा में पर्याप्त दिलचस्पी लेते हैं। किन्तु राजनीति के विषय को याद रखना उनके लिये सम्भव नहीं ; क्योंकि इस ओर उनकी रुचि नहीं है। वकील को ही देखिये, वह न्याय के सभी विधानों को याद रखता है। किन्तु उससे पिछले महीने हुई क्रिकेट मैच की बात पूछिये, वह कुछ नहीं बतला सकेगा ; क्योंकि इस ओर उसकी दिलचस्पी नहीं है।

अतः रुचि (दिलचस्पी) का होना जरूरी है, तब स्मृति आप-से-आप अनुसरण करेगी। जिस विषय को याद रखना चाहते हो, उसमें रुचि पैदा करने का प्रयत्न करो ; तब स्मृति स्वयं ही उस विषय का प्रकाशन करेगी। दूसरी बात यह कि सभी विषयों को याद रखने के लिए उन सभी विषयों में रुचि उत्पन्न करनी होगी और लगभग सभी का साधारण ज्ञान भी प्राप्त करना होगा। प्रत्येक के मन में अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति बनने की महती आकांक्षा होनी चाहिये।

स्वास्थ्य और मन

स्वस्थ मनुष्य की स्मरण-शक्ति अच्छी होगी। दुबले, पतले और कोमल शरीर वाले मनुष्य की स्मृति खराब होगी। स्वस्थ

शरीर स्मृति की उन्नति में अपना सहयोग देता है। इसीलिए उचित भोजन और व्यायाम से उत्तम स्वास्थ्य, साहस और वीर्य-शक्ति की प्राप्ति करो।

ब्रह्मचर्य, आहार, सत्सङ्ग और बहुत सी बातों का (जो अब तक बतलाई गई हैं तथा आगे भी बतलाई जाती रहेंगी) अभ्यास कर अक्षय और स्फूर्त-स्मृति का लाभ करो।

दर्शन और श्रवण-शक्ति का विकास किस प्रकार ?

शरीर की इन्द्रियों का उपयोग उचित रीति से न किया जाय तो वे दुर्बल हो जाया करती हैं। जिस प्रकार हाथ और पैरों का विकास तत्सम्बन्धी व्यायामों से होता है, और योग्य आहार न मिलने तथा असत् व्यवहार से उनका क्षय—उसी प्रकार इन्द्रियजनिय दुर्बलता से शरीर के अन्य अवयव कार्य-विरत होने लगते हैं। दृश्य और स्मृति, श्रवण और स्मृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति की तीव्र दृष्टि है, सूक्ष्म उपलब्धि है, दृश्य और श्रवण-शक्ति बलवान् है, उसकी स्मृति उत्तम कोटि की होगी।

इन बाहरी अङ्गों की प्रतिमूर्त्तियाँ सूक्ष्म शरीर में स्थित रहती हैं। योगी दिव्य दृष्टि द्वारा दूर की चीजें देखता और आन्तरिक शक्ति द्वारा दूर की बातें सुनता है।

लोग प्रायः बहुत असावधान रहा करते हैं। उनमें महान् वस्तुओं को सीखने और ज्ञान के सञ्चय की रुचि नहीं रहती है। हमारे देश में करोड़ों व्यक्ति ऐसे हैं, जो अपना नाम तक नहीं लिख सकते हैं। भारतवर्ष—जो बुद्धिमान् और प्रतिभा-

शाली ऋषियों और प्रबुद्ध साधुओं का देश रहा, अभी अन्य देशों की तुलना में, पूर्ण अज्ञान से भरा हुआ है। लन्दन और पैरिस का एक साधारण श्रमजीवी, जो खानों में पसीना बहा कर काम करता है, राजनीति से खूब परिचित रहता है, अखबार पढ़ता है और बहुत सी स्वदेशीय परिस्थितियों पर बहस कर सकता है। अतः वे देश सभ्य और उन्नत हैं। भारत के बहुसंख्यक लोग अज्ञान और अन्धकार के दलदल में फँसे हुए हैं। इसका मूल कारण नेताओं की लापरवाही, जनता की अभिरुचियों का अवसान, फूट और पारस्परिक प्रेम का अभाव है।

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए, योग्य वैद्य या वकील या सफल व्यापारी बनने के लिए नेत्रों और कर्णों को बहुत सीमा तक विकसित करना होगा। अन्धा या गूँगा या बहरा व्यक्ति समाज का अभिशाप ही नहीं—मृतक भी है। ज्ञान की प्राप्ति कहो या धन की—दोनों के लिए आँखों, कानों और वाणी का अवलम्बन चाहिए। इन्द्रियाँ ही ज्ञान और धन-संचय के लिए आयतन मानी जाती हैं। जगत् के सभी पदार्थों या कार्यों का ज्ञान इन्हीं दो मार्गों से होता है और वाक् इन्द्रिय से दूसरे को दिया जाता है।

राह चलते समय बहुत सतर्क रहना चाहिए। अपनी आँखों को सावधान रखना चाहिए। रास्ते में जो कुछ सुनते हो, देखते या पढ़ते हो, याद रखने की चेष्टा करते जाओ। इस प्रकार निरीक्षण-शक्ति का विकास होता रहेगा। इस अभ्यास के द्वारा धारणा-शक्ति का विकास और ध्यान का आविर्भाव भी होगा। ध्यान से निरीक्षण में सहायता मिलती

है। उत्कण्ठा की शक्ति को खेल में परिणत कर डालो। उत्कर्ष कुछ दिनों उपरान्त इच्छा के रूप में बदल जायगा। रुचि और ध्यान स्वतः आ जाएंगे।

जब कोई व्यक्ति कुछ बातें करता है तो ध्यानपूर्वक सुनो। यदि वह बात रोचक है तो उसे अपनी दैनन्दिनी में नोट कर लो। सप्ताह में एक बार दैनन्दिनी के उस पृष्ठ को अवश्य दुहराओ।

श्रवण-शक्ति के विकास के लिए अभ्यास

अपने पास एक घड़ी रक्खो और उसकी ध्वनि को ध्यानपूर्वक सुनो। दूसरे दिन उसको कुछ दूरी पर रखो और उसके शब्द को पुनः ध्यानपूर्वक सुनो। इसी प्रकार प्रत्येक दिन उसको दूर रखते जाओ और उसकी ध्वनि को ध्यानपूर्वक सुनने का अभ्यास करो। एक सप्ताह के अनन्तर एक कान को अनामिका (चौथी अङ्गुली) से बन्द कर लो और ध्यानपूर्वक शब्द सुनो। दूसरे दिन दूसरे कान को बन्द कर पहिले कान से शब्द सुनो। दूरी को बढ़ाते जाओ और शब्द को काफ़ी देर तक सुनते जाओ। कुछ काल के अनन्तर दोनों कानों को बन्द करने तथा घड़ी के दूर रहने पर भी शब्द को स्पष्ट रूप से सुना जा सकेगा।

एक दूसरा अभ्यास भी है। दोनों अङ्गूठों से दोनों कान, तर्जनी (दूसरी अङ्गुली) से दोनों आँखें, मध्यमा (तीसरी अङ्गुली) से दोनों नासिका-मार्ग और अनामिका से मुँह बन्द कर लो। इसे योनिमुद्रा कहा जाता है। बन्द करने के अनन्तर ध्यानपूर्वक अन्दर में होती हुई शब्दों की लहरों की ध्वनि को

सुनने का प्रयत्न करो। अन्दर की इस ध्वनि को अनहत ध्वनि कहते हैं। यह ध्वनि हृदय से निकला करती है और शरीर में संचरित रहती है। अभ्यास होते-होते दस प्रकार के स्वर सुनाई देंगे। वे हैं बाँसुरी की ध्वनि, मृदंग की ध्वनि, इसी प्रकार शङ्ख, घण्टी और मेघ की ध्वनियाँ। अन्य ध्वनियाँ झङ्कार के समान, किंकिणी की ताल के समान, सारङ्गी के समान, मँजीरे और ढोलक की ध्वनियों के समान सुनाई देंगी। कानों को एक शब्द से दूसरे शब्द के सुनने में लगाओ और सावधानी से भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दों के भेदों को समझो और अन्त में कानों को किसी एक स्वर के सुनने में नियुक्त और निपुण कर दो। प्रथम स्थूल शब्दों को सुनने का अभ्यास करो, बाद में सूक्ष्म शब्दों को सुनो।

तीसरे प्रकार का अभ्यास यह है। अपने कानों को गङ्गा की अनहत ध्वनि में तल्लीन करो। यह ध्वनि दीर्घोच्चारित प्रणव के समान सुनाई देगी। अपने कानों को इस ध्वनि को सुनने के लिए शिक्षित करो। इस ध्वनि को सुनने का अभ्यास रात को नौ बजे या प्रातःकाल चार बजे करो; जिस समय प्रकृति शान्त रहती है और जन-कलरव निहित रहा करता है।

अपने कानों को सदा सूक्ष्म रखो। नाना प्रकार के शब्दों के अन्तर को समझते रहो। जैसे पक्षियों और जानवरों के शब्द, लड़कों का कोलाहल, कारखानों की आवाज, मोटर गाड़ियों की ध्वनि, वायुयानों का स्वर, बाइसिकलों की सिसकार; इसी प्रकार चीखना, चिल्लाना, चित्करना, सिसकना, हँसना, चिढ़ाना, मजाक करना आदि।

एक शान्त कमरे में बैठना बुद्धिमानी का काम है। अपने कानों को बन्द कर लो और इन विभिन्न शब्दों पर मन की एकाग्रता को केन्द्रित करो। एक स्वर से दूसरे स्वर में क्या अन्तर है, समझो। अर्थात् वह योग्यता आ जानी चाहिए कि बिना देखे, किसी व्यक्ति को उसके पद-चाप से पहिचान जाओ। संसार में कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिनका स्वर एक दूसरे से मिलता है। अतः तुममें यह समझने की योग्यता होनी चाहिए कि मिस्टर बोस की बोली और मेरे चाचा की बोली, जो एक दूसरे से मिलती है, किस प्रकार एक दूसरे से अलग-अलग पहिचानी जा सकती है। दोनों के स्वरों में कौन-कौन सी लहरें समान हैं और कौन-कौन सी रागिनी में अन्तर पड़ता है—यह सब ध्यानपूर्वक समझना चाहिए। इसी प्रकार अनेकों रागों को सुनते ही पहिचानने का प्रयत्न करो। किस प्रकार के स्वरों के जागने से कल्याणी के बोल समझ में आ सकते हैं और किस प्रकार भैरवी, दीपक, मालकोश, काफी या बागेश्वरी तथादि रागों को तुरन्त पहिचाना जा सकता है। जब तुम किसी बालक को अपनी गोद में लिए रहते हो तो उसकी छाती पर कान लगा कर उसके हृदय की गति की आवाज को सुनने का प्रयत्न करो और ध्यान को एकाग्र करो।

पक्षियों की आवाजें भी ध्यानपूर्वक सुनते रहो। गौरैया की आवाज में कैसे स्वर होते हैं और किस प्रकार वह बोल आरम्भ करती है—यह सब तुम्हारे मन में तुरन्त उतर आने चाहिए। पक्षियों तथा अन्य जानवरों पर जब कभी कोई सङ्कट आ उपस्थित होता है तो वे अपने मित्रों को उसकी सूचना विशेष प्रकार के सांकेतिक शब्दों में देते हैं। उन शब्दों में या तो सावधान रहने का सन्देश रहता है या आ कर

सहायता देने का। उन शब्दों में सङ्कट की उग्रता या साधारणता का सन्देश भी निहित रहता है। ध्यानपूर्वक कुछ दिन सुनते और गौर करते रहने से तुम उन सबको समझ जाओगे। अनेकों व्यक्ति ऐसे हुए हैं जो पक्षियों तथा अन्य जानवरों की भाषाओं को समझ सकते थे।

तुम जिस प्रकार स्त्री और पुरुष की बोली में अन्तर समझ पाते हो, दीर्घकाल तक पशुओं की बोली और उनके हाव-भाव तथा परिस्थिति का निरीक्षण करते रहने से उनके संकेतों को ठीक उसी प्रकार समझ सकोगे, जैसे मनुष्य की बोली को समझने की क्षमता रखते हो। विभिन्न प्रकार के स्वरों पर सम्यक् धारणा और ध्यान की साधना करने पर उनकी विशिष्ट पद्धति को समझा जा सकता है।

कई आदमियों का स्वर स्त्रियों के समान होता है और कई स्त्रियाँ मर्दों के समान मोटा बोलती हैं। इन दोनों में भेद समझने की क्षमता होनी चाहिए।

साँप के फुफकारने की ध्वनि को समझना चाहिए और उसकी फुफकार में क्या अन्तर है, यह भी अच्छी तरह जानना चाहिए। अमुक झाड़ी से आते हुए शब्द को सुन कर कैसे यह निश्चय करें कि वहाँ साँप है या छिपकली—यह जानने की चेष्टा करो।

विषय-भोग करने से पहिले और बाद में बिल्ली एक विशेष प्रकार का शब्द किया करती है। कौन शब्द किसका सूचक है, इसको समझो।

कुत्ते, घोड़े और हाथी बहुत चालाक जानवर होते हैं। उनमें साधारण चेतना होती है। वे कुछ शब्दों द्वारा हँसते,

मुस्कराते और प्रसन्नता तथा कृतज्ञता के भावों को प्रकट करते हैं। तुममें उन सब स्वरों की प्रकृति को समझने की योग्यता होनी चाहिए।

जिन अभ्यासों का वर्णन ऊपर दिया जा चुका है, उनका अभ्यास करने पर तुम अपनी श्रवण-शक्ति का आश्चर्यजनक विकास कर सकते हो। अपने व्यापार और लोक-कार्य में सुसफल हो सकते हो। क्षिप्रग्राही कानों और तीक्ष्ण नेत्रों से अधिक धन की प्राप्ति सुगमता से की जा सकती।

दृष्टि-विकास के लिए अभ्यास

जब कभी किसी आदमी से मिलो तो उसको सिर से पैर तक सावधानी से देखो और मन में इन सब बातों को नोट करते जाओ—उसकी विशेष आकृति, उसकी आँखें, उसकी भौंहें, उसके दाँत तथा उसकी भुजाएं इत्यादि। पुनः नोट करो कि वह कैसे वस्त्र पहिने हुए है, उसकी मूँछें हैं कि नहीं, सिर पर टोपी है तो किस प्रकार की है। उसकी बोली पर ध्यान दो। उसके व्यवहार, उसकी भाव-भङ्गिमा और उसकी गति का निरीक्षण करो। वह व्यक्ति स्वभाव से दयालु है या निष्ठुर, तेज है या सुस्त, नम्र है या उग्र, साँवला है या गोरा या काला है।

बहुत से लोग ऐसे हैं, जो अपने अन्तरिम मित्रों की आकृति का विवरण भी नहीं दे सकते। जिनके साथ वे सालों रहे हैं, उनके शरीर और आकृति में क्या विशेषता है, नहीं बतला सकते। पुत्र अपने पिता की आकृति की विशेषता नहीं कह पाता है, यद्यपि उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका प्रत्यक्ष

कारण यह है कि पुत्र ने अपनी निरीक्षण-शक्ति या स्मृति का विकास नहीं किया है। जब तक निरीक्षण-शक्ति तीव्र और असाधारण न हो, मनुष्य वैज्ञानिक नहीं बन सकता। वैज्ञानिक को प्रकृति में घटने वाली सूक्ष्मतम घटनाओं तक का निरीक्षण करना पड़ता है, तभी वह निष्कर्ष और अनुमान का निश्चय कर सकेगा—यदि व्यक्ति में इस शक्ति का अभाव हुआ, अथवा यह शक्ति अभ्यास द्वारा विकसित न की गई तो वह कुछ भी नहीं बन सकता।

अपने किसी मित्र की बैठक में जा कर वहाँ की प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करो और सावधानी से उन्हें अपने मन में अङ्कित कर लो। आँखों को बन्द कर एक बार पुनः उनकी यथावत् कल्पना करो। दूसरे या और किसी दिन, जब पुनः वहाँ का चक्कर लगाओ तो अपनी यादगार से उस दिन की और आज की स्थिति का मिलान करो—कौन चीज उस दिन कहाँ थी और आज वहाँ पर है या नहीं; कौन चीज नई आ गई है तथा कौन चीज अपनी जगह पर से हटा दी गई है। यह केवल मित्र के कमरे में नहीं अपने घर की रसोई में भी किया जा सकता है। यह अभ्यास दीर्घ काल तक करते रहना चाहिए। इस अभ्यास को अनेकों प्रकार से किया जा सकता है। फुलवाड़ी की स्थिति, मित्रों के वस्त्र, घर की चीजें तथा मित्रों के बैठक-घर की सजावट—इन सब का अभ्यास किया जा सकता है।

किसी स्थानीय पुस्तकालय में जाकर यह जानने की चेष्टा करो कि कौन सी पुस्तक कहाँ पर रहा करती है। ऐसा नित्य करो। जिस दिन कोई पुस्तक अपने स्थान पर न हो, तुरन्त

नोट् कर लो अथवा जिस दिन कोई नवीन पुस्तक अलमारी के उस स्थान पर रख दी गई हो, उसको भी नोट् करते रहो। आरम्भ में यह अभ्यास किञ्चित् कठिन है, किन्तु अभ्यास करते-करते वह दिन भी आ सकता है, जिस दिन तुम अल्मारी को देखे बिना, उसमें रखी हुई पुस्तकों का क्रमवार विवरण दे सकोगे कि कल अमुक-अमुक पुस्तकें वहाँ पर अनुपस्थित थीं और अमुक-अमुक नवीन पुस्तकें रखी गई थीं। यदि ऐसा हो गया तो समझ लो कि दर्शन-शक्ति का धारणा-शक्ति और स्मरण-शक्ति से संयोग हो चुका है और तीनों शक्तियाँ परस्पर अपूर्व सहयोग के साथ कार्य कर रही हैं।

श्रीनगर में एक अन्धा व्यक्ति रहता था, जो वस्त्रों के रङ्गों का निश्चय केवल स्पर्श द्वारा ही करता था। स्पर्श-शक्ति के विकास की क्या ही आश्चर्यजनक सीमा है। यह सब शिक्षा की ही विशेषता है। रात को देखने की शक्ति मन्द हो जाती है, पर सुनने की शक्ति का विकास हो जाता है। यह प्रकृति की केन्द्रीयकरण-विधि है। बहुत से बहरे और गूंगे व्यक्ति तीव्र अनुभवी और प्रखर प्रतिभाशाली होते हैं। वे प्रेस में कम्पोज़ीटर हो कर अच्छा काम करते हैं। जब एक इन्द्रिय कार्यविरत हो जाती है या कर दी जाती है तो दूसरी इन्द्रिय में उसकी शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है, अतः दूसरी इन्द्रिय की शक्ति का विकास हो जाता है। कार्यविरत इन्द्रिय की शक्ति दूसरी इन्द्रिय के द्वार से प्रकाशित और व्यवहृत होती है। अभ्यास से उसका विकास और भी जल्दी किया जा सकता है।

एक सिपाही था, जो बारूद के अङ्गों के नाम ही याद नहीं रख पाता था, यद्यपि उसने लगातार कई महीनों तक

उन्हें याद रखने का प्रयत्न किया। इसका कारण स्मृति-शक्ति का कुण्ठित हो जाना है; स्मृति-शक्ति का विक्षेपावृत होना इसका कारण हो सकता है।

कचहरी में न्यायाधीश के कान क्षिप्रग्राही होने चाहिए। तभी वह अपने न्यायालयीय कार्य योग्यतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है।

सेनापति की दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण रहनी चाहिए। तभी वह पैदल सेनाओं और घुड़सवारों को देख सकता है, दूर से आते हुए शत्रु-सैन्य का निरीक्षण कर सकता है। इस शक्ति का उसमें अभाव हुआ तो वह सफल सेनापति नहीं बन सकता।

अपनी श्रवण और ध्यान की शक्तियों की उन्नति करनी होगी। इन दोनों के विकास से स्मृति की उन्नति सम्भव है और सुगम भी। कुछ लोगों में श्रवण-शक्ति का विकास अधिक रहता है और कुछ लोगों की दर्शन-शक्ति अधिक विकसित रहती है।

साँपों की शक्ति श्रवण-इन्द्रिय द्वारा प्रकट होती है। उनके कान क्षिप्रग्राही होते हैं। वे अपनी आँखों से सुन लेते हैं। उनके अलग कान नहीं होते। व्याघ्र की नाक तेज रहती है; वे रक्त की गन्ध से अपने आखेट का पता चला लिया करते हैं।

सङ्गीतज्ञों और गाने वालों के कान क्षिप्रग्राही हुआ करते हैं। उनको इनका विकास करना होता है। शब्दों की गूँज में से उनको बहुत सी विभिन्न लहरों को खोजना पड़ता है और रागिनी के भेद समझने पड़ते हैं।

इसी प्रकार अपनी रुचि और शक्ति तथा परिस्थितियों के अनुसार किसी न किसी शक्ति का विकास करते रहना चाहिए। अच्छा तो यह कि अपने व्यवसाय के अनुसार तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली शक्ति का उत्तरोत्तर विकास किया जाय। मनुष्य के अन्दर शक्ति का स्रोत छिपा पड़ा है, कुशल व्यक्ति भगीरथ-प्रयत्न से उसका विकास और उद्भव कर सकता है। जब उस शक्ति का समुद्भव होता है तो साधक कला और विज्ञान में आश्चर्यजनक उन्नति कर लेता है।

अष्टावधान

अष्टावधान का अर्थ एक ही समय आठ काम करना होता है। दशावधानी उसे कहते हैं, जो एक ही साथ दस काम करने की क्षमता रखता हो। शतावधानी संज्ञा उसकी है, जो एक ही समय सौ कार्य करने की योग्यता रखता हो। अवधान का अर्थ है ध्यान और एकाग्रता। इसमें स्मृति और एकाग्रता के सम्पुट की आवश्यकता भी है। यह वास्तव में स्मृति का एक अद्भुत और आश्चर्यजनक कर्म है।

आठों कामों को एक साथ सम्पन्न कर सकने की योग्यता वाले व्यक्ति को अष्टावधानी कहा जाता है। तुम भी एक ही समय आठ काम कर सकते हो। इसमें स्मृति और एकाग्रता के क्रमिक विकास की प्रथम आवश्यकता है।

पहले पहल एक ही समय में दो काम करने का अभ्यास डालो; धीरे-धीरे कामों की संख्या बढ़ा दो। आजकल ऐसे भी मनुष्य हैं, जो एक ही समय में आठ काम कर सकते हैं। वे शतरञ्ज के खेल की ओर ध्यान दे सकते हैं, ताश खेलते

रहते हैं, आठ या दस अङ्कों की संख्या को आठ से गुणा करते रहते हैं (केवल उत्तर निकालते हुए), आज कौन सा दिन है और क्या तिथि है—यह भी साथ-साथ बतला सकते हैं और अन्य सवालों का जवाब भी दे देते हैं।

स्कूल का अध्यापक लड़कों को गणित का अभ्यास कराते-कराते, आगे क्या सिखाना चाहिए और कैसे सिखाना चाहिए—यह सब कुछ सोचते रहता है तथा कौन-कौन से विद्यार्थी क्या कर रहे हैं; कौन-कौन विद्यार्थी उत्तर देने योग्य नहीं दीखते—यह सब जानते रहता है। यदि अध्यापक इस गुण में तत्पर नहीं हो सका तो वह सफल अध्यापक नहीं कहा जा सकता है। उसका विकास किसी सीमा तक क्यों न हो, केवल एकांगी ही है।

संगीत गाते हुए, व्यक्ति हारमोनियम के स्वरों, गीत के रागों और राग की अनेकों लहरों और विशेषताओं, हारमोनियम पर कलापूर्ण अंगुलियों की अठखेलियों, तबले वाले के बोलों के गुण-दोषों तथा श्रोताओं की भावनाओं, साथ-साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी के हाव-भावों की विश्लेषणा भी करते रहता है। यदि वह ऐसा नहीं कर सका तो सफल गायक नहीं कहा जा सकता है। वह अष्टावधानी नहीं है।

कुछ अष्टावधानियों के प्रयोग इस प्रकार हैं। वह कुछ लड़कों को एक कतार में खड़ा कर प्रत्येक का नाम पूछते हुए, उन्हें एक-एक नम्बर-विशेष दे देता है। बाद में वह किसी अन्य कार्य में लग जाता है। इस समय उन लड़कों में से कोई लड़का तुरन्त उसके सम्मुख आता है तो वह सुगमता से बतला सकता

है कि 'तुम गोपाल हो और तुम्हारा नम्बर ५ है ; तुम राम हो, तुम्हारी संख्या मैंने ८ निश्चित की थी' इत्यादि ।

मद्रास में एक डाक्टर था, जो बड़े अस्पताल में आठ कम्पाउण्डरों को एक साथ धड़ाके से आठ दवाइयाँ लिखा देता था ।

प्राचीन काल में ऐसे अनेकों व्यक्ति हुए हैं जो सौ कार्य एक ही साथ सम्पन्न करने की योग्यता रखते थे । अनेकों व्यक्ति एक ही साथ उनके सामने प्रश्नों की झड़ी लगा देते थे । कोई मौखिक स्मृति की परीक्षा लेते, कोई मानसिक गणना-शक्ति की जाँच करते और कोई विविध कला-विषयक प्रश्न पूछ लेते थे । यह व्यक्ति बिना देर किये उनका उत्तर देने में समर्थ होता था । मन की एकाग्रता की इस सामर्थ्य का प्रदर्शन न केवल बुद्धि के प्रसंग से होता है, बल्कि इन्द्रियों से भी इसका सम्बन्ध है । जो व्यक्ति शतावधानी होगा, वह विभिन्न घण्टियों के स्वरों को अपनी डायरी में यथार्थतः अंकित कर सकेगा । एक ही प्रकार की आकृति और रंग वाले पदार्थ, जो साधारण व्यक्ति को भ्रम में डाल सकते हैं, अष्टावधानी के लिए इतने स्पष्ट रहते हैं, जैसे विविध आकृतियों और रंगों वाले विविध पदार्थ । उसके सामने दो घड़ियाँ रख दीजिए, जिनका स्वर एक समान और एकदम मिलता-जुलता हो । प्रत्येक घड़ी में नम्बर लिख कर उसे एक ही बार दिखला दीजिये और साथ-साथ घड़ी भी बजा दीजिए । अब उसे दूसरे कमरे में ले जा कर किसी भी घड़ी में शब्द कीजिये । वह तुरन्त बतला देगा कि अमुक नम्बर की घड़ी का वह शब्द था ।

यदि तुम अभ्यास करो तो इस कला की प्राप्ति कर सकते हो। इसके लिए सर्वप्रथम एकाग्रता और स्मृति की उन्नति करनी होगी। अपनी इच्छानुसार किन्हीं दो चीजों को एक समय ले कर, धीरे-धीरे उनकी संख्या में वृद्धि करते जाओ। इस प्रकार क्रमिक अभ्यास से सफलता प्राप्त करोगे और तुम्हारा व्यक्तित्व उच्चतर होता जायगा।

अनेकों अवधानों का अभ्यास हो जाने से उपार्जन-क्षमता और कार्य-परायणता की योग्यता अद्भुत गति से बढ़ती जाती है।

मानसिक विश्राम

जिस तरह तुम आसनों और शारीरिक व्यायामों के अनन्तर अपनी मांसपेशियों को विश्राम देने के लिए शवासन करते हो, उसी प्रकार तुम्हें अपने मन को, एकाग्रता और ध्यान के अभ्यास के उपरान्त, स्मृति और संकल्पोन्नति के अभ्यास के बाद विश्राम देना होगा। मांसपेशियों की विश्रान्ति से मन को शान्ति पहुँचती है, उसी प्रकार मन की विश्रान्ति शरीर को विश्राम देती है। शरीर और मन एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।

भय, चिन्ता और क्रोध को विनष्ट कर दो। साहस, प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और हर्ष के विषय में सोचो। पन्द्रह मिनट के लिए शिथिलीकरण और विश्राम की अवस्था में बैठो। विश्राम के लिए तुम किसी आराम कुर्सी में बैठ सकते हो। अपने नेत्रों को मूँद लो। बाहरी पदार्थों से अपने मन को खींच लो। मन को शान्त कर लो। बुलबुले के समान जागने वाले विचारों

को शान्त कर दो। अपनी आत्मा के विषय में सोचो। पवित्र विचारों में अपने मन को बार-बार लगा दो। सोचो कि तुम आनन्द और शान्ति के सागर हो। अपनी आँखें खोलो। तुम्हें अत्यन्त मानसिक शान्ति, मानसिक उत्साह और मानसिक बल का अनुभव होगा। तुम्हें शान्त, शुद्ध और पवित्र मन की प्राप्ति होगी। अनुभव और अभ्यास द्वारा दैवी सुख का अनुभव करो। यह तुम किसी भी समय में, जब तुम्हें पसंद हो, कर सकते हो, और किसी भी जगह में, जिसे तुम चुनो। प्रति-दिन अनेकों बार इसका अभ्यास कर सकते हो।

आँखों को बंद कर लो। जो तुम्हारे मन को बहुत अच्छा लगता है, उसके विषय में सोचो। इससे तुम्हारे मन को शान्ति प्राप्त होगी। हिमालय पर्वत की सुषमा पर विचार करो। पवित्र गंगा अथवा काश्मीर के किसी नयनाभिराम दृश्य अथवा आगरा के ताजमहल, इसी प्रकार सूर्यास्त अथवा सागर की विशालता अथवा आकाश की असीमता तथा नीलिमा पर विचार करो। इससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होगी।

शारीरिक उन्नति

शारीरिक उन्नति या शरीर का विकास उतना ही प्रमुख है, जितना कि मन, संकल्प या स्मृति का विकास। यदि शरीर स्वस्थ, पुष्ट और फुर्तीला नहीं, तो कोई भी उन्नति सम्भव नहीं है। विविध-विकास स्वस्थ शरीर पर ही निर्भर रहा करते हैं। 'स्वस्थ शरीर के अन्दर स्वस्थ मन का निवास'— यह कहावत सत्य है। शरीर परमात्मा का मन्दिर है।

शारीरिक उन्नति के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। तुमको निःसन्देह अपनी आवश्यकता, रुचि और स्वभाव के अनुसार किसी एक मार्ग को चुन लेना चाहिए। जिसका शरीर अस्वस्थ है, उसे दोनों शाम टहलने जाना चाहिए। सदा अकेले टहलने की आदत होनी चाहिए। तभी तुम परम पिता परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव कर सकते हो और तभी प्रकृति के साथ तुम्हारा पूर्ण संयोग हो सकता है। प्रातःकाल टहलना लाभदायक है। शीतल वायु अत्यन्त ताजी और जीवन प्रदान करने वाली होती है।

सूर्यास्त से पूर्व ही टहलना समाप्त हो जाना चाहिए। विवाह, बरात या जलूस की गति से नहीं टहलना चाहिए। तेजी से टहलना चाहिए। प्रतिदिन कम-से-कम तीन या चार मील जरूर टहलना चाहिए। ठहलने के साथ-साथ प्राणायाम भी कर सकते हो। छः डग भरने तक पूरक करो। छः डग भरने तक कुम्भक और रेचक।

अब मैं दूसरे प्रकार के व्यायाम—दौड़ने के सम्बन्ध में कुछ बतलाता हूँ। यह परमोत्तम व्यायाम है। इसके अभ्यास से फेफड़ों का भली-भाँति विकास होता है और खून साफ हो जाता है। खुले मैदानों में दौड़ो। मैं इसे ही अधिक पसन्द करता हूँ। कुछ ही दिनों में तुम्हें इसका अभ्यास हो जायगा और स्वस्थ देह की प्राप्ति भी हो जायगी। मद्रास के भूतपूर्व प्रसिद्ध सर्जन डा० रंगाचारी प्रतिदिन खुले मैदान में दौड़ा करते थे। समुद्र-तट पर दौड़ लगाना अत्यन्त लाभदायक है। इससे फेफड़ों को जीवन-वायु प्रचुर मात्रा में मिला करेगी। दौड़ते समय 'ओ३म्' का मानसिक जप करो। यह तुम्हारी

मानसिक स्थिति को आध्यात्मिक बनायेगा। जब पसीना बहने लगे तो अपने हाथों से पसीना पोंछ कर शरीर पर ही रगड़ डालो। तौलिये का उपयोग नहीं करना चाहिए।

तैरना भी एक प्रकार का सुन्दर व्यायाम है। इससे मांसपेशियाँ फैलती हैं। कमर के दर्द में इससे आशातीत लाभ पहुँचता है। तैरते हुए प्राणायाम भी किया जा सकता है। इसका अभ्यास किसी विशाल तालाब में हो सकता है।

टेनिस् का खेल भी अच्छा व्यायाम है। इसमें दौड़ना भी होता है। यह गम्भीर गतिपूर्ण खेल है, जो मनुष्य को अधिक नहीं थकाता। यह आनन्दकर और मन को प्रसन्न करने वाला खेल है। इसमें घुटनों और अँगुलियों का विकास होता है। यद्यपि बैड्मिण्टन् को महिलाओं का खेल कहा जाता है, तथापि इसके लाभ अधिक है।

जिन लोगों के पास बल है और जो अपने वक्षस्थल, भुजाओं, कन्धों और दूसरी मांसपेशियों का विकास करना चाहते हैं, उन्हें व्यायाम-विद्या सीखनी चाहिए। इसमें सभी प्रकार की पेशियों का सन्तुलनात्मक विकास होता है। कूदना, भुजायें झुका कर चलना, दो समानान्तर डण्डों के मध्य अपने पर दबाव डालना—यह सब लाभप्रद व्यायाम हैं।

दण्ड, बैठक से शरीर के सभी अंगों का समञ्जस्यपूर्ण विकास होता है। व्यायाम करने वाला समविभक्ताङ्ग बन जाता है। इसके प्रभाव स्थाई रहते हैं। इसके अभ्यास में खर्च भी नहीं करना पड़ता। इसका अभ्यास कहीं पर किया जा सकता है।

प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार (व्यायाम) करना चाहिए। इसका विधान प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रतिदिन दो बार बतलाया गया है। इसमें न तो आयु का विचार किया जाता है और न स्त्री-पुरुष का ही। इसमें आसनों, प्राणायामों और सूर्य की उपासना का सुन्दर सम्मिश्रण है। जिन्हें नेत्रों का रोग है, उन्हें इस व्यायाम से अत्यन्त लाभ होगा। प्लीहा, पेट, आँत और गुर्दे की बीमारियाँ भी इस व्यायाम के अभ्यास से अच्छी हो जाती हैं। सूर्य-नमस्कार करने वालों की संख्या भारत और इतर देशों में दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और आज यही व्यायाम प्रधानता प्राप्त करता जा रहा है। औंध के राजा ने इस पर हिन्दी और अँगरेजी में एक अच्छी पुस्तक लिखी है।

सूर्य-नमस्कार की खोज प्राचीन काल में भारत के ऋषियों ने की थी। उन्होंने इसके प्रत्येक अङ्ग का सावधानी से निरीक्षण किया। आज इसकी बराबरी करने वाला अन्य कोई व्यायाम नहीं है। यह व्यायाम केवल शारीरिक ही नहीं, कई अंशों तक आध्यात्मिक और यौगिक भी है। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी-शक्ति भी जागृत की जा सकती है।

शारीरिक व्यायामों से आसनों का महत्व और भी अधिक है। योग-आसनों के अभ्यास से आन्तरिक इन्द्रियों का सुगठन किया जा सकता है। और कोई ऐसी विधि नहीं, जिससे आन्तरिक इन्द्रियों का सुचारु गठन किया जा सके। आसनों के अभ्यास से अनेकों रोगों को भी दूर किया जा सकता है (किया भी गया है)। कुछ आसनों से ब्रह्मचर्य-धारण में सहायता मिलती है। भुजङ्गासन, शलभासन और धनुरासन कोष्ठबद्धता को दूर करते हैं। नौलि क्रिया से पेट की मांस-

पेशियों पर भार पड़ता है और तज्जन्य-प्रभाव से पेट की अनेकों बीमारियाँ दूर की जा सकती हैं। नौलि क्रिया से जठराग्नि बढ़ती है।

पश्चिमोत्तानासन, योगमुद्रा, चक्रासन, अर्द्धसुप्तासन, मत्स्येन्द्रासन आदि से मेरुदण्ड में असाधारण लचीलापन आ जाता है। रीढ़ के सख्त हो जाने से बुढ़ापा जल्दी आ जाता है। रीढ़ के लचकदार हो जाने से मनुष्य का शरीर गिलहरी के समान फुर्तीला हो जायगा; उसे बुढ़ापे का अनुभव नहीं होगा।

व्यायाम किसी प्रकार का क्यों न हो, उसमें बाँह और कलाई के विकास के लिए पर्याप्त गुण होने चाहिए। जाँघों और पैरों के टखनों के विकास के लिए भी व्यायाम करने चाहिए। कुछ ऐसे व्यायाम किए जाने चाहिए, जिनसे रीढ़ को बगल में, आगे और पीछे घुमाना पड़े। वक्षस्थल, गर्दन और पेट के विकास के लिए भी कुछ व्यायामों का सुन्दर सम्मिश्रण होना चाहिए। व्यायामों का सम्मिश्रण सुन्दर न हुआ तो दोषों का आना सम्भव है।

व्यायाम करने वाले व्यक्ति को निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए। व्यायामों में नियमित रहना सर्वप्रधान नियम है। यदि शीघ्रतापूर्वक शारीरिक उन्नति करना चाहते हो तो आसनों के अभ्यास में नियमित रहना होगा। जो अधिक व्यायाम करते हैं, उन्हें सारपूर्ण और स्वास्थ्यकर भोजन करना चाहिए, अन्यथा मांसपेशियों के क्षय होने की सम्भावना अधिक है। उन्नति महत्वपूर्ण नहीं हो सकेगी।

घी, दूध, मक्खन, मेवा आदि का नियमित सेवन करना होगा। शीर्षासन का अभ्यास करने वाले व्यक्ति को सब आसनों के अनन्तर तीस मिनट रुक कर हल्का जलपान करना चाहिए। महीने में एक बार शरीर को तौल लेना चाहिए और तौल को अपनी डायरी में अङ्कित कर लो। व्यायाम दोनों समय—प्रातः काल और सायंकाल किए जाने चाहिए। स्नान करने से पहिले कम-से-कम आध घण्टे तक विश्राम करना चाहिए। अभ्यासी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। यदि ब्रह्मचर्य धारण अच्छी तरह किया गया तो व्यायामों से आश्चर्यजनक लाभ प्रत्यक्ष हो जाएंगे। अविद्या और मोह के कारण जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते और यहाँ तक कि अपनी वासना पर संयम भी नहीं रख सकते, वे किस प्रकार इनके अभ्यास से लाभान्वित हो सकेंगे? फूटे घड़े को कैसे भरा जा सकता है? केवल उसके छेद को बन्द करने से ही तो; इसी प्रकार हम शरीर के इस क्षयकारी मार्ग पर रोक लगा दें; तभी आसनों और व्यायामों का फायदा प्रत्यक्ष हो सकेगा।

आसनों का अभ्यास बड़े तड़के करना चाहिए। शारीरिक व्यायाम शाम को किए जा सकते हैं। यदि आसनों के साथ ही साथ शारीरिक व्यायाम भी कर देना चाहो तो आसनों के अभ्यास के अनन्तर १५ मिनट के लिए आराम कर लो; तभी शारीरिक व्यायामों का अभ्यास आरम्भ करो। आसनों के अभ्यास के अनन्तर प्राणायाम का अभ्यास शुद्ध वायुपूर्ण स्वच्छ स्थान में करना चाहिए। एक और बात ध्यान में रखें कि आसनों अथवा व्यायामों के अभ्यास में सीमा का उल्लङ्घन न किया जाय। आसन और व्यायाम करते समय हमें आनन्द,

प्रसन्नता और विश्राम का अनुभव होना चाहिए और आसनों के बाद भी यही अनुभव होते रहना चाहिए। थकावट या तनाव का अनुभव रत्ती भर भी नहीं होना चाहिए। यदि थकावट और तनाव का अनुभव हो तो समझना चाहिए कि हम हद से ज्यादा कसरत कर रहे हैं और अपनी सामर्थ्य से बाहर जा रहे हैं।

आसनों के अभ्यास के अनन्तर बादाम लाभकारी समझा गया है। यह ठण्डा और बलवर्द्धक होता है। बादाम की मात्रा में क्रमिक वृद्धि की जानी चाहिए। अधिक खा लेने से अजीर्ण की सम्भावना रहती है।

इस नश्वर शरीर के लिए कोई मोह नहीं करना चाहिए। इस शरीर को केवल निमित्त जान कर इसकी रक्षा करनी चाहिए। तुम इस शरीर से पूर्णतः भिन्न हो। यह पाँच तत्त्वों का बना हुआ है और नाश तथा क्षय को प्राप्त होने वाला है। तुम सच्चे अर्थ में अविनाशी सर्वव्यापक आत्मा हो। जिस प्रकार तुम्हारा घर, जिसमें तुम रहते हो, तुमसे एकदम पृथक् है, उसी प्रकार यह शरीर जिसमें कुछ काल से अज्ञान के कारण आवृत्त हो गए हो, तुमसे बिल्कुल पृथक् है। इस शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही तुम्हारे बन्धन या मनुष्य-जीवनगत सभी दुःखों और कष्टों का मूल कारण है। इस शरीर के दास न बन कर इस पर अपना आधिपत्य कायम करो। इसको इस प्रकार की शिक्षा दो कि यह हर समय तुम्हारी आज्ञाओं का पालन करता रहे, न कि मनोनुकूल कार्य करने पर विवश करे। पराए उपकार के लिए सदा सन्नद्ध रहो, किसी न्याय-कार्य तथा लोकोपकार के लिए शरीर को समर्पण

करने में जरा भी न हिचको। आत्म-निषेध, आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान के लिए सदा तैयार रहो।

उपसंहार में यही कहना है कि नियमित रूप से अभ्यास करना आरम्भ कर दो। शरीर, मन और बुद्धि को चतुर और तीक्ष्ण बना लो। सन्तुष्ट और सुखी जीवन व्यतीत करना सीखो। "मैं स्वस्थ हूँ, मुझे सर्वत्र आनन्द का अनुभव हुआ करता है"—हृदय में इस प्रकार के अनुभवों का उदय हो जाना चाहिए।

इस शरीर-रूपी-अस्त्र को अपने लक्ष्य (ब्रह्म-निर्वाण) की प्राप्ति के लिए उपयुक्त करो। जीवन की नदी को पार करने के लिए इस शरीर को नौका के समान व्यवहृत करो। प्राणमय शरीर मिलना बड़े भाग्य की बात है, उस पर भी यह मनुष्य जीवन तो अनेकों जन्मों में किए गए महापुण्यों का उदय है। यदि इस शरीर का, जो पुण्यों के फल से उत्पन्न हुआ है, युक्त उपयोग नहीं करोगे और निश्चित कार्य की सफलता नहीं कर पाओगे तो जीवन का कुछ भी अर्थ नहीं रहेगा; पशु और हममें असमानता का कोई कारण नहीं हो सकता।

द्वितीय प्रयोग

राजयोग महाविद्या

राजयोग का अभ्यास

'योग' शब्द की उत्पत्ति की मूल संस्कृत धातु 'युज्' है, जिसका अर्थ होता है, मिलना या संयोग।

परमात्मा के साथ मिलना मानव जीवन और उसके प्रयासों का लक्ष्य है। यही हम लोगों के अस्तित्व का चरम विकास होना चाहिए।

योग से हर प्रकार के दुःखों, कष्टों और क्लेशों का निवारण किया जा सकता है। योग के अभ्यास से मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति पा लेता है। योग से सिद्धि और मुक्ति दोनों प्राप्त की जा सकती है। योगी बनो और अमरत्व का अनुभव करो। इसीलिए तुम गीता में पाते हो, "तस्माद्योगी भवार्जुन" (अध्याय ६, श्लोक ४६)।

योग मन की बाहरी वृत्तियों का मोड़ना और आगे जा कर आनन्दमय शुद्धावस्था की प्राप्ति करना सिखलाता है। योग हम लोगों को आसुरी प्रकृति को बदलने और दिव्य-स्वरूप

की प्राप्ति करने के नियम सिखलाता है। सभी विचारों और विक्षेपों पर विजय प्राप्त कर लेना ही राजयोग का लक्ष्य है। इसीलिए इसे राजयोग कहा जाता है। इसका अर्थ होता है; सभी योगों में श्रेष्ठ, अर्थात् सभी योगों का राजा।

कुत्तों और घोड़ों में भी मन होता है; लेकिन उनमें न तो विवेक है, न बुद्धि और न विचार-शक्ति ही। इसीलिए उन लोगों के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना सम्भव नहीं। अज्ञानी लोग अपना सम्बन्ध शरीर, मन और मन की वृत्तियों से रखते हैं। मन और शरीर केवल उपादान कारण हैं। यदि तुम मन और मन की वृत्तियों के साथ मिलकर काम करोगे तो दुःख और कष्ट ही पाओगे। सम्पूर्ण जगत् का निर्माण मन की वृत्तियों से ही हुआ है। यदि विचारों और उद्वेगों को शान्त कर दिया जाय तो केवलावस्था या उच्चतम आनन्द और शान्ति की अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

जिस तरह किसी सरोवर की ऊपरी सतह के जल-विन्दु का चाञ्चल्य और लहरों की गति शान्त हो जाने पर सरोवर की निचली सतह भी देखी जा सकती है, उसी प्रकार यदि मानसिक वृत्तियाँ शान्त हो जायें तो तुम अपने स्वरूप की यथार्थता को देख सकते हो। जिस तरह साबुन शरीर को साफ करता है, उसी प्रकार मन्त्रों का जप, भगवद्-ध्यान, नाम-कीर्तन और यम-नियम के अभ्यास तुम्हारे मन और उसमें रहने वाली विकृत-वृत्तियों को निर्मल करने में सहायक बनेंगे। जिस प्रकार अन्न से इस शरीर का पोषण होता है, उसी प्रकार मन तथा आत्मा के लिए आध्यात्मिक भोजन देना होगा।

जब तुम्हें व्यापार में घाटा होता है या एकलौले पुत्र की अकाल-मृत्यु से दुःखी हो जाते हो अथवा कोई दुःखदायी समाचार सुनते हो—जिससे तुम्हारे जीवन का गहरा सम्बन्ध रहा हो तो तुम सारपूर्ण और स्वस्थकर भोजन करने पर भी शारीरिक क्षीणता को प्राप्त होते हो; इस अवस्था में तुमको असीम निर्बलता का आभास होता है और आन्तरिक क्षीणता प्रतीत होती है। इससे क्या सिद्ध होता है ? यही न कि मन का अस्तित्व है और उसके लिए अचूक औषधि है—आनन्द।

जब कोई स्त्री अपनी पुत्री के विवाह के प्रबन्ध में अति-व्यस्त रहती है तो भोजन तक करना भूल जाती है। किन्तु भोजन न करने पर भी वह सदा प्रसन्नचित्त ही रहती है। भूखे रहने पर भी उसका हृदय आनन्द से उछलता रहता है। इसका क्या कारण है ? प्रसन्नता और आनन्द—दो प्रभावशाली औषधियाँ उसके मन के लिये हैं। यद्यपि वह भोजन नहीं करती है, तो भी आन्तरिक मानसिक शक्ति और आनन्द का अनुभव करती है।

अधिकार प्राप्त करने से मन की शान्ति भङ्ग होती है। जिनको अधिकार प्राप्त हैं, वे सदा उनका दुरुपयोग करते हैं। वे दूसरों पर हुक्म, अधिकार और शासन करना चाहते हैं। पद और अधिकार को त्यागना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि राजयोग-दर्शन मनुष्य को आरम्भ में यम-नियम के अभ्यास में दीक्षित करता है। जो यम-नियम के अभ्यास में लगा हुआ है, वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करेगा। वह दूसरों पर हुक्म नहीं चलायेगा। वह विनम्र होगा। उसमें सेवा और आत्म-त्याग की लगन होगी।

जीवन का एक कार्यक्रम बना लो। आध्यात्मिक नियमों का एक नक्शा खींच लो। नियमितता और क्रमिक रूप से उसका अनुसरण करो। अपने को खूब होशियारी और लगन के साथ उसमें दत्तचित्त कर दो। अपने मूल्यवान् क्षण व्यर्थ में नष्ट न करो। जीवन क्षण-भङ्गुर है। समय थोड़ा है। कल कभी नहीं आवेगा। या तो अभी या कभी नहीं। दृढ़ निश्चय के साथ खड़े हो जाओ। 'मैं इसी क्षण से इसी जीवन में योगी बनूँगा'—कमर कस लो। दृढ़ और निरन्तर योग-साधना करो। ज्ञानदेव, गोरखनाथ, सदाशिव ब्रह्म और अन्य योगियों के पद-चिह्नों पर चलो।

यदि तुम वास्तव में अपने अभ्यास में बहुत सच्चे हो और तुम्हारा मन वैराग्य और सांसारिक पदार्थों के प्रति उदासीनता के साथ-साथ मोक्ष की तीव्र उत्कण्ठा से भरा हुआ है तो तुम अल्पकाल में ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हो। इसमें सन्देह का कारण नहीं है।

(दो)

चित्त मानसिक पदार्थ या वस्तु या विषय है। यह विभिन्न प्रकार के रूपों और आकृतियों को धारण करता है। इन रूपों को 'वृत्ति' कहा जाता है। इन वृत्तियों में परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को 'विचार-लहर' या 'वृत्तियों के भँवर' के नाम से जाना जाता है। यदि चित्त एक आम के सम्बन्ध में सोचता है तो आम की वृत्ति तुरन्त ही चित्त में प्रतिबिम्बित हो जाती है। जब यह वृत्ति शान्त हो जाती है, तब दूसरी वृत्ति का उदय होता है और यह उस वृत्ति में तदाकार हो जाता है। यह वही बन जाता है। जब यह घृणा और द्वेषादि

की बातें सोचेगा तो स्वयं घृणा और द्वेषादि का स्वरूप बन जायगा। यह वृत्तियाँ ही मन की अशान्ति का कारण बनती हैं।

संस्कारों और वासनाओं के कारण चित्त में वृत्तियाँ उठती हैं। यदि वासनाओं और इच्छाओं का मूलोच्छेदन कर दिया जाय तो वृत्तियाँ अपने आप शान्त हो जायेंगी।

जब एक वृत्ति शान्त होती है तो अधीन-सचेतन-मन पर एक निश्चित प्रभाव अङ्कित कर देती है, जिसे संस्कार या आन्तरिक प्रभाव कहा जाता है। सभी संस्कारों की समष्टि (कुल जोड़) कर्मस्थ अवस्था में निहित मानी जाती है। यह संचित कर्म है। संचित कर्म को 'जमा किया हुआ कर्म' भी कहते हैं। जब मनुष्य इस भौतिक देह को त्यागता है, तब अपने साथ १७ तत्त्वों के सूक्ष्म शरीर और कर्मस्व को भी अपनी-अपनी मानसिक सतह पर ढो कर ले जाता है। यह कर्मस्व असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा प्राप्त हुए उच्चतम ज्ञान द्वारा बिलकुल भस्म कर दिया जाता है।

वह स्थान, जहाँ तुम्हें मन की एकाग्रता प्राप्त हो सकती है, ध्यान और यौगिक अभ्यास के लिये उचित है। मन की एकाग्रता का अभ्यास करते हुये तुम्हें सावधानी से मन की अस्त-व्यस्त किरणों (शक्तियों) को एकत्रित और केन्द्रित करना होगा। चित्त में वृत्तियाँ जागती रहेंगी। तुम्हें उन वृत्तियों को सदुपायों से शान्त करना होगा। जब सभी लहरें शान्त हो जायेंगी, तभी मन शान्त, शुद्ध और पवित्र बन जायगा। उस अवस्था में ही योगी को शान्ति और आनन्द मिलता है। सुख अपने अन्दर है, उसे प्राप्त करने के लिये अपने

मन को वश में करना होगा; न कि नाम, यश, प्रतिष्ठा, पदवी, धन और स्त्री-पुत्रों द्वारा।

मन को एक विन्दु पर केन्द्रित करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये। यदि मन केन्द्र-विन्दु से इधर-उधर विचलने लगे तो प्रयत्न कर, बार-बार, उसे विन्दु पर लाने के लिये अथक परिश्रम किया जाय। यही अभ्यास या यौगिक साधना है। चित्त के बौद्धिक आवेशों को अभ्यास द्वारा और मन के आवेगों को वैराग्य के द्वारा रोको। ऐसा करने पर ही मन शान्त हो सकेगा। तभी तुम आसानी से इसे अपने वश में कर सकोगे।

मन की शुद्धता से ही योग की पूर्णता प्राप्त होती है। दूसरों के प्रति अपने व्यवहार को शुद्ध रखो; अपने आचरण को सुधारो। दूसरों के प्रति ईर्ष्या या द्वेष या लड़ाई की भावना न रखो। सब के प्रति हमदर्द बनो। पापियों से घृणा न करो। सभी प्राणियों के प्रति दया का व्यवहार करो। प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष विनम्र बनो। बड़ों के प्रति सज्जनता से व्यवहार करने का अभ्यास करो। यदि योगाभ्यास में कृतकर्म और सचेष्ट हो जाओ तो सफलता को प्राप्त करना सुगम हो जायगा। मोक्ष की प्राप्ति के लिये मन में उत्कट अभिलाषा और तीव्र वैराग्य, व्यवहार में कुशलता और सत्यता होनी चाहिये। सच्चे और चेष्टावान् बनो।

इन्द्रिय-दमन, गुरु-भक्ति और सतत अभ्यास से योग में सफलता मिल जाती है। साधक को सदा धैर्य और सतत प्रयत्न से काम लेना चाहिये। बहुधा ऐसा देखा गया है कि

जी निवृत्ति मार्ग को अपनाते हैं, वे कुछ दिनों के बाद आलसी बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे मानसिक शक्ति का उपयोग करना नहीं जानते, गुरु के उपदेशों के अनुसार नहीं चलते और न किसी प्रकार का दैनिक कार्यक्रम ही रखते हैं। वैराग्य होने पर भी उन्हें आध्यात्मिक पथ का कोई अनुभव नहीं है। अतः वे काफी समय बीतने पर भी किसी प्रकार की आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पाते हैं।

निरन्तर ध्यानपरायण योग का विद्यार्थी दुःखित रहता है तो समझना चाहिये कि अवश्य उसके ध्यान में कोई त्रुटि होगी। यदि वह निराश और निर्बल है तो निश्चयतः कहीं पर गलती है, उसका सुधार करना चाहिये। ध्यान के अभ्यास से मनुष्य बली, सुखी और स्वस्थ बनता है। साधक स्वयं ही दुःखी हो तो गृहस्थी को सुखी, समृद्ध और शक्तिशाली कैसे बना सकेगा? गृहस्थ लोग शान्ति और आनन्द के लिये महात्माओं की सन्निधि को खोजते हैं। याद रखो कि सदा मुस्कराता हुआ चेहरा सच्ची आध्यात्मिकता और आन्तरिक दिव्य जीवन का जीता-जागता चिह्न है।

जिस प्रकार कोठे पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनी रहती हैं, उसी प्रकार सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार और अन्य कई योग की सीढ़ियाँ हैं। आनन्द की अन्तिम अवस्था—असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने से पूर्व ही इन समाधियों से सम्पन्न हो जाना होगा। कुछ महात्मा ऐसे हैं, जो जन्म से ही समाधि की चरम सीमा तक पहुँचे हैं। वे जन्म-सिद्ध कहलाते हैं। उन्होंने अपने पूर्व-जन्मों में अत्यन्त साधना कर इसके संस्कारों की प्राप्ति की होगी।

योग की प्रत्येक अवस्था का अनुभव हो जाना चाहिए। साहसपूर्वक धीरे-धीरे सँभल-सँभल कर, आनन्दचित्त हो, अपना पग बढ़ाते जाना चाहिये। जब तक योग के प्राथमिक अङ्गों का अभ्यास और उनकी सिद्धि प्राप्त न कर लो, तब तक योग की उच्च भूमिकाओं और उसके उच्च अभ्यासों को हाथ भी न लगाओ। ध्यान और समाधि का यह राजमार्ग है।

इस जगत् के ज्ञान का कुल योग ब्रह्म-साक्षात्कारजन्य आध्यात्मिक-ज्ञान की तुलना में कुछ भी नहीं है। सांसारिक ज्ञान असत्य और मिथ्या है। आध्यात्मिक साधक जब 'धर्ममेघ' समाधि की प्राप्ति करता है तो उसके गिरने का भय नहीं। उसके लिए न तो दुःख हैं और न दोष ही। यह अवस्था तभी प्राप्त की जा सकती है, जब योगी ने सभी सांसारिक अधिकारों की तिलाञ्जलि दे दी हो। जब 'धर्ममेघ' समाधि का अवतरण होता है, तब योगी शान्ति, पवित्रता, सन्तोष और दिव्य आनन्द को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार आग सूखे पत्तों या घास के ढेर को पूर्णतः जला देती है, उसी प्रकार योग भी सभी कर्मों को जला देता है। योगी कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। समाधि द्वारा उसे 'सहज ज्ञान' होता है। एक ही क्षण में यथार्थ ज्ञान उसके अन्दर प्रकाशित हो जाता है। ऐसे सिद्ध के लिए भूत और भविष्य का क्या अस्तित्व? केवल वर्त्तमान की स्थिति ही रह जाती है।

जिसका श्रुति और शास्त्रों में दृढ़ विश्वास है, जिसने सदाचार का पालन कर लिया है, गुरु-सेवा में जो निरन्तर तत्पर है, जिसने साधुओं के सङ्ग में अपना अमूल्य समय उपयुक्त

किया है, जिसमें तीव्र वैरा य है और (अन्ततः) जो काम, क्रोध, मोह, लोभ और मिथ्या गर्व से मुक्त है, वह आसानी से संसार को पार कर सकता और समाधि की प्राप्ति कर लेता है।

नेति, धौति, बस्ति, नौलि, आसन, मुद्रा और बन्ध के अभ्यास से शरीर स्वस्थ, बली और अपने वश में रहता है। पर वे ही योग के सब कुछ अङ्ग नहीं हैं। ध्यान का अभ्यास भी करना चाहिए। ध्यान, समाधि और आत्म-साक्षात्कार में अपने को निष्ठित करने के लिए इन सभी अभ्यासों की परम आवश्यकता है। केवल हठयोग के अभ्यास से ही पूर्ण योग की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मानसिक शिल्पशाला

जो मन के अन्दर निवास करता है, जो मन के अन्दर है, मन जिसको नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो मन पर शासन करता है, वही तुम्हारा अमर, आन्तरिक शासक और आत्मा है। इस आन्तरिक शासक को, जो मन और मानसिक शिल्पशाला को सञ्चालित करता है, नमस्कार है।

जिस प्रकार लोहे का एक टुकड़ा चुम्बक की सन्निधि में रह कर गतिशील हो जाता है, उसी प्रकार आन्तरिक शासक की उपस्थिति में यह (प्राणहीन) मन चलता और काम करता है। किन्तु इस सिद्धान्त को पाश्चात्यवादियों ने अभी तक अच्छी तरह नहीं समझ पाया है। इसीलिए वे अशान्त हैं और घनघोर अज्ञान में भटक रहे हैं। ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान या सूक्ष्म-प्राण की चेतना मन में विचारों का निर्माण करती है।

हेनरी फोर्ड् का विशाल कारखाना कैसा आश्चर्यजनक है। उसने ठीक प्रकार से समय का मूल्य पहिचाना। समय उसके लिए धन था। कहते हैं, सच्चे शब्दों में, उसे साँस लेने की फुरसत भी नहीं थी। वह सदा अपने व्यापार के कार्यों में लगा रहता था। उसके अन्दर केवल एक ही विचार सदा चक्कर मारता रहता था कि मोटरों का निर्माण किस प्रकार अधिक संख्या में किया जाय। यदि उसकी मानसिक शक्ति ईश्वर की ओर निर्दिष्ट हो जाती तो वह एक महान् (शक्तिशाली) योगी बन सकता था। वह अपूर्व महापुरुष बनने के सभी गुणों से समनुयुक्त था। उसकी एकाग्रता आश्चर्यजनक थी, केवल कार्य में अन्तर था। योगाभ्यास करने के बदले वह संसार के किसी एक कार्य का सम्पादन कर रहा था। लोक-कार्य करते हुए भी उसे राजयोगी कहा जा सकता है। उसकी उदारता, हृदय-प्रवीणता और भावुकता धन्यवाद के योग्य है। उसने अपने श्रमिकों का विचार बुद्धिमानी से किया। वह उनको अच्छी खासी मजदूरी देता था, उनके लिए उचित औषधियों का प्रबन्ध करता था। विकृताङ्ग लोगों के लिए उसने पेन्शनें बाँध रखी थीं। उसकी दया का वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी महान् शिल्पशाला को देखते ही दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ेगी। उसके कारखाने में कितने चतुर और कुशल कार्यकर्त्ता हैं। उसके अन्तर्गत कितने व्यक्ति कर्त्तव्यपरायण हो रहे हैं और अनजाने में कितनों को योगजन्य एकाग्रता का अभ्यास करवाया जा रहा है (वे दूसरों की उपस्थिति का अनुभव तक नहीं कर पाते)।

जब प्रिन्स् आफ् वेल्स् आठवें एडवर्ड् थे, तो उन्होंने इस कारखाने का निरीक्षण किया। जिस क्षण उन्होंने कारखाने

में प्रवेश किया, एक कच्चा लोहा आग में गलाया गया और साँचे में मोटर के विभिन्न हिस्सों (कल-पुर्जों) को उनकी उपस्थिति में बनाना आरम्भ किया गया। सभी हिस्सों को तैयार करने के बाद उन्हें सुन्दरता से जोड़ दिया गया। एक नवीन मोटर तैयार कर दी गई और राजकुमार के कारखाने से प्रस्थान करते-करते वह (मोटर) उनको उपहार-स्वरूप दे दी गई। कुशलता और सिद्धि का कितना अद्भुत उदाहरण है।

उससे भी अधिक अद्भुत है, आधुनिक युग का रेडियो स्टेशन और बेतार का तार। इसने दुनियाँ को एक-साथ मिला दिया है और आवागमन को अत्यन्त सुविधाजनक बना दिया है। विज्ञान का यह अद्भुत खेल जीवन, शक्ति और चेतना की एकता को सिद्ध करता है और (शान्तिपूर्वक) उपनिषदों की वाणी, प्राचीन महर्षियों के अद्वैत अनुभव को प्रचारित और प्रमाणित करता है। व्याख्यानदाता अथवा गाने वाले की ध्वनि संसार के सभी लोगों को एक ही बार (और एक ही समय में) सुनाई देती है। आन्तरिक बल से दूर के किसी आदमी की बात सुनने की कथाएं पुराणों में आती हैं और टेलीविज़न् यन्त्र द्वारा अतिदूरस्थ व्यक्ति को देखने की बात भी आज सत्य सिद्ध हो गई है। जब रेडियो का सैद्धान्तिक प्रतिपादन किया जाता है तो सभी लोगों का हृदय संयुक्त हो जाता है। वे एकता का अनुभव करते हैं। रेडियो (स्पष्ट शब्दों में) शङ्कर के अद्वैत दर्शन की महिमा की वास्तविकता और यथार्थता का भौतिक प्रमाण है। रेडियो के अध्ययन से हृदय में विशाल विचार जागने लगते हैं; मन में विश्व-प्रेम, जन-सेवा आदि की भावनाएं उठती

हैं। रेडियो का सिद्धान्त उपनिषदों की एकता, तदात्म्यता और समजातित्व को प्रसारित और प्रमाणित करता है। माइक्रोफोन आवाज की लहरों को विपुलित, विस्तृत और गहरा करता है; उन्हें आकाश के माध्यम से सभी दिशाओं में तीव्र और प्रकृष्ट गति से भेजता है; एक ही सेकण्ड में ये लहरें सात बार दुनिया का चक्कर लगाया करती हैं। कितना आश्चर्यजनक सिद्धान्त है। यही वेदान्त का सिद्धान्त है। यही ज्ञानयोग है। रेडियो आदि समीचीन उपरकरण ब्रह्म के वाहरी प्रतीक हैं।

अव मैं सव से अधिक आश्चर्यजनक कारखाने का वर्णन करूंगा, जो तुम्हारे अत्यन्त निकट है और आश्चर्यों का परमाश्चर्य है।

पक्का भौतिकवादी भी एक सेकण्ड में पूर्ण आस्तिकवादी हो जायगा, यदि वह आँखों को बन्द कर इस कारखाने के कार्यों पर मनन करने लगे। केन-उपनिषद् का दर्शन इसी वाक्य से आरम्भ होता है—'मन का निर्देशक कौन है' (केनोपनिषद् प्रथम मन्त्र); अर्थात् कौन इस मन को शक्ति और प्रकाश देता है? उपनिषद् यह कहते हुए आगे चलता है कि 'ब्रह्म सभी मनों का मन है, प्राणों का प्राण है, नेत्रों का नेत्र है, कानों का कान है।' कितना विस्तृत और आदर्श दर्शन है यह, जो मनुष्य को शुद्ध और उच्च विचारों की चोटी पर पहुँचा देता है। यह रहस्यमय जीवन की समस्याओं को हल करता है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि और अयमात्मा ब्रह्म'— यह चार महावाक्य बल और सुख का सञ्चार करते हैं, मनुष्य के जीवन में सुन्दर और आश्चर्य-

जनक परिवर्तन करते हैं। इन्हीं विचारों ने मुझे सम्राटों का सम्राट् और बादशाहों का बादशाह बना दिया है। अब मैं धनी व्यक्तियों के शान-शौकत, मिथ्याभिमान और कृत्रिम जीवन पर हँसता हूँ। अब मैं शङ्कराचार्य की उक्ति को सच्चा समझता हूँ कि 'कौपीन धारण करने वाला निश्चयतः दुनियाँ में सब से अधिक सुखी है' (कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः—कौपीनपञ्चकम् देखिये।)

जिसके पास गेरुआ वस्त्र और कौपीन को धारण करने की शक्ति है, वह सबसे महान् व्यक्ति है। अब मैं राजा भर्तृहरि के स्वगत भाषण की महिमा को पूर्ण रूप से समझता हूँ, जो कहा करते थे—'मैं अपने इष्ट देवता शिव का ध्यान करके आत्मा में ही आनन्द पाना चाहता हूँ। मैं पवित्र जंगलों और गङ्गा के किनारे किसी चट्टान पर बैठ, एक कौपीन धारण कर ध्यान करूँगा। भोजन के लिए यह हाथ ही कटोरे या पात्र का कार्य कर लेंगे। आसमान ही मेरा चन्दोवा और दोनों हाथ ही मेरी तकिया। मेरे शरीर की त्वचा मेरा वस्त्र और कन्दरायें मेरी निवासस्थली। हरी-हरी घासों और फूलों से भरी पृथ्वी माता ही मेरी मखमल की दरी, पेड़ की जड़ें या जंगल के फूल-फल ही मेरे भोजन और गङ्गा का पवित्र जल ही मेरी राजकीय सुरा' (देखिए भर्तृहरि शतक का वैराग्य प्रकरण)।

प्रिय मित्रो, अब ईमानदारी से बोलो कि कौन मनुष्य इस भूमण्डल पर सबसे अधिक सुखी है? क्या धनी जमींदार सुखी है या एक योगी, जो गङ्गा के तीर कौपीन पहने हुए ध्यान करता है, किसी को दुःख नहीं देता और किसी के दुःख

का कारण भी नहीं होता; किन्तु बदले में संसार के साथ आत्मवत् व्यवहार करता है और अपनी आत्मा को ही आब्रह्मकीटपर्यन्त देखता है ?

अब एक बैरन् की कहानी सुनो, जो एक पादरी (धर्म-पिता) से वार्तालाप कर रहा था। उसने पादरी से कहा—'मेरे धन की बात सुन कर तुम मेरे पास यह देखने के लिये आए हो कि मैं किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। इस सुन्दर भवन में, मैं सबसे भाग्यहीन व्यक्ति हूँ। मैं सभी प्रकार के दुःख और चिन्ताओं से घिरा हुआ हूँ। मैं इस सूत्र-वाक्य का अर्थ पूरी तरह समझता हूँ कि मुकुट वाले व्यक्ति का मन सदा अशान्त रहता है। मुझे नींद नहीं आती—'

बैरन् पादरी से कह रहा था, 'मैं मधुमेह, अपच, वायु-विकार, आन्त्रिक सूजन, आन्त्रिक व्रण और अनेकों रोगों से ग्रस्त हूँ। मैं पार्क डेविस की प्रयोगशाला के सभी औषधियों को आजमा चुका हूँ। फिर भी मुझे रोगों से मुक्ति नहीं मिलती। मैं भूखा हूँ, फिर भी भोजन नहीं कर सकता। मुझे जौ के आटे की कञ्जी पीने को मिलती है। जब मैं मिठाइयों और नारङ्गियों को देखता हूँ तो मुझे खाने से रोक दिया जाता है। वे कहते हैं कि मेरे खून में तनाव या दबाव या चीनी बढ़ जायगी। मेरी कहानी का दूसरा भाग भी सुनिये। मैं रात-दिन चारों ओर से अपने पहरेदारों की रखवाली में रहता हूँ। मैं अधम कैदी के समान जीवन व्यतीत करने पर बाध्य हूँ। अब मै हिन्दुओं के कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के दर्शन पर पूर्णतः विश्वास करता हूँ। मैं ईश्वर से प्रार्थना कर रहा हूँ कि मुझे कृपा कर कौपीन-सहित चिन्तामुक्त योगी के रूप में जन्म दें,

जिससे मैं हिमालय में गङ्गा नदी के किनारे योग का अभ्यास कर सकूँ। मैं यह धन नहीं चाहता हूँ। यह धन आध्यात्मिक आन्तरिक शान्ति और सुखों तथा आत्मानन्द का सबसे महान् शत्रु है।'

यह बात अनहोनी नहीं है। प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति इस सिद्धान्त को एक स्वर से स्वीकृत करेगा। अच्छा तो अब हम फिर से मानसिक शिल्पशाला की ओर चलें। पिछले पृष्ठों में मैंने कहा था कि इस मानसिक शिल्पशाला का एक सञ्चालक है। उस सञ्चालक का परोक्ष दर्शन हो जाने से आत्म-साक्षात्कार, मुक्ति, परिपूर्णता और अमरता की प्राप्ति की जाती है। धारणा तथा ध्यान से शुद्ध हुए हृदय के द्वारा उस महान् शिल्पी का दर्शन किया जा सकता है। मैं दुबारा यह बतला देना चाहता हूँ कि आत्म-साक्षात्कार प्रमुख कर्त्तव्य है, इस कर्त्तव्य की पूर्ति हो जाने से आनन्द और शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ईश्वर या आत्मा सर्वत्र विराजमान् है, तथा सभी प्रकार के विचारों और कार्यों का आदि कारण है। वह संकल्प को शक्ति प्रदान करता है तथा बुद्धि को प्रकाश।

इस मानसिक शिल्पशाला के प्रहरी आँख और कान हैं। इस मार्ग से अन्दर प्रवेश किया जाता है, अर्थात् जहाँ पर यह पहरा देते हैं, उसे पारिभाषिक भाषा में 'वे इन' (WAY IN) कहा जाना चाहिये। मुख दूसरा द्वार है, उसे बाहर का रास्ता या 'वे आउट्' (WAY OUT) कहा जाना चाहिये। आँखों और कानों के द्वार से मानसिक शिल्पशाला के अन्दर उत्पादन करने योग्य सामग्री आया करती है। इन्हीं मार्गों से ज्योति

श्रौर शब्दों की लहरें अन्दर प्रविष्ट कराई जाती हैं। शिल्प-शाला में इन लहरों को दृष्टि अथवा दर्शन के रूप में परिवर्तित किया जाता है; इस परिवर्तन का कार्य मन को सौंपा गया है। मन के द्वारा दृष्टि अथवा दर्शन बुद्धि को सौंपा जाता है। बुद्धि द्वारा इन दृश्यों को विचारों के रूप में परिणत कर दिया जाता है। बुद्धि द्वारा विचारों के रूप में बदले जाने पर मुख के द्वार से इनका बहिःप्रकाशन होता है; वाक्-इन्द्रिय इस कार्य को सम्पन्न करती है। जिस प्रकार चीनी की फैक्टरी में गन्ने को अनेकों रसायनों में मिश्रित कर, टैंकों में परिशोधित कर स्फटिक के समान बना दिया जाता है; जिस प्रकार साधारण मिट्टी को पैरिस प्लास्टर के साथ एकीकृत कर, अनेकों प्रक्रियाओं द्वारा पात्र, थाली, कप तथान्य रूप दे दिया जाता है; जिस प्रकार साधारण रेत को काँच का रूप दे दिया जाता है—उसी प्रकार इस आश्चर्यजनक मानसिक शिल्पशाला में ज्योति तथा लहरों को शक्तिमान् विचारों के रूप में परिणत कर बाहर प्रकाशित कर दिया जाता है।

बाहरी आँखें और बाहरी कान तो केवल उपकरणमात्र हैं। उनको बाहरी निमित्त माना जाता है। वास्तविक दृष्टि और श्रवण-केन्द्र तो मस्तिष्क के अन्दर तथा कारण-शरीर में स्थित हैं। यह केन्द्र ही इन्द्रिय-निकेतन हैं। इस बात को अच्छी तरह समझ लो। बुद्धि उपरोक्त सामग्रियों को मन से लेकर पुरुष अथवा चेतन-आत्मा को सौंप देती है—यह पुरुष इस विशाल परदे के पीछे नेपथ्य में साक्षी के समान स्थित है। बुद्धि को मुख्य आमात्य जानना चाहिए, मन की अपेक्षा वह आत्म-पुरुष के अधिक सन्निकट है। मन आज्ञाधिपति (या

सेनापति) है ; पाँचों इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा की पूर्ति करने के लिए सदा सन्नद्ध रहती हैं। दूसरे शब्दों में बुद्धि को न्यायाधीश या विचारपति जानना चाहिए; मन वकील के समान उसके सामने तथ्य अथवा घटना को उपस्थित करता है।

मन इस मानसिक शिल्पशाला का 'मुख्य कर्मचारी' है। उसके सहायक और उप-कर्मचारी हैं। पाँच इन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही उप-कर्मचारी का काम करती हैं। ज्ञानेन्द्रियों का काम बाहरी समाचारों को एकत्र करना है और कर्मेन्द्रियों का कार्य है मुख्य कर्मचारी की आज्ञा का सम्पालन करना।

ज्यों ही ज्ञानेन्द्रिय द्वारा एकत्रित समाचार या सत्य बुद्धि द्वारा आत्म-पुरुष के सामने प्रस्तुत कर दिए जाते हैं, त्यों ही अहंकार की द्युति का जन्म होता हैं। बुद्धि आत्म-पुरुष से उसका सन्देश प्राप्त करती है, उस पर विचार और निश्चित निर्णय करने पर पुनः मन को सन्देश देती है—मन उस सन्देश को कार्य-रूप में परिणत करता है। सन्देश को कार्य-रूप में परिणत करने का उत्तरदायित्व वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु—इन पाँच कर्मेन्द्रियों को सौंपा जाता है। यही पाँच अपने मुख्य कर्मचारी की आज्ञा बजाते हैं।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के कुल योग को अन्तःकरण अथवा आन्तरिक उपकरण कहा जाता है। विचारपति का कार्य करते समय अन्तःकरण ही न्यायाधीश बन जाता है, किसी सभा या संस्था में कार्य करते समय सभापति, सभाओं का सभापतित्व करते समय सभाध्यक्ष, मालगोदाम की देख-रेख करते समय उसका रक्षक बन जाता है।

जब तुम आम के उद्यान से हो कर जाते हो तो मन संकल्प-विकल्प करता है। वह सोचता है—'आम मीठा होगा या नहीं ?' इस अवसर पर बुद्धि उसकी सहायता करती है। वह निश्चय करने पर कहती है—'यह आम अच्छा है, यह कलमी आम है।' चित्त का कार्य है अनुसन्धान करना। वह अनुसन्धान करता है—'मैं आम पाने के लिए उपाय सोचूँगा। देखना चाहिए कि इस उद्यान का मालिक कौन है ? यदि मिल जाय तो मैं उससे आम खरीद लूँगा।' इसी समय अहंकार का उदय होता है, वह दृढ़तापूर्वक कहता है—'किसी भी तरह क्यों न हो, मैं आम अवश्य लूँगा।'

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार द्वारा कार्य का निश्चय (इत्यादि) हो जाने से मन पाँव (कर्मेन्द्रिय) को आदेश देता है। आदेश मिलते ही पाँव उसे माली के पास ले जाते हैं। अहंकार के अंश से तुम आम खरीदते हो। अहंकार ही उस आम को खाता है। आम का यह संस्कार मन में स्थित हो जाता है और इस प्रकार मन में उस वासना का जन्म हो जाता है। कालान्तर में मन के अन्दर वासना-स्मृति के कारण पुनः भोग की इच्छा होती है। इस प्रकार सङ्कल्प का जन्म होता है। सङ्कल्प के जागते ही मन आम खाने के लिये पुनः लालायित हो उठता है। यही संसार-चक्र है, इसे ही वासना-चक्र कहते हैं; अर्थात् अविद्या, काम और कर्म। अनन्त काल से यह चक्र घूमता आ रहा—इसी कारण मनुष्य बन्धन में जा गिरा है। कामना के होते ही भोग, भोगते ही वासना, वासना से पुनः कामना की उत्पत्ति और कामना से फिर वही गोल और अनन्त चक्र।

वासना की पुनरावृत्ति होते-होते काम या कामना का उदय होता है। मनुष्य के लिये इस काम-वासना पर विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता है; अतः वह काम और इन्द्रियों का दास बन जाता है। तृष्णा का अर्थ होता है, किसी पदार्थ के लिए सदा लालायित रहना। इच्छा और वासना में इतना ही अन्तर है कि इच्छा स्थूल होती है, किन्तु वासना सूक्ष्म और अधीन-सचेतन-मन के अन्दर छिपी हुई रहती है। किसी वस्तु का भोग करने पर जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे मन में मोह की उत्पत्ति होती है। मोह और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं है। जो व्यक्ति पदार्थ-वासना में आसक्त है, वह सदा बन्धन में आबद्ध रहता है और अनेकों पदार्थ उसे घेरे हुए रहते हैं। उन विषय पदार्थों से छूटना उसके लिये कभी-कभी असम्भव भी हो जाता है। किन्तु जिस व्यक्ति ने इस मानसिक शिल्प-शाला के सञ्चालक को अच्छी तरह जान लिया है, जो इस शिल्पशाला के अन्तरङ्ग कार्यों से अच्छी तरह परिचित है और जिसने साक्षीत्व-भाव द्वारा इन ग्रन्थियों को खोल लिया है, वही इन-(पदार्थ-वासना) के चक्कर से मुक्ति पा सकता है।

यदि हम अपने अन्दर अन्तर्दर्शन की शक्ति जागृत कर सकें तो हमें इस मानसिक कारखाने के अन्तरिम कार्यों पर आश्चर्य करना होगा। हम निर्वाक् हो जायेंगे। जिस प्रकार किसी विशाल नगर के टेलीफोन कार्यालय के केन्द्र में विभिन्न स्थलों से समाचार प्राप्त होते हैं तथा केन्द्रीय आपरेटर अनेकों स्विचों को संयुक्त, विभक्त और सन्धित कर समाचारों को यथास्थान के लिए प्रस्तारित करता है, ठीक उसी प्रकार इस विशाल मानसिक शिल्पशाला में मन संयोजन, वियोजन और सन्धिकरण का कार्य किया करता है। मान लें हम किसी पदार्थ को देखना

चाहते हैं तो मन तुरन्त अन्य चार केन्द्रों—श्रवण, घ्राण, रसना और विचार (अनुभव) रूप इन्द्रियों से सन्धिकरण करता है। मन की कार्य-शक्ति इतनी तीव्र गति वाली है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। विचारिये कि अधीन-सचेतन-मन (अथवा चित्त) के अन्दर कितने असंख्य खाने (दराजें) हैं, जिनमें प्रत्येक प्रकार के अनुभव, विचार, दृश्य इत्यादि सुव्य-वस्थित रूप से अङ्कित किये रहते हैं। उनका नामकरण, वर्गीकरण और कर्म-निश्चय इतना सुव्यवस्थित रहता है कि त्रुटि की कोई भी सम्भावना नहीं।

आर० एम० एस० (पत्रों का वर्गीकरण करने वाला रेलवे डाक विभाग) में जिस प्रकार प्रमुख वर्गीकर्त्ता अत्यन्त तीव्र गति से पत्रों को यथास्थान पर व्यवस्थित करता है, उसी प्रकार चित्त या अधीन-सचेतन-मन भी तड़ित् गति से प्रत्येक कार्य पूर्ण सावधानी तथा चातुरी से करता जाता है।

मन में ज्यों ही (कोई) विचार प्रविष्ट होता है, त्यों ही यह विद्युल्लहर का रूप धारण कर सतह पर आ जाता है और जीव (प्राणी) को प्रभावित करने लगता है। यदि उनके रङ्गों पर ध्यान करें तो यह अनुभव होंगे। आध्यात्मिक विचारों के मन में आते ही सुन्दर पीले रङ्ग का अनुभव होगा। जब मन में क्रोध का आविर्भाव हो, त्यों ही ध्यानपूर्वक अनुभव करने का प्रयत्न करना चाहिए—लाल रङ्ग के वाण तीव्रता से छूटते हुए प्रतीत होंगे। तात्पर्य यह है कि विचारों की प्रकृति और स्वभाव के अनुसार उनके रङ्गों में विभिन्नता होती है।

इस प्रकार पता चलता है कि इस विश्व और समस्त ब्रह्माण्ड में पूर्ण शासन की स्थापना है। आधारभूत अन्तर्यामी के कारण—भगवान् ही उसका आधार होने से सृष्टि का प्रत्येक कार्य शान्ति और सफलतापूर्वक चल रहा है। परमात्मा इस सृष्टि का सञ्चालक और पथप्रदाता है। जिस प्रकार महाराजा की उपस्थिति में आमात्यादि कर्मचारी यथाविधि कार्य करते रहते हैं; उसी प्रकार परमात्मा के सर्वव्यापक (सब जगह उपस्थित) होने से मन और अन्य इन्द्रियाँ परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य करती हैं।

भाव, भावना, उद्रेक, रुचि, वृत्ति और प्रवृत्ति के अलग-अलग और निश्चित स्थान हैं। मन में पठार और निचले भू-भाग भी हैं। पर्वत और घाटियाँ भी। आध्यात्मिक शिखर, वृत्तिपरायण मन और बुद्धि के प्रदेश भी हैं। शुद्ध मन और अशुद्ध मन दोनों का स्थान भी यहीं है। निवृत्ति-सम्पन्न मन और प्रवृत्ति सम्पन्न मन इसके पर्याय जानने चाहिए।

व्यक्ति की संकल्प-शक्ति मन की किसी तीव्र इच्छा को पूर्ण करने के लिए जब मैदान में उतरती है तो धारणा आदि अन्य (गुणात्मक) शक्तियाँ उसके पीछे कतारवार खड़ी हो जाती हैं। वे अपने स्वामी को सहायता देती जाती हैं। जब संकल्प-शक्ति द्वारा कार्य सम्पन्न किया जा चुका है तो कल्पना-शक्ति आगे आएगी और योजना बनाने लगेगी। स्मरण-शक्ति कल्पना-शक्ति को सहायता देगी। तीनों गुण, विविध प्रवृत्तियाँ, तेरह कुवृत्तियाँ—यह सब विविध रङ्गों में अपने स्वरूप को प्रकट करेंगी। चलचित्र में जिस प्रकार अनेकों अभिनेता आते और चले जाते हैं, उसी प्रकार विविध प्रवृत्तियाँ मञ्च पर आ कर

अपना कार्य सम्पन्न करती हुई वापिस चली जाती हैं, जहाँ से उनका आना हुआ था। यदि कुछ दिन तक ध्यानपूर्वक इस कार्यवाही पर गौर किया जाय तो अत्यन्त आनन्द और आश्चर्य का अनुभव होगा। इस अनुभव को शब्द व्यक्त नहीं कर पाते हैं। इसके परिचय के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास करना होगा—धारणा और चित्तशुद्धि इसके लिए उपयुक्त उपकरण हैं।

यही क्यों, यदि नित्य प्रति प्रातःकाल ४ बजे जाग कर वीरासन या पद्मासन या सुखासन में बैठ कर आत्म-निरीक्षण अथवा मानसिक-निरीक्षण और मानसिक-विश्लेषण (या चिन्तन) करना आरम्भ कर दिया जाय तो इस मानसिक कारखाने के कार्यकलापों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने लगेगा।

अतः प्रियवर, इस मानसिक महाविशाल कार्यालय के सञ्चालन को कभी न भूलना। वह और कोई नहीं, तुम्हारा आत्मा है। आधी रात को जब यह मानसिक शिल्पशाला कुछ समय के लिए (अंशतः) स्थिर हो जाती है, तब भी वह जागता ही रहता है, सचेत रहता है। नियमित धारणा का अभ्यास कर (मन को एकाग्र करते हुए) उसे (मन को) शुद्ध कर लो तो उस सञ्चालक के दर्शन प्राप्त हो सकेंगे। मन की विविध (सदात्मक) प्रवृत्तियों का विकास कर इस जीवन में सफलता के भागी बनो और परात्पर जीवन में (परलोक में) उसकी सुखमय गोद में अनन्त काल के लिए विश्राम करो।

शिल्पशाला के हे महाशिल्पी! हमें ठीक-ठीक शिल्पकला बताना और हमारी शिल्पशाला का सदा सञ्चालन करते रहना।

वासनाएं

(प्रथम)

इस जीवन के अस्तित्व का क्या अर्थ निकाला जाय ? यह जीवन क्यों है ? उत्तर केवल एक है—परमात्मा के साक्षात्कार के लिए, विश्वादि सृष्टियों में परिव्याप्त पूर्णता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए।

तब दर्शन किस प्रकार हो और ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय ? वासनाओं के अस्त होने पर ही आत्मज्ञान, परमात्म-दर्शन का सूर्योदय होता है। वासनाओं के लुप्त होते ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जब तक वासनाओं का तिरस्कार नहीं किया गया तब तक ज्ञान प्राप्त हो ही कैसे सकता है ? 'वासना का त्याग ही मोक्ष है'—श्रुति ऐसा कहती है।

इच्छाओं की सूक्ष्म अवस्था को वासना कहा जाता है। वासना का स्थूल रूप ही इच्छा है। जो वासना अन्तर्हित रहती है, उसे 'क्षय—वासना' कहते हैं। कुछ दार्शनिकों का मत है कि वासना प्रवृत्तिलक्षणात्मक है, अर्थात् प्रवृत्तियों अथवा चित्त-वृत्तियों (अभिलाषाओं) का पर्याय ही वासना है। कुछ और लोगों का मत है कि किसी योजना या निश्चय के बिना तीव्र तृष्णा के वशीभूत हो कर (अन्धे के समान) वासनात्मक पदार्थों के भोग में तन्मय होने की भावना को वासना कहा जाना चाहिए।

वासना दो प्रकार की होती हैं—शुभ वासना और अशुभ वासना। शुभ वासना व्यक्ति को जन्म-मरण के बन्धन से

मुक्त करती है। अशुभ वासनाओं से पुनर्जन्म होता है। अशुभ वासनाओं के कारण मन सदा व्यग्र और चञ्चल तथा पदार्थों के प्रति आसक्त रहता है। यदि शुभ वासनाओं को स्वीकृत करोगे तो अवर्णनीय आनन्द की प्राप्ति होगी। जिस प्रकार भुने या तले हुए बीज पनपने योग्य नहीं रहते, ठीक उसी प्रकार शुभ वासना भी पुनर्जन्म के रूप में नहीं पनप सकती है।

पूर्व जन्म में जो वासनाएं सञ्चित की जा चुकी हैं, वे आगामी जन्मों में भी साथ-साथ चिपकी रहेंगी। शुभ वासनाओं के सञ्चय से मुक्ति मिलेगी और अशुभ वासनाओं के सञ्चय होने से दुःख चिन्ता, सन्ताप तथा अनेकों जन्मों की प्राप्ति होगी। अशुभ वासनाशील व्यक्ति बार-बार इस संसार में जन्म लेता रहता है और दुःख पाता है।

इच्छा होती है, जैसे सिनेमा जाने की इच्छा, मांसाहार की इच्छा, मैथुन की इच्छा, अयुक्त मार्गों से दूसरे के धन हरने की इच्छा—यह अशुभ वासनाएं हैं। काम, क्रोध, लोभ, अहङ्कार, छल-कपट, भ्रम, घृणा, द्वेष—यह अशुभ वासनाएं हैं। जिस प्रकार अशुभ इच्छा होती है, उसी प्रकार शुभ इच्छा भी होती है, जैसे सत्सङ्ग और सन्तों के साथ बैठने की इच्छा, महात्माओं और भक्त लोगों की सेवा करने की इच्छा, दीन और हीन लोगों की सेवा करने की इच्छा—यह शुभ वासनाएं हैं। दया, प्रेम, सहनशीलता, दानशीलता, ब्रह्मचर्य, सत्यता, क्षमाशीलता और साहस—यह शुभ वासनाओं के कुछ रूप हैं।

अशुभ वासना तीन प्रकार की होती है—लोक-वासना, शास्त्र-वासना और देह-वासना। नाम और यश, प्रतिष्ठा

श्रौर ख्याति, शक्ति श्रौर मर्यादा की प्राप्ति की इच्छा को लोक-वासना कहा जाता है ; अर्थात् यह लोक-वासनाएं हैं। महा-पण्डित बनने की इच्छा, दूसरों के साथ तर्क करने की इच्छा श्रौर तर्क में उन पर विजय पा लेने की इच्छा को शास्त्र-वासना कहा जाता है; अर्थात् शास्त्रादि से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को शास्त्र-वासना कहते हैं। मन में एक इच्छा होती है कि सुन्दर शरीर श्रौर गठन होना चाहिए, स्वस्थ शरीर होना चाहिए, काया-कल्प द्वारा दीर्घ-जीवन की प्राप्ति करनी चाहिए, मक्खन आदि खा कर शरीर को भारी, स्थूल बनाना चाहिए—यह सब देहात्मक वासनाएं हैं अर्थात् देह से सम्बन्ध रखने वाली इच्छाएं देह-वासना के नाम से जानी जाती हैं। अतः यह सभी वासनाएं अशुभ हैं, जो जीव को संसार से बाँधे रहती श्रौर बार-बार उसे इस लोक में वापिस लाती हैं।

जो शक्तिशाली वासना तुम पर अपना अधिकार स्थापित करती है, उसी वासना के स्वरूप में तुम तन्मय हो जाते हो। बीज से वृक्ष पैदा होता है श्रौर वृक्ष से ही बीज। इसी तरह प्राणों की लहरों के द्वारा वासना का उदय होता है श्रौर वासना के उदय होने से प्राण प्रगतिमय होते हैं। दोनों में से एक को नष्ट कर दीजिए, दोनों का नाश अवश्यम्भावी है।

अविद्या अथवा अज्ञान से सर्वप्रथम अहङ्कार का जन्म होता है। अहङ्कार की दो कन्याएं—राग श्रौर वासना हैं। दोनों (राग श्रौर वासना) का आपस में साहोदर्य है। जहाँ वासना, वहाँ राग—वासना श्रौर राग साथ-साथ रहते हैं। (राग को आसक्ति या मोह कहा जा सकता है)। राग के कारण ही ममता (अपनापन) होती है। यदि राग श्रौर वासनाश्रों का लोप करना हो तो पहिले पहल अहङ्कार का ही

मूलोच्छेदन करना होगा। अहङ्कार के मूलोच्छेदन के लिए अविद्या को हटाना होगा। अविद्या को हटाने पर अहङ्कार, राग और वासनाएं अपने आप मर जाएंगी।

अहङ्कार के साथ अशुभ वासनाओं का अनन्य सम्बन्ध है। उनका स्वभाव अज्ञानात्मक है। इसका मतलब हुआ कि वासनाओं से दबा या घिरा हुआ व्यक्ति अज्ञानी और निर्बल भी है। अशुभ वासनाओं को अन्तर्मुख और शुभ वासनाओं को विकसित कर देने पर ही खोई हुई दिव्य सत्ता की प्राप्ति हो सकती है। जिसने अज्ञान को और उसके साथ-साथ शुभ वासनाओं को भी जला दिया है, वह कभी भी दुःख और सन्ताप का अनुभव नहीं करेगा; वह सदा अनन्त आनन्द का ही अनुभव करेगा।

वासनाओं का स्वरूप अति-सूक्ष्म होता है। जिस प्रकार बीज में फूल अन्तर्हित रहता है, उसी प्रकार वासनाएं हृदय में अन्तर्हित रहती हैं। संस्कारों की पीठिका के प्रगतिमय हो जाने पर आनन्द की स्मृति का आविर्भाव होता है। आनन्द के अनुभव का स्मरण करते ही इच्छाएं जागती हैं। जब इच्छा जाग जाती है तो इन्द्रियाँ मन के सहयोग में काम करने लग जाती हैं। फलस्वरूप मनुष्य इच्छित वस्तु की प्राप्ति और उसके उपभोग के लिए भरसक प्रयत्न करता है। यह सब कार्य क्षणमात्र में सम्पन्न हुआ करते हैं।

जो चीज एक बार मीठी या अच्छी लगी थी, वह दूसरे समय पर अप्रिय और अरुचिकर प्रतीत होगी। क्या यह बात सच नहीं? सोचो तो सही। इच्छित वस्तु की प्राप्ति आनन्द-दायक और अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति दुःखदायी सिद्ध हुई है।

इसलिए पदार्थ-भोग का कारण अशुभ वासना है। जब हम तत्कथित भोग से तृप्त हो जाते हैं, तब आनन्द का स्रोत बन्द हो जाता है। परन्तु वासना रुक गई तो ? वासना के रुकते ही मन का नाश हो जायगा और अन्य सभी उपकरणों का निवारण भी। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञान के शत्रु—इन वासनाओं को अन्तर्निहित कर अमरत्व की प्राप्ति करो।

मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। जिस मन में अशुभ वासनाएं हैं या पनप रही हैं, वह मन मनुष्य को बन्धन की ओर ले जाता है। जिस मन में अशुभ वासनाएं नहीं हैं, वह उसे मुक्ति की ओर ले जाता है। वासनाओं का क्षय हो जाने पर मन का भौतिक अस्तित्व नहीं रहता। साधक में मन-तत्त्व अनुपस्थित हो जाता है। मन-तत्त्व के न होने पर, व्यक्ति में ज्ञान-चक्षुओं का विकास होने लगता है और ज्ञान का स्रोत फूट पड़ता है। इसी अवस्था में साधक अकथनीय शान्ति का अनुभव करने लगता है।

मन वासनामय है; जगत् भी वासनामय है। वासनाओं के माध्यम से मन भोग-पदार्थों में लिप्त रहता है और हरदम भोग-विलास की ही बातें सोचता रहता है; पर वासनाओं का क्षय होते ही वह पदार्थों में रमना छोड़ देता है और तब हम निर्विचार अवस्था की प्राप्ति कर पाते हैं।

मन को एक वस्त्र के समान समझना चाहिए। जब वस्त्र को पीले रङ्ग से रङ्गते हैं तो वह पीला हो जाता है, यदि लाल रङ्ग से रङ्गते हैं तो लाल हो जाता है। अर्थात् वस्त्र को जिस रङ्ग में रङ्गना चाहें वही रङ्ग उसमें प्रत्यक्ष होता है और वह वस्त्र भी उसी रङ्ग का माना जाता है। इसी प्रकार

मन को वासनाओं के जिस रङ्ग में रङ्गा गया हो, वही रङ्ग उसमें प्रत्यक्ष हो जाता है। सात्त्विक वासनाओं से मन में श्वेत रङ्ग प्रत्यक्ष होता है तो राजसिक वासनाओं से लाल और तामसिक वासनाओं से काला रङ्ग चढ़ जाता है। जैसी वासना, वैसी ही भावना (मन की विशेष क्रिया को भावना कहा जाता है)।

जब तक मन को आत्म-विचार के अभ्यास से विषय-उपरत नहीं कर दिया जाय, तब तक वासनाएं रहेंगी ही। वे बार-बार आक्रमण करती रहेंगी, लुक-छिप कर साधक को सन्तप्त करती रहेंगी। कभी तो वे इन्द्रियों के द्वार से अन्दर प्रवेश करेंगी, कभी-कभी संस्कारों के मार्ग से और कभी नेत्रों की राह से भी। उनकी उपस्थिति और उनके प्रवेश-मार्ग को जानने के लिये सतत जागृत और सचेत रहना चाहिए।

जब मन अशुभ वासनाओं से पूर्णतया मुक्त हो जाता है तो हम अनेकों प्रतिकूलताओं और आपत्तियों के बावजूद भी सन्तुलित और धीर रह सकते हैं। वासनाओं का निवारण होते ही मन शान्त और स्निग्ध हो जाता हैं। वैराग्य और विवेक, इन्द्रिय-संयम, आत्म-चिन्तन और ध्यान द्वारा मन की अशुभ वासनाओं का दमन किया जा सकता है।

यह बात अवश्य जान लेनी चाहिए कि अशुभ वासनायें दृढ़ और हठी हुआ करती हैं। उनको भगाओ भी तो वे मन के अन्दर, किसी कोने में, चुपचाप छिप जाया करती हैं और वहीं से अपनी चालाकी के खेल खेला करती हैं। कभी-कभी तो वे अपना वेष बदल कर मन के अन्दर रहा करती हैं। योगाभ्यास करते रहने से वे कुछ काल तक दबी हुई रहती हैं। अगर हम

अपने ध्यान में नियमित नहीं हैं, यदि हममें वैराग्य का अभाव होने लग गया तो वे फिर मौका पाकर दुगुने वेग से आक्रमण करेंगी। इस प्रकार प्रतिक्रिया होने लगती है। अतः यह जरूरी है कि हमें बुद्धि द्वारा उनकी उपस्थिति का पता लगाने की शक्ति प्राप्त होती रहे। इसके लिए शुद्ध और कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता है। अनेकों जन्मान्तरों से अभ्यस्त हुई यह वासनायें आसानी से नहीं भगाई जा सकती हैं। इनमें बल रहता है और शक्ति होती है। निरन्तर आध्यात्मिक साधना, आत्म-चिन्तन, विवेक, दम, प्रत्याहार और योगाभ्यास करते रहने से ही इनका दमन किया जा सकता है।

जब नया साधक साधना आरम्भ करता है तो शुभ और अशुभ वासनाओं के बीच झगड़ा आरम्भ होता है। विचारों की प्रकृति वासनाओं की प्रकृति पर निर्भर रहा करती है। जब मन में बुरे विचार जाग रहे हों तो अशुभ वासनाओं को मन में स्थित हुआ जानना चाहिये। इसीलिये आरम्भ में अथक परिश्रम कर शुभ वासनाओं से मन को परिपूर्ण कर देना चाहिए और सदा शुद्ध विचारों को ही मन के अन्दर रहने देना चाहिए।

जिसकी वासनाओं का क्षय हो चुका है, वही साधक धारणा और ध्यान में सफलता प्राप्त कर सकेगा। वासनाओं के दमन से मन का दमन हो जाता है। मन और है क्या, केवल वासनाओं का समूहमात्र ही तो न? बहुत से साधकों की शिकायत है—'हम पिछले १५ सालों से ध्यान का अभ्यास करते आ रहे हैं, किन्तु अभी तक धारणा और ध्यान में पूर्ण एकाग्रता नहीं हो पाई है।' साधकों की इस शिकायत का कारण यह है कि उन्होंने वासनाओं का दमन या निवारण नहीं कर पाया

होगा। उनमें वासनाओं का जोर होगा। इसलिए आवश्यक है कि वे प्रथमतः पूरे प्रयत्न से वासनाओं का दमन करें—वासना ही शान्ति और ध्यान की शत्रु है। यदि हम नित्य-दृष्टि में स्थापित हो चुके हैं, यदि हमें पूर्ण विश्वास हो चुका है कि यह संसार नश्वर है तो वासनायें स्वतः ही पराभूत हो जायेंगी। सांसारिक प्रवृत्तिशील व्यक्ति अशुभ वासनाओं का दास रहता है। साधक में जब कभी अशुभ वासनायें अपना सिर उठाती हैं तो वह अपनी संकल्प-शक्ति तथा आध्यात्मिक बल से उनको तुरन्त हटा देता है। जीवन्मुक्त में वासनाओं की भस्ममात्र ही रहती है। लोकरत गृहस्थी में वासनाओं का साम्राज्य खूब फैला हुआ रहता है। साधक में वासनायें नियन्त्रित रहती हैं, उनको सिर उठाने का अवसर भी नहीं मिलता।

पर यह बात जरूर है कि वासनाओं को अन्दर ही अन्दर दबाना किसी भी हालत में सहायक नहीं होगा। वासनाओं का तो निराकरण और निष्कासन ही हो जाना चाहिए, जिस प्रकार जहरीले सर्प के विषदन्त निकाल लिए जाते हैं। तभी ब्रह्मपद की प्राप्ति की जा सकती है।

निरन्तर प्रयत्नों से वासनाओं को शुभ मार्गगामी बनाया जा सकता है। वासनाओं के अशुभ प्रभाव को बाँध से रोक कर उसे शुभ मार्ग से ले जाना होगा। शुभ वासनायें प्रचुर मात्रा में हैं तो कोई हानि नहीं। वैसे तो शुभ वासना भी एक प्रकार का बन्धन है, किन्तु जिस प्रकार हम एक काँटे से दूसरे काँटे को निकाल कर बाद में दोनों को फेंक देते हैं, उसी प्रकार से शुभ वासनाओं से अशुभ वासनाओं का पराभव कर (उसको

निष्कासित कर) शुभ वासनाओं का भी त्याग करना ही होगा। यहाँ तक कि अन्त में मोक्ष-प्राप्ति की वासना भी नहीं रहनी चाहिए। तभी 'तत्' शब्द से सूचित ब्रह्मपद की प्राप्ति की जा सकती है।

आत्मज्ञान की प्राप्ति करने के लिए, अन्य अभ्यासों के साथ-साथ वासना-क्षय, मनोनाश और तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास भी करना चाहिए। केवल एक ही प्रकार की साधना पर्याप्त नहीं, बल्कि अनेकों अभ्यासों का समन्वय करना होगा; तभी मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

जिसके हृदय में वासना का लेशमात्र नहीं, वही संसार में सचमुच सुखी और समृद्ध है, वही जीवन्मुक्त है।

प्रह्लाद, आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाने तथा ब्रह्म में समाधिगत हो जाने पर भी, भगवान् हरि के स्पर्श से इस भौतिक चेतना में उतर आया था; क्योंकि उसमें संस्कारों का अवशेषमात्र रहा हुआ था। पर वे संस्कार शुभ-वासनात्मक ही थे। जीवन्मुक्त सन्तों में वासनायें भस्मीभूत-बीज के समान शेष रहती हैं, उनमें पुनर्जन्म की शक्ति नहीं रहती। जिस प्रकार गहरी निद्रा में वासना बीज के समान अनङ्कुरित अवस्था में रहती है, उसी प्रकार यह शुभ वासनायें, सात्त्विक ज्ञान से सम्पर्क रखने के कारण, ध्यानी जीवन्मुक्तों में भी रहती हैं। जब तक शरीरपात नहीं होता, तब तक जीवन्मुक्तों में वासना के अवशेष अन्तर्निहित अवस्था में विद्यमान् रहते हैं। धीरे-धीरे उनका विलोप होता है। जीवन्मुक्त पुरुष इस संसार की प्रत्येक वस्तु को शुभ वासनामयी दृष्टि से देखते हैं।

शुद्ध विचार और विवेक के अभ्यास से, अपने आपको इन पदार्थों के सम्पर्क से दूर ही रखना होगा। पदार्थों के अभाव में अहं भावना और ममत्व कहाँ और इन दोनों के अभाव में पदार्थभाव कहाँ ? अतः बार-बार यही विचार करो और इसी विचार को अपने मन के अन्दर पुष्ट करो कि अहं भाव और ममत्व के साथ पदार्थों का कोई सम्बन्ध नहीं—दोनों एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं। अपने आपको असीमित और अपार सच्चिदानन्द परब्रह्म के साथ एक समझो। इस भौतिक देह के अध्यास का तो त्याग ही श्रेयस्कर है। विदेहमुक्त बन जाओ, जैसे राजा जनक थे। अब वासनायें रहीं कहाँ ?

यह कारण शरीर अज्ञानजनित है। इसमें वासना और संस्कारों की प्रचुरता है। ब्रह्म अथवा आत्मा में वासनायें कहाँ ? वह तो शुद्ध, निर्विकार, निर्लिप्त और द्वन्द्वातीत है। आत्मा निरिन्द्रिय और अप्राण है। इन गुणों से युक्त ब्रह्म का सदा ध्यान करने से वासनाओं का क्षय हो जाता है। शुद्धि का अवतरण हो तो अशुद्धि कहाँ, या यों कहिये कि अशुद्धि का निवारण होते ही शुद्धि का अवतरण स्वाभाविक हो जाता है। अनुकूलता से प्रतिकूलता का समाधान होता है—यह प्रकृति का महाविधान है।

वासनाओं का नाश कर (इस मन का भी नाश कर) दो और सदा के लिए सच्चिदानन्द ब्रह्म में संस्थित रहो। उस अमर ब्रह्म-पद की प्राप्ति करो, जहाँ परम आनन्द, शाश्वत सुख और नित्य तृप्ति है।

सृष्टि की सभी शिल्पशालाओं में शरीर-रूपी-शिल्पशाला अत्यन्त अद्भुत है। यह मानव द्वारा नहीं, ईश्वर

द्वारा बनाई गई है। इस आश्चर्यंजनक शिल्पशाला में वासनाओं को इच्छाओं में बदला जाता है, अशुभ वासनाओं का दमन होता है, शुभ वासनाओं का उत्पादन किया जाता है तथा विचारों की शृङ्खला जोड़ी जाती है; अन्त में महा-मूल्यवान् वस्तु—ब्रह्मज्ञान-रूपी नवनीत (मक्खन)—उसमें से मथ कर निकाल ली जाती है।

इस अद्वितीय शिल्पशाला के अदृश्यभूत महाशिल्पी, तुम्हारी जय हो! आश्चर्यंजनक वस्तुओं से भरी-पूरी तथा आज तक की अज्ञात शिल्पशाला के शासक और राजा! तुम्हें प्रणाम है!! नमस्कार और पुनः नमस्कार है!!!

(द्वितीय)

वासनाओं का दमन कठिन है। मान लेता हूँ कि आप सुमेरु पर्वत को स्थानच्युत कर सकते हैं, किन्तु सन्देह होता है, जब कहते हैं कि आपने अपनी वासनाओं का दमन कर लिया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वासना-दमन का कार्य असम्भव है। मैं तो यह भी कहूँगा कि विलक्षण, दृढ़निश्चयी और लौह-सदृश संकल्पवान् के लिए वासनाओं का दमन करना अत्यन्त सरल कार्य है, जब कि साधारण व्यक्ति के लिए वासनाओं के बन्धन से मुक्ति पाना असाध्य हो जाता है।

व्यक्तियों के अन्तस्तल पर वासनाओं का तीव्र असर हुआ करता है। वासनाएं उनके मन पर अधिकार स्थापित कर लेती हैं और उनको अपना शिकार (या दास) बना लेती हैं। सच बात तो यह है कि वासनाएं मादक द्रवों, कोकेन और अफीम से भी अधिक नशीली होती हैं; क्योंकि इन नशीले

पदार्थों का असर कुछ ही घण्टों तक रहता है, जब कि वासनाओं का प्रभाव अनेकों सालों तक मनुष्य को दुःखित और सन्तप्त करता रहता है। कुछ ही साल क्यों, अनेकों जन्मों में भी वासनाओं का प्रभाव वैसे का वैसा ही बना रहता है और जब तक आत्म-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक वह जोंक के समान मनुष्य से चिपटी रहती हैं।

जो वासनाओं के अधीन हो कर चलते हैं, वे दुनियाँ में अजीब ढङ्ग के पियक्कड़ हैं। उनमें सत्य और असत्य का निर्धारण करने वाली विवेक-बुद्धि नहीं है। उनकी बुद्धि सदा मेघाच्छन्न आकाश-सी रहा करती है। भोग-पदार्थ के लिए वे सदा लालायित रहा करते हैं। वासनाओं का प्रभाव उन पर इतनी प्रवलता से होता है कि वे परिणामों के बारे में कुछ भी नहीं सोच सकते। उनकी स्मरण-शक्ति निर्बल हो जाती है। वे बार-बार बेशर्म की तरह उन्हीं कामुक प्रवृत्तियों में लिप्त रहते हैं। जब वे वासना के पञ्जे में जकड़े रहते हैं, उनकी बुद्धि कार्य-निर्धारण में असफल हो जाती है। विषय-वासनाओं को बार-बार दुहराने से और भोगने से वासनाएं गहरी और दृढ़ हो जाती हैं, अर्थात् भोग-विलास से वासनाओं को बल मिला करता है। वासना जितनी गहरी होगी, उतनी ही उसकी शक्ति और उतना ही अधिक मनुष्य में भ्रम और अहङ्कार तथा अज्ञान।

वासनाओं से दबे और भ्रमित व्यक्ति अशुद्ध कार्य किया करते हैं। उनमें अहङ्कार, आत्म-अभिमानता और गर्व की प्रचुरता होती है। उनके मन में सदा बुरे विचार चक्कर लगाया करते हैं। उनके जीवन का केवलमात्र लक्ष्य भोग-

विलासों में आनन्द लेना है। विषय-भोगों की पूर्ति के लिए वे अयुक्त, असत्य, अयोग्य और अनर्थकारी रीतियों से धन-सम्पत्ति का संग्रह करते हैं, सदा असंख्य आशाओं और प्रतीक्षाओं से भरे हुए रहते हैं। धन प्राप्त करने के लिए वे हर प्रकार का अधम कार्य करने पर सन्नध हो जाते हैं। धन ही उनका सर्वस्व है और धन ही उनका भगवान्। ऐसे व्यक्ति लोलुप और क्रोधी होते हैं। छल-कपट, धूर्तता, क्रोध, पाखण्ड, षड्यन्त्र और बेईमानी उनमें कूट-कूट कर भरी हुई रहती है।

लौकिक प्रकृति के व्यक्ति सदा प्रशंसा की अपेक्षा करते हैं और निन्दा से दूर रहना चाहते हैं। उनके प्रत्येक कार्य इस लक्षण और प्रकार से किये जाते हैं कि लोग उनकी प्रशंसा करें, 'वाह-वाह' के नारे लगावें, उनके कारनामों की तारीफें करें। इस वासना को भी अशुभ वासना कहा जाना चाहिए। यही लोक-वासना है। क्या यह कभी सम्भव है? न, कभी नहीं। संसार की खाज को आज तक कोई नहीं मिटा सका। क्या उस वृद्ध बाप, युवा पुत्र और गधे की कहानी नहीं सुनी है, जो हर प्रकार के उपायों को बरत कर भी दुनियाँ को खुश नहीं कर सके थे। तुम विशालतम बरतन का मुँह अच्छी तरह बन्द कर सकते हो, किन्तु अनेकों मुख वाले इस संसार को चुप करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। कुछ प्रशंसा करेंगे और कुछ निन्दा। अतः सन्तुलित और समतापूर्ण मन बनाए रखो। निन्दा और प्रशंसा से ऊपर उठना होगा। प्रशंसा को सुअर की विष्ठा या हलाहल विष के समान समझते हुए लोक-व्यवहार करना होगा। निर्द्वन्द्व अवस्था की प्राप्ति करनी होगी। तभी आनन्दमय बन सकोगे।

तभी तुम्हारे अन्दर शान्ति और प्रसन्नता का अपार सौन्दर्य निखरने लगेगा।

औरों की क्या पूछते हो, दुनियाँ ने श्रीराम, भगवान् श्री कृष्ण, महादेव शिव और भगवती सीता तक की निन्दा नहीं छोड़ी। दुनियाँ में ऐसे-ऐसे महान् पुरुषों की भी उनके समय में और आज तक निन्दा होती रही है। संसारी उन पर तरह-तरह के दोष आरोपित करते हैं। जब दुनियाँ वालों का भगवान् के प्रति ऐसा व्यवहार है तो साधारण व्यक्ति के प्रति क्या पूछना ?

गोरा आदमी काले को पसन्द नहीं करता है और वैसे ही काला आदमी भी। आर्यसमाजी सनातनी से खार खाता है और सनातनी आर्यसमाजी से। दक्षिणी (मद्रासी) उत्तराखण्डीय को क्षुद्र दृष्टि से देखता है और उत्तराखण्डीय मद्रासी को। शैव और वैष्णव की आपस में नहीं बनती। प्रोटेस्टेण्ट् और कैथोलिक् सम्प्रदाय का भी आपस में यही हाल है। मनुष्य का तो यह स्वभाव ही है कि वह अपनी भूमि, अपने देश, परिवार, सम्प्रदाय, समाज, अपनी पूजा-पद्धति, अपने धर्म और अपनी भाषा की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करे। यह अल्प-बुद्धि के कार्य हैं, जिनका जन्म अज्ञान से हुआ है; क्योंकि जब व्यक्ति का हृदय आध्यात्मिक संस्कृति की साधना से विकसित हो जाता है और जब उनमें आत्मा का ज्ञान प्रस्फुटित हो जाता है—तब उपरोक्त वासनाओं का लेश-मात्र भी नहीं रहता। इस विषय पर अच्छी तरह विचार कीजिए, मनुष्य की अवस्था कितनी शोचनीय और पतित हो चुकी है; वासनाओं का कुप्रभाव उस पर किस प्रकार अङ्कित

हो चुका है। इतना होने पर भी वह वासना के उन्मूलन के लिए कुछ नहीं कर रहा है। जोंक की तरह हमेशा चिपके रहना ही उसे पसन्द है और 'मैं ठीक कर रहा हूँ'—यही उसका पूर्ण निश्चय है। सच कहा जाय तो वह इस मनुष्य-देह में ही गधे से गया-बीता काम कर रहा है।

धर्म-सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थों का अध्ययन भी अशुभ वासना के अन्तर्गत माना जाता है। इसे शास्त्र-वासना के नाम से कहा गया है। बात ठीक है, आत्मा या ब्रह्म किताबों में तो नहीं पाया जाता है। कुछ व्यक्तियों की धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने में बड़ी आसक्ति रहती है। वे व्यावहारिक आध्यात्मिक साधना से बहुत दूर रहा करते हैं। उनका जीवन केवल अध्ययन करते-करते बीत जाता है। उनको किताबों का कीड़ा कहना चाहिए। शास्त्रों का पार कहाँ ; वे अनन्त हैं। जीवन छोटा है। रास्ते में भी बड़ी-बड़ी बाधाएं हैं। अतः तत्त्व की बात जान कर तथ्य को ग्रहण करना चाहिए और उसे अपने आचार-विचार के साथ समीकृत कर लेना चाहिए। आत्मा ही तत्त्व है। आत्मा का साक्षात्कार कर लेने पर आपके लिए वेदों का कुछ मूल्य नहीं रह जाता। भरद्वाज ने तीन जन्मों में केवल वेदों का अध्ययन किया। चौथे जन्म में भी वह वेदों का अध्ययन करते जा रहा था। तब देवराज इन्द्र ने आकर उसको इस बन्धन से मुक्त किया। इन्द्र ने भरद्वाज को ब्रह्म-विद्या की दीक्षा दी और कैवल्य के मन्त्र में पुनीत किया। देवराज के कथनानुसार भरद्वाज ने वेदाध्ययन को मुक्ति देकर अनवरत ध्यान का अभ्यास किया और उसी जन्म में आत्मा का परोक्ष ज्ञान भी प्राप्त कर लिया।

किन्तु सबसे अधिक शक्तिशाली-वासना है--काम-वासना। अतः पूरी शक्ति के साथ काम-वासना का दमन करना चाहिए (और शिश्नेन्द्रिय का सर्वप्रथम)।

अनेकों विषयों का अध्ययन भी अशुभ-वासना के अन्तर्गत है। यह भी शास्त्र-वासना का एक अङ्ग है। एक बार दुर्वासा महर्षि एक गाड़ी भर ग्रन्थ ले कर शिव जी के पास गए। वहाँ नारद जी ने उनको एक गधे की उक्ति सुनाई। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार गधा अपने ऊपर चन्दन लादे जाने पर भी चन्दन के अस्तित्व से अनभिज्ञ रहता है और केवल बोझ का ही अनुभव करता है, उसी प्रकार ग्रन्थाध्यायी पण्डित भी पुस्तकों का कीड़ा बन कर केवलमात्र उनके बोझ का ही वहन करता है, न कि सार का ग्रहण। उनके इस कथन से दुर्वासा को ज्ञान हो गया, वे सब कुछ समझ गए। उन्होंने सभी ग्रन्थों को सागर में डुवा दिया। तब जा कर शिव जी ने उनको ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी। दुर्वासा ने गम्भीर ध्यान द्वारा आत्म-पद को प्राप्त किया। कठोपनिषद् की उक्ति है—'आत्मा प्रवचन, बुद्धिमत्ता और श्रवण अथवा विद्वत्ता किसी के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है।'

विद्वत्ता का अहङ्कार भी शास्त्र-वासना के अन्तर्गत है। आत्म-ज्ञान के मार्ग का यह वड़ा भारी रोड़ा है। इस प्रकार के अहङ्कार से अभिमान में दुगुनी शक्ति आती है तथा अविद्या का अन्धकार और भी गहनतम हो जाता है। उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु अपनी विद्वत्ता के घमण्ड में फूल गया था। उसने पिता से योग्य व्यवहार नहीं किया। उद्दालक ने तुरन्त एक प्रश्न पूछ कर उसके अहङ्कार को धूसरित कर दिया—'तुमने,

हे श्वेतकेतु, क्या विज्ञानों के विज्ञान का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिससे तुम सभी ज्ञानों में पारङ्गत हो सकोगे ?' श्वेतकेतु 'नहीं' के अतिरिक्त और कोई दूसरा उत्तर नहीं दे सका। तव उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को, जो तुरन्त गुरुकुल से शिक्षा पा कर लौटा था, ब्रह्मविद्या सिखलाई, जिसे 'महाविज्ञान' की संज्ञा दी गई।

अब रही देह-वासना, वह क्या है ? फूल की मालाओं से शरीर को सुन्दर बनाये रखने की इच्छा, सुगन्धित तैलों का सेवन, पाउडर इत्यादि का उपलेप, शरीर को सुन्दर और कोमल बनाने के सभी सौन्दर्य-प्रसाधनों का उपयोग, देह के प्रति अनावश्यक और आवश्यकता से अधिक आसक्ति; यही देह-वासना है। देह के प्रति वासना को ही 'देह-वासना' कहा जाता है।

चञ्चल मन पर विजय पाइए

अपने मन की आदतों और उसके रिवाजों को अच्छी तरह जानना चाहिए। तभी मन पर नियन्त्रण स्थापित करना आसान होगा और तभी सङ्कल्प को शक्तिमय, स्मृति को विकसित और विचारों को परिशुद्ध कर सकोगे। मन की एक आदत (जो सवसे मुख्य है) इधर-उधर घूमने की है। एक लक्ष्य पर जमे रहना मन के लिए सम्भव नहीं-सा है। यह वायु की तरह इधर और उधर घूमते रहता है। यही भगवान् श्री कृष्ण से अर्जुन ने कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

मन चञ्चल है, हे कृष्ण ! प्रमथन करने वाला है, बली और दृढ़ है यह। इसका निग्रह वायु के समान दुष्कर है।

(गीता अध्याय ६ श्लोक ३४)

इस पर श्री कृष्ण ने कहा, 'हे अर्जुन, निःसन्देह मन का निग्रह कठिन है और यह चञ्चल भी है, किन्तु निरन्तर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इस पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है।'

यहाँ पर भगवान् श्री कृष्ण मन पर नियन्त्रण स्थापित करने का सुगम उपाय संक्षेप में सूचित कर रहे हैं। मन पर विजय पाने के लिये यह जरूरी हो जाता है कि हम इच्छाओं का उन्मूलन करें और इन्द्रियों पर अपना अधिकार पूर्णतया स्थापित कर लें। मन के चञ्चल होने का कारण और है ही क्या—केवल इच्छा ही तो मन को व्यग्र और उद्विग्न बनाया करती है। इन्द्रियाँ विषयों के पीछे भागा करती हैं और मन इन्द्रियों का अनुसरण करता है, जैसे कुत्ता स्वामी का। विषय-पदार्थों में रमे रहने के कारण मन की वृत्तियाँ (या किरणें) इतस्ततः बिखरी हुई रहती हैं। विषय-पदार्थों को पाने, उन पर अपना अधिकार स्थापित करने तथा उनको भोगने की इच्छा होने के कारण मानसिक शक्तियाँ छितरी हुई रहती हैं। अभी-अभी मन सुन्दर गीत सुनना चाहता है तो वह अपने पाँव और कानों को आदेश देता है। पाँव उसे वहाँ ले जाते हैं। कानों से वह सुन्दर गीत का आनन्द लेता है।

यह क्षुद्र जीव (प्राणी; मनुष्य) मन और इन्द्रियों के पाश में बँध जाता है। कुछ ही देर में जीभ कहती है—'चलो, ताजमहल होटल तक चलें। वहाँ प्रथम श्रेणी की काफी पीएंगे।'

इसी प्रकार कुछ देर में शिश्नेन्द्रिय उत्तेजित हो जाती है और मनुष्य में काम-वासना प्रज्वलित होने लगती है। मनुष्य अन्धा हो कर इन इन्द्रिय-पाशों में फँसता जाता है। पाँचों इन्द्रियाँ उसे इधर-उधर भटकाती रहती हैं, इसे क्षण भर का विश्राम नहीं मिलता। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और क्षुद्र जीव के साथ-साथ मन इनमें रमण करता है।

यदि रमण करते हुए मन पर नियन्त्रण स्थापित करना है तो सभी प्रकार की वासनाओं और इच्छाओं का त्याग कर देना होगा और इन्द्रियों पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लेना होगा। तभी धारणा, ध्यान, स्मृति-साधना और विचार-साधना में सफलता प्राप्त हो सकती है।

जब-जब मैं उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पूर्व पञ्जाब तथा काश्मीर में पर्यटन के लिए गया तो अनेकों शिक्षित व्यक्तियों से मिला था; वे मुझसे पूछते थे—'स्वामी जी, एकाग्रता और ध्यान किस प्रकार किए जाएँ ? हम लोग पिछले १५-२० सालों से एकाग्रता में संलग्न हो रहे हैं और ध्यान भी करते आ रहे हैं, किन्तु सफलता अभी तक नहीं मिल पाई।'

इसका कारण यही है कि वे लोग ध्यान करने का वज्ञानिक और वैधानिक तरीका अभी तक नहीं समझ पाए हैं। उन्होंने चित्त-शुद्धि नहीं प्राप्त की है। उनमें लोक-वासना वर्तमान है। उनका मन सन्तुलित और अनुशासनबद्ध नहीं है। इन प्रारम्भिक आवश्यक साधना में सफल हुए बिना ही वे असम्भव कार्य करना चाहते हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? यह तो किसी हाथी को डोरी से बाँधने का असफल प्रयास हुआ।

श्री कृष्ण भगवान् ने अस्थिर मन को स्थिर करने के लिए यह उपदेश दिया है—'मन की कल्पनाओं से जन्यमाण सभी इच्छाओं को त्याग कर, चारों ओर से इन्द्रियों के व्यापारों पर नियन्त्रण स्थापित कर, धीरे-धीरे उसे (साधक को) समता की प्राप्ति करनी चाहिए, और मन को आत्मा में प्रतिष्ठित करने पर और कुछ विचारना नहीं चाहिए। जब और जितनी बार अस्थिर और उत्तेजित मन भटके, उतनी ही बार उसे, लगाम डाल कर, अपने नियन्त्रण में ले आना चाहिए।'

इस अभ्यास से क्या फल मिलता है ? जिसका मन शान्त है, जिसने अपने कामपूर्ण स्वभाव का दमन कर दिया है और जिसकी वासनायें जल कर राख हो चुकी हैं तथा जो दोषहीन जीवन बिता रहा है—उस योगी के लिए निर्विकार और शाश्वत आनन्द का द्वार सदा खुला रहता है।

श्री कृष्ण भगवान् के उपदेशों पर ध्यान दो—'सभी इच्छाओं को बिना किसी विचार के त्याग देना चाहिए।' प्रायः देखा जाता है कि कुछ लोग आत्म-तृप्ति के लिये अपने मन में कुछ इच्छाएँ रखे रहते हैं। उनके मन में कुछ न कुछ इच्छाएँ वर्तमान रहती हैं। एक गृहस्थी, जो एकाग्रता और ध्यान का अभ्यास करता है, पूर्णतः इच्छाहीन हो, ऐसा हो नहीं सकता; कुछ-न-कुछ इच्छा उसमें आत्म-सन्तोष के लिए छिपी हुई रहेगी। इससे यह होता है कि उन लोगों की शक्ति निचले छेद से चूती रहती है और वे परिणामस्वरूप विशेष उन्नति नहीं कर सकते हैं। अभ्यास करते-करते वे चार-पाँच सीढ़ियाँ पार कर लेते हैं, किन्तु सहसा नीचे आ गिरते हैं। मानसिक विक्षेप और मन के परिभ्रमण को रोकने के लिए

परिपूर्ण वैराग्य की आवश्यकता है। इन्द्रियों का चारों ओर से दमन होना चाहिये।

इन्द्रियों में से किसी एक का नियन्त्रण करना पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि सभी इन्द्रियों को सभी ओर से काबू में करना होगा। यह मुख्य विषय है, इसे न भूलना चाहिए। यह जरूर है कि अभ्यास और साधना कठिन तथा परिश्रमपूर्ण हैं; किन्तु इससे हतोत्साह हो जाने की कोई आवश्यकता नहीं। साधना करते रहो और धैर्य पूर्वक उसकी प्रतिक्रिया पर भी ध्यान देते जाओ। कुछ लोगों में यह गलती है कि वे अत्यन्त उत्साह और धड़ल्ले से साधना आरम्भ कर देते हैं। तीन महीनों तक वे छः घण्टे रोज एकाग्रता का अभ्यास किया करते हैं। किन्तु तीन महीनों के बाद, जब देखते हैं कि उनको कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई, अभ्यास को त्याग देते हैं। यह बहुत बुरा काम है। तभी श्री कृष्ण भगवान् कहते हैं —"धीरे-धीरे अभ्यास करना आरम्भ करो और उस अभ्यास में नियमित रहो।" अर्थात् अभ्यास का सम्पालन नित्यप्रति करते रहो। मन को बार-बार एक लक्ष्य पर निर्धारित करना, एक बिन्दु पर अनुबन्धित करना अभ्यास कहलाता है। मन की एकाग्रता को धारणा कहते हैं। जब अस्थिर मन स्थिर और शान्त हो जाता है, उस अवस्था को 'एकाग्रता की अवस्था' कहते हैं। एकाग्रता में मन की वृत्ति एकाकार हो जाती है।

नए साधकों के लिए एकाग्रता का अभ्यास श्रमदायक और रुचिहीन प्रतीत होता है; किन्तु एकाग्रता का विज्ञान संसार के सभी विज्ञानों से अधिक रुचिकर और लाभदायक है। जब व्यक्ति धारणा में आगे कदम बढ़ाते जाता है, जब एकाग्रता

के अभ्यास में उसे रुचि होने लगती है, जब उसे एकाग्रता के लाभ स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं, वह अभ्यास को कदापि नहीं छोड़ता। यदि एक दिन का भी अभ्यास छूट गया तो वह विकल हो जाता है। ऐसे साधक के लिए एकाग्रता का मूल्य आँकना कठिन है। एकाग्रता उसके लिए परम आनन्द, आन्तरिक अध्यात्मिक शक्ति, असीमित दिव्य वैभव और अनन्त शान्ति है। एकाग्रता के फलस्वरूप साधक को ब्रह्मज्ञान होने लगता है, दिव्य चक्षु खुल जाते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। तीनों लोकों में यह अपूर्व विज्ञान है। इसके लाभों का पूर्णतया दिग्दर्शित करना मेरे लिए असम्भव है।

अब एक कुर्सी पर मन को स्थापित करें। इसका अर्थ है कि हम कुर्सी के सभी भागों का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। कुर्सी किस लकड़ी की बनी हुई है, कौन-सा रङ्ग उस पर चढ़ाया गया है, उसके भाग किस प्रकार सम-विभक्त हैं, जुड़ाई और ठुकाई किस प्रकार से की गई है तथा किस शिल्पी ने उसे तैयार किया है, इत्यादि, इत्यादि। अतः जब हम कुर्सी पर मन को एकाग्र करना चाहते हैं तो इन बातों पर अवश्य विचार करना होगा। ऐसा नहीं करने पर मन इधर-उधर घूमता रहेगा। जब मन एक लक्ष्य में तन्मय हो जाता है, उसे इधर-उधर भटकने की याद नहीं रहती, वह एकाग्र हो जाता है। पर जब तक मन को किसी एक लक्ष्य में स्थित न किया जाय, वह इधर-से-उधर भटकता रहता है।

यदि मन की चञ्चलता को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि उसके भटकने में एक प्रकार का नियम है। एकाग्रता की

कड़ी के विखरे रहने पर भी सम्पर्क-भाव वना रहता है। मन एक पुस्तक की बात सोचते-सोचते किताबघर की बातें सोचने लगता है। किताबघर की वातें सोचते-सोचते वह रेलवे बुक-स्टाल में पहुँच जाता है और फिर पुस्तक के प्रकाशक की याद करता है। स्कैटिङ्ग का स्मरण करते ही वह आल्प्स पर्वतों में पहुँच जाता है। चीड़ के वृक्षों की याद आते ही मन को अल्मोड़ा की याद आने लगती है और अल्मोड़े का विचार आते ही उसे स्वामी विवेकानन्द जी की याद आने लगती है, जिन्होंने मायावती में अद्वैत आश्रम की संस्थापना की थी। यहाँ पर मन अद्वैत-भावों में भी रम सकता है; क्योंकि उसका सम्पर्क अद्वैत आश्रम से स्थापित हो चुका है। यह भी हो सकता है कि वह वहीं से विषय-वासनाओं में चक्कर लगाने लगे। अल्मोड़ा की वेश्याओं की याद भी उसे आ सकती है। मन की शुद्धता पर विचारों की प्रणाली निर्भर रहती है।

उपरोक्त सभी घटनाएं एक क्षणमात्र में मन के अन्दर घट जाया करती हैं। मन इतनी तीव्रता और तड़िद्वेग से दौड़ लगाता है कि कल्पना तक नहीं की जा सकती। पहिले मन एक विषय को पकड़ता है, उस पर विचार करता है और तब तज्जन्य सम्पर्क से अन्य बातें सोचने लगता है। यह भी एकाग्रता है, यद्यपि इस एकाग्रता को अविच्छिन्न नहीं कहा जा सकता। जब मन एक ही प्रकार के विचारों में रमता है, तो उसे तैलधारा-वत् अविच्छिन्न धारणा कहते हैं। अतः साधक को चाहिये कि विषय से अलग हट कर, दौड़ते हुये मन को, बार-बार पूर्व-विषय में स्थित करे और उसी विषय-सम्बन्धी विचारों को सोचे। यह आध्यात्मिक साधना है। यह योगाभ्यास है। यही

धारणा और ध्यान है। इस साधना का पूर्ण विकास समाधि में होता है, जो अतिचेतन अवस्था है, जिसे तुरीय-अवस्था भी कहते हैं।

एकाग्रता में यह वात विचारणीय है कि प्रारम्भ में मन को एक ही विषय में एकाग्र किया जाय। अर्थात् मन को एक ही बात सोचने के लिए अभ्यस्त करना चाहिए। इतना अवश्य है कि मन उस विषय से सम्वन्ध रखने वाली सभी घटनाओं और विषयों के वारे में विचार सकता है। उसे अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिए। कुछ समय बाद, अभ्यास करते-करते मन केवल एक ही विषय के एक ही विचार को सोचने में सिद्ध हो जायगा। अनवरत और अविचलित साधना का यही सुन्दर पुरस्कार मिला करता है।

जव हम किसी मेज का विचार करते हैं तो मेज से सम्बन्ध रखने वाली सभी वातों का विचार करें और मेज सम्बन्धी जो-जो घटनाएँ अपने जीवन में घट चुकी हैं, उनका विचार करें। आज तक कितने प्रकार के मेज देखे हैं, उन पर गम्भीर विचार कर याद करने का प्रयत्न करें कि मित्र योगेश के यहाँ मेज में क्या विशेषता है, इत्यादि, इत्यादि। जिस प्रकार तेल की धारा एक बरतन से दूसरे बरतन तक अविच्छिन्न रहती है; जिस प्रकार गिरजे घर की घण्टी लगातार बजती रहती है, ठीक उसी प्रकार विचार भी निर्बाध गति से बहते रहने चाहिए। एक ही विषय से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न विचार हो सकते हैं, आरम्भ में उनको भी विषय के अन्तर्गत कर दिया जाय। धीरे-धीरे उन सम्पर्कजनित विषयों को अर्थात् विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों की संख्या को कम करते जावें। उनको

कम करते-करते कुछ काल के वाद केवल एक ही विषय पर आ जाना चाहिए। यहाँ पर धारणा की पूर्ति हो जाती है। जब इस (एक) विचार का भी लय हो जाता है तब समाधि का अवतरण होता है।

जब मन में केवल एक ही विचार रहता है तो उसे 'सविकल्प समाधि' कहा जाता है। यह समाधि की निम्न-अवस्था है। जब मन का अन्तिम विचार भी लय हो जाता है, जब मन में एक विचार भी नहीं रहता और जब सर्वथा विचारशून्यता आ जाती है तो मन का अत्यन्ताभाव हो जाता है। यह मानसिक शून्यता है। इस स्थिति को महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में 'निर्विचार' की अवस्था घोषित किया गया है। किन्तु साधक ने तो इस स्थिति से भी ऊपर जाना है, जहाँ वह ब्रह्मदर्शन कर सकेगा और अनहत शान्ति की प्राप्ति भी। जब वह इस अवस्था की प्राप्ति कर लेगा, तभी कहा जा सकता है कि चरम सीमा में पदार्पण कर दिया गया है।

मन तो जड़ वस्तु है, किन्तु अधिष्ठान आत्मा से जीवन-ज्योति पा कर चैतन्यवत् दिखलाई देता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में रखा गया जल सूर्य की गरमी से गरम हो जाता है, उसकी अपनी स्वतन्त्र गरम सत्ता नहीं होती, उसी भाँति मन जड़ होते हुए भी ब्रह्म से जीवन-सञ्चरण प्राप्त कर चैतन्य वस्तु के समान ही आभासित होता है। बुद्धि का प्रतिविम्व मानस-प्रदेश में विम्बित होने पर मन सक्रिय और चेतन प्रतीत होता है। सत्यद्रष्टा ऋषियों ने यही कहा था। यहाँ पर हम यह कहना नहीं भूलते कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक अभी अन्धकार की खाई में ही हैं, अभी तक उनको

अज्ञान ने ही दवा रखा है। उनका कहना है कि विचार और मन से परे कुछ नहीं है, बुद्धिवाद ही जीवन की चरम सीमा है। हम उनसे और क्या कहें, केवल यही कि 'तुम जो कुछ सोचते हो, सोचते ही जाओ। तुम्हारा जो कुछ भी विश्वास है, उसी पर अपने को स्थिर रखो। किन्तु कभी-न-कभी उनको सत्य का अङ्गीकार करना ही होगा, अन्य मार्ग है ही कहाँ? कुछ दार्शनिकों और मनोविज्ञानवादियों का कहना है कि मन मस्तिष्कजन्य स्खलन है। हद है ऐसे भी विश्वास की। अब जाकर वे मानम-द्वय के सिद्धान्त को समझ पाये हैं, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन भारतीय सन्तों ने दीर्घकाल बीते कर दिया था। सच पूछो तो मन आत्मा के समान स्वयंभू और स्वयंज्योति नहीं है। वह तो आत्मा के प्रकाश से प्रकाश लेकर प्रकाशित हुआ दीखता है। पावस ऋतु में खद्योत के समान है वह। आत्मा सूर्यों का सूर्य और सभी प्रकाशों का परम प्रकाश है। शास्त्रों ने उसे परम ज्योति, अनन्त ज्योति और स्वयंज्योति के नाम से सूचित किया है।

अच्छा फिर अपने पूर्व प्रसंग की ओर चलें। जब हम कुर्सी पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते हैं तो अन्य वस्तुओं के विचारों को मन के अन्दर न आने दें। यदि मन अस्थिर होकर इधर और उधर भाग भी रहा है तो उसे फिर-फिर कर वापस ले आते रहें। गुलाब के फूल पर मन को एकाग्र करना चाहें तो केवल गुलाब की ही भावना में तन्मय हो जाना चाहिये। किसी पुस्तक पर अपने विचारों को स्थिर कर रहे हैं तो पुस्तक से इतर किसी का विचार न किया जाय। किसी एक वस्तु का विचार करने पर दूसरी वस्तु की कल्पना को

अपने मन के अन्दर न आने देवें और यदि मन अपने लक्ष्य से भागने लगे तो उसे बार-बार उसी लक्ष्य पर ले आवें।

जितनी देर तक हो सके, उस विषय पर विचार करते रहो, तत्सम्वन्धी सभी विचारों को समाप्त कर दो। इसके लिए अपना प्रिय विषय चुन लिया जाय, किन्तु ध्यान रहे कि वह विषय अशुभ और अशुद्ध न हो--आदर्शवादी हो सकता है, कोई हानि नहीं। एक समय पर केवल एक ही काम करना–और वह भी सफलता के साथ, अपेक्षाकृत वह एक ही श्रयस्कर है।

जब अपने हाथों में कोई काम लो, उसकी सफलता के लिए अपना तन-मन पूरा लगा दो। पूरे दिल से काम करो। एकाग्रता से काम करो। एकाग्रतापूर्वक काम करने से ६ घण्टों का काम केवलमात्र आधे घण्टे में सुविधापूर्वक किया जा सकता है। यह यौगिक प्रक्रिया है। एकाग्रतापूर्वक कार्य करने से पूर्ण योगी बन जाओगे।

इसी प्रकार अध्ययन भी पूरे ध्यान से करो। मन को भटकने न दो। बाहरी शब्दों से मन को असंस्पृष्ट रखो। केवलमात्र लक्ष्य पर ही दत्तचित्त रहो। आँखों को भी इधर-उधर दौड़ने न दो। अध्ययन करते समय खाने, पीने या मित्रों की बातें न सोचा करो। उतनी देर के लिए सारा संसार मन से अदृश्य हो जाना चाहिए। एकाग्रता हो तो इस प्रकार की। यह असम्भव नहीं, किन्तु अभ्यास पर निर्भर है। कुछ काल तक निरन्तर अभ्यास करते रहने से और धैर्यपूर्वक व्रत पर दृढ़ रहने से एकाग्रता का अवतरण हो जायगा। देर भी हो तो दुःखित नहीं होना चाहिए। हताश और निराश नहीं

होना चाहिए। सम्भव है कि कुछ देर हो, अतः शान्ति और ठण्डे दिल से प्रतीक्षा करो। तक्षशिला का निर्माण क्या एक ही दिन में हुआ था? हथेली पर रखते ही क्या दही जम जाता है? समय चाहिए समय; प्रत्येक कार्य के लिए समय की आवश्यकता है। समय की पूर्ति होते ही सफलता का अवतरण होता है। पर अभ्यास एक दिन के लिए भी नहीं छूटना चाहिए, चाहे आप बीमार ही क्यों न हों। असफलता, यदि निराशावाद की जननी न हुई तो सफलता की वर्णमाला है। ठोकर खाकर ही तो बच्चा चलना सीखता है और तुतलेपन के अन्दर ही तो मानव की वाणी का रहस्य अन्तर्निहित है। निर्बलता नवीन साहस और शौर्य का सुप्रभात लाएगी। अतः बढ़े चलना चाहिये आगे धँसते जाना चाहिये। कमरें कस लेनी चाहिये। निराशा को दूर भगा देना चाहिए। उत्साह के साथ आगे चलते रहना चाहिये। शौर्य के साथ आगे चलना चाहिये, खुशी के साथ आगे चलना चाहिये। ज्योतिर्मय भविष्य हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। अभ्यास करना आरम्भ कर दें। अनुभव करें, आनन्दित होवें। योगी बन कर विश्व पर शासन करें।

मैं तुम्हें इसके लिए योग्य बना दूँगा। मेरी बात सुनो। सच्ची लगन के साथ काम आरम्भ कर दो। जाग जाओ। ज्योति की किरणें फूट रही हैं। अमरत्व की सन्तानो! ज्योति के पुत्रो, जागो। ब्राह्ममुहूर्त्त का आरम्भ हो रहा है। ३-३० बजने वाले हैं। एकाग्रता के अभ्यास का यही सुन्दर और अनुकूल समय है। स्मृति और सङ्कल्प-शक्ति के विकास का यही स्वर्ण अवसर है। मन को अच्छी तरह काबू में रखने के लिए यही मङ्गलमय घड़ी है। वीरासन में बैठ कर सच्चे दिल से अभ्यास आरम्भ कर दो। सफलता की प्राप्ति अवश्य करोगे। मन को

ब्रह्म में लीन कर दो—ज्ञान, आनन्द और परम शान्ति की प्राप्ति करो।

योगाभ्यास अथवा आत्म-संयम

ऋषियों में इन्द्रियों का संयम स्वाभाविक है। उनकी इन्द्रियाँ सदा संयम की अवस्था में रहती हैं। वह इन्द्रियों के व्यापारों से विचलित नहीं हुआ करते। इन्द्रिय-दमन का अभ्यास साधकों के लिए है, जो प्रारम्भ में इन्द्रिय-जय करना चाहते हैं। इन्द्रियों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अतः पूर्ण सफलता पाने के लिए मन पर संयम की स्थापना अनिवार्य है। तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों का दमन करने के लिए मन का दमन अथवा मनोजय (अथवा मनोलय भी) आवश्यक है। यदि मन को विषय-पदार्थों से निरासक्त कर सको तो इन्द्रियों पर विजय सहज में प्राप्त हो सकेगी।

अज्ञानी व्यक्ति दैहिक तपस्यायें कर इन्द्रियों को विषय-पदार्थों से विमुख कर सकता है। रोगी के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है। रोगी की इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं, अतः वह विषयों से विमुख-सा हो जाता है। तपस्वी और रोगी दोनों में विषय-वासना और विषयेच्छा किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहती है, पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाती—परन्तु आत्म-द्रष्टा सन्त की सभी इन्द्रियाँ और उनकी विषय-वासनायें और विषयेच्छायें पूर्णतः भस्म हो जाती हैं, उसमें विषय की कामना भी नहीं रहती।

राजा का कोष यदि अच्छी तरह सुरक्षित भी रहे तो चतुर चोर किसी-न-किसी तरह चालाकी से उसे लूट लिया करते

हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक साधक विवेकादि गुणों से सम्पन्न हो कर अपनी भरसक शक्ति द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित करता है, किन्तु इन्द्रियाँ इतनी चालाक होती हैं कि वे किसी-न-किसी तरह उसके मन को भटका ले जाती हैं। देखिए, विश्वामित्र कितनी दुस्तर तपस्या कर रहे थे, किन्तु इन्द्र द्वारा भेजी गई अप्सरा ने उनकी इन्द्रियों को विचलित कर दिया और वे इन्द्रिय-वासना के जोर से बहा दिए गए।

राजा दुर्ग के बाहरी और अन्दर के द्वारों को बन्द कर अपने महल में निःशङ्क होकर विश्राम करता है। उसके शत्रु अब उसे कष्ट नहीं दे सकते (क्योंकि उसने न केवल अन्दर का द्वार बन्द किया, किन्तु बाहरी प्रमुख द्वार भी बन्द कर उस पर कड़ा पहरा डाल दिया है)। इसी प्रकार योगी भी अपने शरीर-महल का बाहरी फाटक बन्द कर लेता है (इन्द्रियों का निग्रह कर लेने पर विषय-वासनायें पास नहीं फटक सकतीं); त्याग तथा शान्ति का अभ्यास कर अशुभ मन की वासनाओं तथा तज्जन्य संस्कारों के आन्तरिक द्वार भी बन्द कर देता है। अर्थात् न तो बाहरी पदार्थ और न आन्तरिक वासनायें ही उसे विचलित कर पाती हैं। इस प्रकार वह निःशङ्क होकर आत्मा में विश्राम पाता है।

जिस प्रकार बालक माता की गोद में रह कर अत्यन्त सुख की अनुभूति करता है, जिस प्रकार सरदार सम्राट् को आत्म-समर्पण कर पूर्ण सुरक्षा और बचाव को निश्चित जानता है, उसी प्रकार साधक भी इन्द्रियों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण कायम कर लेने के बाद ही तथा अपने को परमात्मा के चरणों में सौंप देने पर ही पूर्ण शान्ति और सुरक्षा का अनुभव करता है। इसी

दृष्किोण से भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा— 'सभी इन्द्रियों पर निग्रह स्थापित कर, साधक ने अपने को मुझे समर्पण कर देना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में हो चुकी हैं, उसकी बुद्धि स्थितप्रज्ञ हो जाती है।'

इन्द्रियों का गुण है कि बहिर्मुख हो जाना। वे साधारण व्यक्ति को विषय-पदार्थों की ओर घसीट ले जाती हैं, उसकी वृत्ति को बहिर्मुख बना देती हैं। पर विवेक और वैराग्यशील साधक विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों पर अपना नियन्त्रण रखता है और उसकी अस्थिरता पर रोक लगाता है—इस प्रकार वेकाबू घोड़े को लगाम से अपने वश में कर चतुर गाड़ीवान् के समान निश्चित स्थान पर पहुँच पाता है। जैसे कछुआ अपने शरीर को चारों ओर से अन्दर खींच लेता है, उसी प्रकार सन्त पुरुष भी इन्द्रियों को विषय-पदार्थों से हटा कर अन्तर्मुख कर लेते हैं। इन्द्रियों के अन्तर्मुखी हो जाने पर ज्ञान अनवरत और निर्बाध हो जाता है। बुद्धि समान और शान्त हो जाती है।

यदि इन्द्रियों पर संयम की लगाम नहीं जोड़ी गई तो वे बड़ा उत्पात मचाती हैं। विषय-पदार्थों की धारणा (विषय--विचार) बुराइयों की जड़ है। इन्द्रिय-संयम में शान्ति और प्रसन्नता है। जिसकी इन्द्रियाँ विप्लवकारिणी हैं, वह क्षण भर भी एकाग्रतापूर्वक विचारों को दृढ़ नहीं कर सकता है। उसमें ध्यान करने की शक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। इन्द्रियों के संयम से शक्ति, आन्तरिक शान्ति, सन्तोष की भावना और अप्रतिहत ज्ञान की प्राप्ति होती है। विजतेन्द्रिय जीवन के महत्तम आनन्द की प्राप्ति कर लेता है। उसकी प्रसन्नता, उसका सुख और उसके अनुभव अकथनीय हैं।

एकाग्रता का अभ्यास या धारणा

मन को किसी एक वस्तु पर एकाग्र करो, चाहे वह वस्तु बाहरी (स्थूल पदार्थ) हो या आन्तरिक (सूक्ष्म-विचार-मात्र)। कुछ समय तक सावधानी से उसे लक्ष्य पर स्थिर रखो। यह धारणा है। इसका अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए।

सदाचार के अभ्यास से पहिले-पहल मन को स्वच्छ (शुद्ध) कर लो और तब धारणा (एकाग्रता)। धारणा के अभ्यास से पहिले यदि मन शुद्ध नहीं होगा तो विशेष फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। कुछ राजयोगी ऐसे हैं, जिन्हें धारणा में सफलता मिल चुकी है, किन्तु उनका चरित्र नहीं के बराबर है। सच्चरित्रता के अभाव में वे आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पाते हैं। नाड़ी-शुद्धि और प्राणिक-संयम द्वारा जिसने स्थिर आसन की प्राप्ति कर ली, वही एकाग्रता का सही अभ्यास कर सकता है। विक्षेपों का निवारण कर लेने पर धारणा सरल और साध्य हो जाती है। ब्रह्मचर्य में पूर्ण रहने से भी धारणा-शक्ति का आश्चर्यजनक विकास होता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो विधि-विधानपूर्वक प्राथमिक सदाचार का पालन न कर सीधे धारणा में जा कूदते हैं। यह उनमें भारी त्रुटि है। धारणा की सफलता की प्राप्ति में सदा-चार के पालन का विशेष और मुख्य महत्व है।

आध्यात्मिक शक्ति के सात केन्द्रों में किसी एक केन्द्र पर मन को एकाग्र किया जा सकता है। मनोयोग (अवधान), दत्तचित्त-वृत्ति और एकाग्र लगन का धारणा में अपना मुख्य हाथ है। मनोयोग से धारणा में सहायता मिलती है। जिस

व्यक्ति की मनोयोग-शक्ति विकसित है, उसे अप्रत्याशित रूप में एकाग्रता की प्राप्ति हो सकेगी। जिसके अन्दर कामपूर्ण विचार भरे हुए हैं, जिसका मन अद्भुत विचारों से सना हुआ है, वह किसी पदार्थ या लक्ष्य पर, एक क्षण के लिए भी, अपने मन को स्थिर नहीं कर सकेगा। उसका मन सदा चञ्चल बन्दर के समान इस विषय से उस विषय पर दौड़-धूप करता रहता है।

वैज्ञानिक का ही उदाहरण लीजिए। वह किसी विषय या तत्त्व पर अपने मन को स्थिर कर लेता है और अनेकों आविष्कारों में सफलता की प्राप्ति करता है। धारणा के अभ्यास से वह स्थूल-मन के आवरण को खोलता है और मन की उच्च स्थिति में जा पहुँचता है तथा गहरे ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। वह मन की तमाम शक्तियों को, जो विक्षिप्त थीं, एकत्र करता है और एकीकृत (संयुक्त) शक्ति के समूह को अपने लक्ष्य पर विम्बित कर, उनके रहस्यमय (सही) अर्थ को समझ लेता है।

जिस व्यक्ति ने इन्द्रियों को विषय-पदार्थों से विमुख कर लिया है, वह मन की एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक मार्ग पर शनैः शनैः (धीरे-धीरे) सँभल-सँभल कर चलना होगा। प्रत्येक अवस्था क्रमशः पार करनी होगी। प्रत्येक कदम अच्छी तरह नापना होगा। सदाचार और अन्य नैतिक नियमों का पालन कर लो, आसन-जय भी कर लो, प्राणायाम का अभ्यास भी—प्रत्याहार में सफलता भी, धारणा तभी सम्भव है। धारणा और ध्यान का ढाँचा तभी सुन्दर और समविभक्ताङ्ग तथा आकर्षक वन सकेगा।

जिस वस्तु पर मन को एकाग्र करना चाहो, उसकी धारणा इतनी तीव्र हो जानी चाहिए कि (उसका) अभाव भी अभ्यास में बाधक न होने पावे। ज्यों ही मन में विचार आवे, त्यों ही वह (वस्तु) आपके सामने प्रत्यक्ष उपस्थित-सी हो जानी चाहिए। जब एकाग्रता का विकास हो जायगा, तभी तुम मन के इष्ट-प्रकार से (किसी भी) वस्तु की कल्पना-छवि को अपने में उतार ला सकोगे।

अभ्यास के आरम्भकाल में घड़ी की 'टिक्-टिक्' ध्वनि अथवा मोमबत्ती की शिखा पर (अथवा मनोनुकूल वस्तु पर) मन को एकाग्र करने का प्रयत्न किया जाय। जो पदार्थ मन को प्रियकर हो, उसको लक्ष्य बना कर धारणा का अभ्यास करना (आरम्भ में) उचित है। स्थूल वस्तु पर धारणा के अभ्यास को 'सगुण धारणा' कहा जाता है। मन को किसी निश्चित लक्ष्य पर स्थिर किये बिना एकाग्रता की सम्भावना नहीं। अतः अभ्यास के आरम्भकाल में किसी-न-किसी पदार्थ पर मन को एकाग्र करना चाहिए; वह पदार्थ जो प्रियकर हो, किन्तु साथ-साथ यह भी ध्यान रहे कि अशुद्ध-भावपूर्ण न हो। जिस वस्तु के प्रति मन में स्वाभाविक अरुचि है, उस पर मन को आरम्भ में एकाग्र करना अत्यन्त कठिन है।

पद्मासन में बैठना चाहिए। नासिका के अग्र-भाग पर दृष्टि को रोके रहना चाहिए। इसे 'नासिकाग्र दृष्टि' कहा जाता है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि दृष्टि की स्थिरता में अधिक जोर न दो (अर्थात् आसानी से अभ्यास करो)। आरम्भ में केवल एक या दो मिनट तक ही इसका अभ्यास किया जाना चाहिए। धीरे-धीरे

सप्ताहवार समय को बढ़ा कर अन्त में उपरोक्त अभ्यास को एक घण्टे तक किया जा सकता है। इस अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है, धारणा-शक्ति का विकास होता है और अभ्यास हो जाने पर चलते-फिरते भी इस अभ्यास को किया जा सकता है।

पद्मासन में बैठना चाहिए और दृष्टि को दोनों भौहों के बीच ठहराना चाहिए। यह अभ्यास आधे मिनट तक करना चाहिए। धीरे-धीरे समय बढ़ा कर एक घण्टे भी किया जा सकता है। यहाँ पर भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अभ्यास करते समय जोरदार और झटकेदार प्रयत्न न किए जाएं; अन्यथा प्रतिक्रिया की सम्भावना हो सकती है। इसे 'भ्रूमध्य-दृष्टि' कहा जाता है। यह अभ्यास मन के विक्षेप को दूर कर एकाग्रता की शक्ति को बलवान् बनाता है। उपरोक्त दोनों अभ्यासों में किसी एक को अपने लिए चुन लीजिए; पर आदत दोनों की ही होनी चाहिए।

यह अवश्य जानना चाहिए कि एकाग्रता के विकास में सफलता पाने के लिए अपनी लौकिक कार्यवाहियाँ कम करनी होंगी। साथ-साथ दिन में दो घण्टे या अधिक देर तक मौन धारण करना होगा।

जब तक मन लक्ष्य पर एकाग्र न हो सके, तब तक उसी लक्ष्य पर एकाग्रता का अभ्यास करते रहना चाहिए। जब-जब मन अपने लक्ष्य से विचलित हो, तब-तब उसे वापिस ले आओ और उसी लक्ष्य में तल्लीन कर दो।

जब धारणा गम्भीर और प्रवाहवती हो जाती है तो अन्य इन्द्रियाँ अपने प्रवाहों से विरत हो जाया करती हैं। दिन

में तीन घण्टे तक धारणा का अभ्यास करने वाला व्यक्ति योगशक्ति और सङ्कल्प-बल से भरपूर हो उठता है। उसके अन्दर दैवी शक्तियाँ जाग्रत होने लगती हैं।

एक कहानी है कि तीर बनाने वाला एक लोहार तीरों को बनाने में इतना संलग्न था कि उसे बगल से जाती हुई राजा की सवारी का कुछ भी ज्ञान न हुआ। एकाग्रता का यह बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। ऐसी एकाग्रता होनी चाहिए, जब आप भगवद्ध्यान कर रहे हों। जिस प्रकार तीर बनाने वाले के मन में तीर-निर्माण के अतिरिक्त और कोई भी भावना न थी, ठीक उसी प्रकार आपके मन में भी भगवान् की ही भावना होनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं। इसकी चिन्ता न कीजिए कि अभ्यास करते-करते महीनों बीत गए, किन्तु सफलता न मिली। कोई बात नहीं, यदि अभ्यास में सफलता प्राप्त करने में देर भी लग जावे तो, किन्तु अभ्यास को स्थिर बनाए रखो। एकाग्रता की प्राप्ति के लिए जो कुछ संघर्ष करना होगा, उसका प्रतिफल आपको कृतकृत्य कर देगा।

एक और बात ध्यान में रखिए ; यदि मन अभ्यास करते समय भागने भी लगे तो आकुल न होवें। उसे थोड़ी देर घूम लेने दो, किन्तु अपनी देख-रेख और पहरे में। धीरे-धीरे उसे फिर लक्ष्य पर ले आओ। बार-बार अभ्यास करने से मन लक्ष्य पर केन्द्रित हो जायगा। आरम्भ में मन ८० बार भागने का प्रयत्न करेगा। परन्तु अभ्यास करते-करते कुछ ही महीनों में उसके भागने की गति कम कर दी जायगी और वह ८० के बदले ७० बार ही बहिर्मुख होगा। कुछ महीनों के

उपरान्त केवल ६० बार और फिर अभ्यास करते-करते कुछ महीनों के बीत जाने पर केवल ३० ही बार। इसका मतलब यह हुआ कि कुछ काल के अन्दर—शायद दो चार सालों में ही—वह सर्वथा एकमुखी हो जायगा। एक बार मन को अन्तर्मुख कर लिया जा सका तो वह फिर प्रयत्न करने पर भी बाहर नहीं भाग सकेगा। जिस प्रकार एक बैल, जो खेतों में घास खाता फिरता था, अस्तबल में दाना, बिनौला आदि मिलने से बाहर भेजने पर भी जाने का नाम नहीं लेता था, उसी प्रकार जो मन कल तक बाहर भागता था, अब अन्दर ही शान्ति और सन्तोष मिलने पर बाहर जाने का नाम नहीं लेगा। एकाग्रता आन्तरिक शान्ति और सन्तोष की कुञ्जी है।

त्राटक का अभ्यास

किसी बिन्दु या वस्तु पर पलक मारे बिना, एकटक देखते रहना त्राटक के नाम से प्रसिद्ध है। मन को केन्द्रित और धारणा को बलवती करने के लिये त्राटक का अभ्यास प्रभावशाली और सहायक होता है। हठयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—सभी योगों के अभ्यासकर्त्ताओं के लिये इसका अभ्यास महत्वपूर्ण है। मन पर नियन्त्रण कायम करने के लिए त्राटक अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। साधारणतः यह देखा जाता है कि ज्ञानयोग के विद्यार्थी इस बहुमूल्य अभ्यास की अवहेलना करते हैं, केवल इस तर्क पर कि यह हठयोग साधना-क्रम के अन्तर्गत है। तिरुवण्णामलय के सन्त श्री रमण महर्षि सदा त्राटक का अभ्यास किया करते थे। दर्शनार्थी जब भी दर्शनों को जाते, तो आपको त्राटक में लीन देखते थे। सोफा पर बैठ

कर वे दीवाल पर एकटक हो कर देखते थे, बरामदे में बैठ कर अरुणाचल की पहाड़ियों को एकटक निहारते थे। इस अभ्यास ने उनको मनोजय में सहायता प्रदान की। यह तो केवल इसी अभ्यास का परिणाम था कि उनके मन को कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती थी। वे सदा शान्त और समान रहा करते थे। भक्तगण उनके सामने बैठ कर गाते और बातें करते रहते थे। किन्तु उनका चित्त जरा भी विक्षिप्त नहीं होता था। एकटक हो कर वे सदा की भाँति अदृश्य तत्त्व की ओर निहारते रहते थे।

त्राटक के लिए कुछ महत्वपूर्ण अभ्यास

१. अपने सामने श्री कृष्ण, श्री राम, श्री नारायण या देवी या यीसू का चित्र रखो। पलक मारे बिना उस पर एकटक निहारो। सिर पर दृष्टि स्थापित करो, तब समस्त देह को निहारो। तदुपरान्त पाँवों को देखते रहो। इस प्रक्रिया को पुनः दुहराओ। जब मन कुछ शान्त-सा प्रतीत होने लगे तो केवल शरीर के किसी एक विन्दु को ही एकटक निहारो। जब तक नेत्रों से अश्रुधारा न बहने लगे, निहारते ही रहो। आँखों से आँसू बहने पर नेत्र बन्द कर लो और मन ही मन में उस चित्र के रूप को देखते रहो।

२. दीवाल में एक काला विन्दु डाल दो या एक लकीर खींच लो। इस विन्दु या रेखा पर एकटक निहारते रहो, जब तक आँखों से जल न बहने लगे।

३. एक कागज पर ॐ लिख कर दीवाल पर लटका दो। एकटक दृष्टि से आँसू बहने तक, उस पर देखते रहो। अब आँखें बन्द कर मन में देखो।

४. खुली छत पर लेट जाओ। किसी नक्षत्र या चन्द्रमा पर दृष्टि स्थिर रखो। कुछ समय के उपरान्त अनेकों रङ्गों का आभास होगा। कुछ समय बीत जाने पर केवल एक ही रङ्ग दिखलाई देगा; अन्य नक्षत्र—जो समीपवर्ती थे अदृश्य हो जाएंगे। जब आप पूर्ण-चन्द्र पर अपनी दृष्टि को स्थिर करते हैं तो केवल काले पृष्ठ-प्रदेश में एक ज्योति दिखलाई देती है। कुछ समय में—कभी-कभी—चारों ओर केवल एक प्रकाश का आभास पाओगे। जब दृष्टि स्थिर होती जायगी तो आप दो तीन चन्द्रों को साथ-साथ देख सकेंगे; कभी-कभी तो एक चन्द्र भी नहीं दिखलाई देगा, यद्यपि आँखें अच्छी तरह खुली हुई होंगी।

५. एक दर्पण के सामने अपने आँखों की तारिकाओं पर दृष्टि को एकाग्र करो।

६. कुछ लोग भ्रूमध्य दृष्टि अथवा नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास चलते-फिरते भी किया करते हैं।

७. अभ्यासी साधक, जिन्हें पर्याप्त अनुभव हो चुका है, शरीर के अन्दर स्थित चक्रों पर त्राटक कर सकते हैं। मूलाधार, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार चक्र त्राटक के लिए महत्वपूर्ण हैं।

८. एक निर्वात कमरे में घी का दिया अपने सामने रख लो। उसकी लौ पर दृष्टि को स्थिर करो। यह प्रसिद्ध है कि इस लौ के माध्यम से ही कुछ प्रेतात्मायें (?) दर्शन दिया करती हैं।

९. केवल कुछ योगीजन ही सूर्य पर त्राटक कर सकते हैं। इसके अभ्यास के लिए सिद्ध गुरु की आवश्यकता है। सिद्ध

गुरु के अभाव में यह अभ्यास नहीं किया जाय तो अच्छा है। सूर्योदय होते ही वे सूर्य की ओर निहारना आरम्भ करने लगते हैं। इस त्राटक में सफल होने पर सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अतः जनसाधारण के लिये यह अभ्यास नहीं बतलाया जाता है; क्योंकि सभी सिद्ध और सिद्धि के योग्य नहीं होते।

उपरोक्त ६ अभ्यास जनसाधारण के लिये उपयोगी और उपयुक्त हैं। उनसे किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं। किन्तु सूर्य-त्राटक का अभ्यास अनुभवी गुरु न मिलने पर नहीं किया जाय तो अच्छा है।

विशेष आदेश और उपदेश

त्राटक का अभ्यास चलते-फिरते हुए भी किया जा सकता है; अर्थात् जब आप राह पर चल रहे हैं तो इधर-उधर नहीं देखना चाहिये, या तो नाक की अग्र-दृष्टि पर देखना चाहिये या पञ्जों को। आपने कुछ लोग ऐसे भी देखे होंगे जो दूसरों से बातें करते समय उनके मुँह पर नहीं देखा करते हैं। बातें करते हुये भी वे किसी विशेष स्थान पर अपनी दृष्टि स्थिर किये हुये रहते हैं। ऐसी साधना के लिये आसन-विशेष की आवश्यकता नहीं।

दृष्टि जब किसी चित्र पर स्थिर रहती है तो उसे 'त्राटक' कहा जाता है। आप अपनी आँखें बन्द कर उस चित्र की कल्पना करने लगते हैं तो 'सगुण ध्यान' कहा जाता है। जब आप किसी रूप-विशेष का ध्यान न कर, केवल गुणों का ही चिन्तन या ध्यान करते हैं तो उसे 'निर्गुण ध्यान' कहा जाता

है। निर्गुण ध्यान में नाम और रूप दोनों का अन्तर्लय हो जाता है—केवलमात्र एक प्रकार की चेतना वर्तमान रहती है।

आरम्भ में केवल दो मिनट के लिये त्राटक का अभ्यास करना चाहिये। धीरे-धीरे समय को बढ़ाते जाओ। अधीरता की कोई बात नहीं और न जल्दबाजी ही करनी चाहिये। यदि मन इधर-उधर भटक रहा है तो तीन घण्टे त्राटक करने से क्या लाभ? दृष्टि को स्थिर करने के साथ-साथ मन को भी स्थिर कर लेने पर ही अनेकों योग-सिद्धियों की प्राप्ति की जा सकेगी।

यदि एक ही वस्तु पर दो चार सेकण्ड तक त्राटक का अभ्यास न भी कर सको ती हताश होने की कोई बात नहीं। केवलमात्र नेत्र मूँद कर उस वस्तु का काल्पनिक चित्र अपने मन में उतारने से भी अभ्यास दृढ़ हो जायगा।

जिन लोगों के नेत्र त्राटक के योग्य नहीं, उन्हें किसी भी वस्तु के काल्पनिक रूप पर (नेत्र मूँद कर) त्राटक करना चाहिये। अधिक परिश्रम कर नेत्रों पर भार डालना उचित नहीं। जब अभ्यास करते-करते नेत्र थक जाते हैं तो उन्हें बन्द कर वस्तु की कल्पनिक छवि पर ही ध्यान किया जा सकता है। त्राटक करते समय शरीर को निश्चल बनाये रखना चाहिये।

त्राटक के अभ्यास से नेत्रों में शक्ति का अवतरण होता है। नेत्ररोग से पीड़ित व्यक्तियों ने त्राटक के अभ्यास से अनेकों लाभ प्राप्त किये हैं। यह ठीक है कि अपनी शक्ति से अधिक अभ्यास और सूर्य पर दृष्टि जमाये रखने से कुछ हानि अवश्य हो सकती है, किन्तु बुद्धि और विवेक-सहित त्राटक का अभ्यास

करने से अनेकों लाभ होते हैं। जार्सिस नामक एक नेत्र रोग, जो विटामिन् 'ए' के अभाव में हुआ करता है, त्राटक के अभ्यास से अच्छा किया जा सकता है। सूर्य पर दृष्टि स्थिर करने से पहले तद्विषयक सभी नियम सिद्ध और अनुभवी गुरु से जान कर फिर अभ्यास का आरम्भ करना चाहिए। यदि सावधानी से अभ्यास नहीं किया गया तो सिद्धियों के बदले कुछ और ही मिलेगा।

त्राटक के अभ्यास में सफल हो जाने पर नेत्रों में ज्योति का आविर्भाव होता है। बहुत लोगों ने त्राटक के अभ्यास में सफलता प्राप्त कर आँखों के चश्मे भी उतार दिये हैं। नेत्रों की स्वस्थता के अतिरिक्त, त्राटक से सङ्कल्प-शक्ति भी सबल होती है, मन का विक्षेप दूर होता है, मन शान्त और स्थिर होता है। अदृश्य वस्तुओं का दर्शन, अश्रुत शब्दों का श्रवण तथा अनेकों योग सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

एक बार मैं फिर अपनी पुरानी बात दोहराना चाहता हूँ कि हठयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग एक दूसरे के विरोधी नहीं—पूरक ही हैं। अतः ज्ञानयोगियों से मेरी प्रार्थना है कि वे इन अभ्यासों का तिरस्कार न करें, केवल इस तर्क पर कि यह अभ्यास हठयोग के अभ्यास के अन्तर्गत है, ज्ञान-योगियों से इसका कोई वास्ता नहीं। आप चाहे भक्तिमार्गी हों या ज्ञानयोग के विद्यार्थी—हर अवस्था में उपरोक्त अभ्यास आपको लाभ ही प्रदान करेंगे; क्योंकि मन के विक्षेपों से भक्त और ज्ञानी और कर्मयोगी—तीनों सन्तप्त रहते हैं। ऊपर बत-लाए गए अभ्यास अपनी शक्ति और विशेषता से मन के विक्षेप का निवारण कर मन को स्थिर बनाते हैं, जिनसे क्या भक्त

और क्या ज्ञानी और क्या कर्मपरायण व्यक्ति सभी पूरा-पूरा लाभ उठा सकते हैं। यह अभ्यास मन को ध्यान और समाधि के लिए तैयार करते हैं। यह अभ्यास हर अवस्था में साधना की चरम सीमा को प्राप्त करने के लिये अचूक साधन सिद्ध हुये हैं। साधक को चाहिये कि वह मञ्जिल-दर-मञ्जिल बढ़ते जाये, पग-पग पार करे और योग की उच्च अवस्था में प्रतिष्ठित हो जावे। यह कोई नई बात नहीं कही जा रही है। अनेकों व्यक्ति इन अभ्यासों से परम लाभ उठा चुके हैं और उठा भी रहे हैं। त्राटक के कई अभ्यास ऊपर दिये गये हैं। अपनी सुविधा के अनुसार किसी एक को चुन लीजिये। एक महीने तक अभ्यास कीजिये। इस बीच में अपने अनुभव और अपनी कठिनाइयाँ—जो कुछ हों—मुझे लिख भेजिए। मैं उनका उचित समाधान करूँगा।

ध्यान के अभ्यास

मन को एक लक्ष्य पर स्थित करना एकाग्रता है। योग-दर्शन में इसे 'धारणा' की संज्ञा दी गई है। विचारों के समुदायीकरण को धारणा कहते हैं। मानसिक प्रवृत्तियों को केवल एक पदार्थ पर स्थिर और प्रतिष्ठापित करना धारणा है। जिस विधि से मन और मन-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ एकाग्र कर दी जाती हैं—उनमें चञ्चलता नहीं रहती, विक्षेप नहीं रहता,—उसे (उस विधि को) धारणा कहा जाता है। धारणा के बाद ध्यान का अवतरण होता है। जिस प्रकार धारणा में केवल एक ही वस्तु की धारणा होती है, उसी प्रकार ध्यान में भी केवल एक ही विचार का प्रवाह तैलधारावत् रहता है। विचारों की एकसार प्रगति को 'ध्यान' कहते हैं।

स्थिरता (अस्थिरताहीनता) धारणा की विशेषता है। विक्षेप का निराकरण इसका तत्त्व है। धारणा का रूप निश्चित रहता है; अर्थात् जिस व्यक्ति में प्रसन्नता और शान्ति होगी, उसे धारणा में सफलता की सिद्धि भी होगी ही। प्रसन्नता और आन्तरिक उल्लास धारणा के मूल रूप और मूल परिणाम भी हैं। धारणा में सफल हो जाने पर विश्राम की अनुभूति, मानसिक समता और मानसिक हल्कापन तथा शारीरिक मृदुता स्वभावतः आ जाती हैं।

अब ध्यान की ओर चलें। ध्यान मैं नियमितता अनिवार्य है और समय की पाबन्दी का भी बड़ा महत्व है। नित्यप्रति दोनों सन्ध्याओं में, एक ही समय पर, ध्यान के लिए बैठना चाहिए। दोनों सन्ध्याओं में ध्यान सम्भव न हो तो प्रातःकाल और रात को इसका अभ्यास किया जा सकता है। प्रातःकाल और रात्रि को सहज ही ध्यानोपयोगी सात्त्विक-भाव का अवतरण हो जाता है। अतः यह ध्यान में रखना चाहिए कि ध्यान के लिए समय, स्थान, कमरा आसन और लक्ष्य एक ही हो; नित्यप्रति बदले न जाएं। ध्यान में नियमतत्परता और समय की पाबन्दी सफलता की जननी है। ध्यान का अभ्यासी नागा किए बिना प्रतिदिन ध्यान करता है तो उसे अपेक्षाकृत शीघ्र सफलता मिलेगी। यदि ध्यान करते-करते अभी भी सफलता नहीं मिली तो उसे त्याग न दीजिए, किन्तु जुटे रहिए—सत्यशीलता, लगन, धैर्य और सहिष्णुतापूर्वक अभ्यास जारी रखिए। कुछ ही दिनों में अप्रत्याशित सफलता का सेहरा प्राप्त करोगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

कुछ भी क्यों न हो जाय, पर एक दिन के लिए भी अपने अभ्यास में नागा न करो। भले ही शरीर अस्वस्थ हो

जाय, पर अभ्यास न छोड़ो—शृङ्खला को अस्त-व्यस्त न होने दो, धागा पकड़े रहो। रोग से आक्रान्त होने पर ध्यान करने से न केवल मानसिक बल, किन्तु शारीरिक बल भी मिलता ही है। प्रयोगों से सिद्ध किया जा चुका है कि ध्यान के अभ्यास से जो सात्त्विक लहरें स्फुरित होती हैं, उनसे रोग की विषाक्त प्रवृत्ति को शान्त और पराभूत किया जा सकता है। मन में आध्यात्मिक शक्ति, शरीर में नव बल और इन्द्रियों को सात्त्विक ओज प्राप्त होता है। यदि रोग-काल म भी ध्यान किया जाय तो समस्त शरीर-प्रणाली का नवकरण होता है और सभी परिश्रान्त इन्द्रियों को विश्राम मिलता है। सच पूछिए तो ध्यान ही शरीर को सच्चा विश्राम दे पाता है। अतः ध्यान द्वारा उत्पन्न होने वाली सात्त्विक भावना की लहर के लिए सदा सावधान रहो। जब मन में सात्त्विक भावना का अवतरण होने लगता है, उस समय और सभी कामों को छोड़ कर ध्यान में बैठ जाओ और उसका सदुपयोग करो। ध्यान में बैठते समय लगन के साथ बैठो।

अहङ्कार, आत्म-परिमिति की भावना, हठी स्वभाव, आत्म-प्रशंसक राजसिक प्रकृति, चिड़चिड़ापन, दूसरे के चरित्र में विशेष रुचि, छल, पाखण्ड—यह सब ध्यान में विघ्न हैं। इन वृत्तियों की सूक्ष्म-वासना मन में छिपी हुई रहती है। जिस प्रकार सागर में आन्तरिक भँवर होते हैं, उसी प्रकार मन के अन्दर भी भँवर सदा चक्कर लगाया करते हैं। योग और ध्यान के अभ्यास के दबाव से मन की विविध अपवित्रताएं बाहर निकल आती हैं। साधकों का कर्तव्य मन का अनुशीलन करना और उस पर ध्यान देना है। योग्य उपायों और प्रभाव-शाली रीतियों से एक-एक कर उन सबका परिहार करना होगा।

घमण्ड बड़ा भारी शत्रु है। इसकी शाखाएं चारों दिशाओं में फैल जाती हैं। इसके कारण मन में राजसिक वातावरण पैदा हो जाता है। यह बार-बार प्रकट होता है, यद्यपि कभी-कभी इसकी लहरें शान्त हो गई-सी दीखती हैं। जब कभी इसे जरा भी मौका मिलता है, यह अपना सिर या फ़न उठाने में नहीं चूकता।

अकारण ही बात-बात में रुष्ट हो जाने वाला साधक ध्यान में उन्नति नहीं कर सकता। साधक को सदा मिलनसार, प्रमी और सहृदय होना चाहिए और हर अवस्था में जीवन बिताने की कला सीखनी चाहिए। इन सद्गुणों का विकास करते ही बुरी आदतें अपने आप चली जाएंगी। कुछ साधक अपनी गलतियों की विवेचना होने पर रुष्ट हो जाते हैं। उनको इतना बुरा लगता है कि वे अपनी गलती सूचित करने वाले व्यक्ति को बुरा-भला कहने लगते हैं। उनका विचार है कि अमुक व्यक्ति केवल घृणा या द्वेषवश हो उनकी गलतियों पर नमक-मिर्च लगा कर सबको सुना रहा है। हमें यह बात निश्चयतः समझ लेनी चाहिए कि दूसरे लोगों में अपने अवगुणों को पहिचानने की शक्ति अपूर्व और आश्चर्यजनक होती है। जो व्यक्ति आत्म-विश्लेषण का अभ्यास नहीं करता और जिसकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हो गई हैं, वह अपने अवगुणों को नहीं समझ सकता। वह आत्म-प्रवञ्चना करता है और अपने को ही छलता है। उन्नति चाहने वाले साधक को चाहिए कि प्रत्येक से अपने अवगुणों को सुनने पर उनके परिहार का उपाय खोज निकाले और हर प्रकार से उनको अपने अन्दर से बाहर निकाल फेंके। जब दूसरे लोग हमारे अवगुणों की विवेचना करते हों

तो हमें उनके प्रति कृतकृत्य होना चाहिए—इसलिए कि उन्होंने हमारे अवगुण बतलाए, ताकि हम उनका सुधार कर लें। यदि इस प्रकार का अभ्यास किया गया तो हम ध्यान के साथ-साथ जीवन-पथ में भी सफल बन सकेंगे।

अपने मन की बातों और उसके आदेशों पर हाँ-में-हाँ मिलाना मानवीय स्वभाव है, उसका परिहार करना कठिन है। प्रत्येक ने अनन्त काल से अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। तभी से उसने राजसिक मन को अपनी मनमानी करने की स्वतन्त्रता दी है। फलतः मन का व्यक्तित्व अत्यन्त सबल हो चुका है। जब अनन्त काल से मन को ऐसे व्यक्तित्व की प्राप्ति होती रही है तो उसे लचीला, कोमल और परिष्कृत करना कोई एक-दो दिन का काम तो नहीं हो सकता। आत्म-महत्ता का अहङ्कारी सदा दूसरों पर अधिकार करना चाहता है। वह दूसरों की राय स्वीकार नहीं करता, दूसरों की सम्मति भी नहीं मानता, भले ही वह सम्मति और राय बुद्धिपूर्ण और युक्तियुक्त हो। उसकी आँखें तिमिराच्छन्न रहती हैं। वह सदा यही सोचता है—'जो कुछ मैं करता हूँ, जो कुछ मैं कहता हूँ, सब सत्य है। और लोग तो यों ही कह दिया करते हैं।' इस प्रकार वह अपनी गलतियों को न तो समझ सकता है और नहीं उनका सुधार कर सकता है। तर्क और युक्ति से अपनी निराली चालों तथा सनक को युक्तिसङ्गत सिद्ध करता है। जब वह अपनी निर्बलताओं को औरों पर सिद्ध नहीं कर सकता तो झगड़ा करने लगता है तथा शक्ति का प्रयोग करता है। जब दूसरे उसका आदर सत्कार नहीं करते तो वह आपे से बाहर हो जाता है। पोली प्रशंसा से वह

हद से ज्यादा प्रसन्न हो जाता है। अपनी बातों को सत्य सिद्ध करने के लिए वह अनेकों झूठ बोलेगा। आत्म-स्वीकृति के साथ-साथ उसमें आत्म-श्लाघा भी रहा करती है। यह आदतें व्यक्ति के सच्चे विकास में खतरनाक रोड़े हैं। जब तक व्यक्ति आत्म-श्लाघा और आत्म-स्वीकृति की भावना से मुक्त नहीं बन सकता, तब तक वह ध्यान और साधना में भी आगे नहीं बढ़ सकता। आत्म-स्वीकृति की भावना को समूल बदल देना अनिवार्य है। प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक बातचीत पर अपनी दृष्टि वैसे ही रखनी चाहिए, जैसी दूसरों की रहा करती है; तभी आत्म-स्वीकृति की आदत का निराकरण किया जा सकता है। सत्यता और पवित्रता के नये दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु को परखने पर ही आत्म-स्वीकृति की आदत का परिवर्तन किया जा सकता है। मान, इज्जत और प्रतिष्ठा को सूकर-विष्ठा समझ कर त्याग देना चाहिए; निन्दा, अपमान और तिरस्कार को आभूषणों के समान सहर्ष ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की आदतों के अनुसार चलने में कठिनाई का अनुभव करता है। सम्प्रदाय और वर्ग विशेष से सम्बन्ध रखने के कारण उसके विचार इतने संकुचित हो जाते हैं कि वह दूसरों के विचारों को ग्रहण करने के लिए कभी तैयार नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति को ही असहिष्णु कहा जाता है। वह सोचता है कि उसके विचार, व्यवहार और आचार ही ठीक हैं, दूसरों का व्यवहार और विचार गलत है। दूसरों के अवगुणों को देखने की आदत उसमें कूट-कूट कर भरी हुई रहती है। दूसरों के दोषों को देखने में वह सिद्ध होता है।

उसकी आँखें सदा भ्रम के तिमिर से आच्छन्न रहा करती हैं, फलतः वह दूसरों के सद्गुणों को स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरे लोग भले ही अच्छे और पुण्य कार्य करें, किन्तु उसका काम उनमें भी ऐब ही ढूंढना है। इतनी बात जरूर है कि वह अपनी-अपनी हाँकता है।

ऐसा व्यक्ति कभी भी आत्म-शान्ति नहीं पा सकता। दूसरे व्यक्तियों से उसकी मित्रता नहीं बनी रहती। भला ऐसा साधक किस प्रकार अपने मार्ग पर आगे बढ़ सकेगा? एक तो अपने में गलतियाँ, दूसरे उन गलतियों को भी (गलत न समझने की) सही समझने की हठी लगन; भला यह पतन पर महापतन नहीं तो क्या है? जो साधक आध्यात्मिक मार्ग पर जल्दी उन्नति करना चाहते हैं और चाहते हैं कि आध्यात्मिकता के फल की प्राप्ति कर सकें, वे इन दुर्गुणों से दूर रहें। यदि यह दुर्गुण हैं तो उनका परिहार कर लेवें। शुद्ध प्रेम, सहिष्णुता और अन्य सात्त्विक सद्गुणों का अपने अन्दर समुदय करें।

एक बात और है। आध्यात्मिक पथ पर कठिनाइयों और बाधाओं के आ जाने से निराशा छा जाती है, धारणा और ध्यान में सदुत्साह नहीं रहता। जिन साधकों को कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता, वे जल्दी ही उन्नति कर लेते हैं। इन बाधाओं का निराकरण और कठिनाइयों का परिहार प्रणव के मन्त्रोच्चारण (जप) से और गुरु-कृपा से भी किया जा सकता है। पतञ्जलि महर्षि ने प्रणव के मन्त्र का भाव और अर्थसहित जप करना अत्यन्त प्रभावशाली बतलाया है—'तज्जपस्तदर्थभावनः' ॐ का जप, उसके अर्थ पर विचार तथा उसकी भावना में तल्लीनता—इनसे मानसिक शान्ति मिलती

है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं—'**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**' अपने विचार को मुझ पर स्थिर करते हुए, मेरी कृपा से तुम किसी भी प्रकार की कठिनाइयों को पार कर सकोगे (गीता : १८—५८)।

काश्मीर में रह कर भी एक साधक अपने उत्तरकाशी में रहने वाले गुरु पर ध्यान करता है। इस समय वे दोनों, कितनी ही दूर क्यों न हों, एक-दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। शिष्य गुरु का ध्यान करता है और गुरु शक्ति, शान्ति, आनन्द और प्रसन्नता के विचारों को अपने शिष्य के पास भेजता है। शिष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आध्यात्मिक विद्युत्-स्फुरण से सञ्चारित हो जाता है। गुरु के पास से आध्यात्मिक विद्युत्-स्फुरण चतुर्दिक् स्फुरित हो कर शिष्य के पास पहुँचते हैं। शिष्य अपनी योग्यता और ग्रहण-शक्ति के अनुकूल इस प्रेरणा-शक्ति को प्राप्त करता है। यदि श्रद्धा की प्रचुरता होगी तो गुरु द्वारा प्रेषित प्रेरणा-शक्ति भी उसी अनुपात से प्राप्त हो सकेगी। जब कभी शिष्य अपने गुरु का ध्यान करता है, गुरु को तुरन्त प्रार्थना की इस लहर का आभास मिलता है, जो उसके शिष्य के पास से आ रही है। सूक्ष्मदर्शी साधक के लिए गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध की इस विद्युत्-लहर को देखना सम्भव है। गुरु और शिष्य के बीच जो आध्यात्मिक लहर प्रवाहित होती है, वह सात्त्विक स्फुरण से संयुक्त रहती है—चित्त-सागर में नवीन तरङ्गे लाती है।

विकसित और महोन्नत आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस जगत् का विश्लेषण कीजिए तो जगत् की सत्ता का सच्चा ज्ञान हो जायगा। जब वह महान् विराट्-अनुभूति आपमें व्यापक

हो जायगी तो वही अनुभव होगा, जो अर्जुन को हुआ था—जिसका वर्णन श्री गीता के ११ वें अध्याय में किया गया है।

जिस प्रकार एक छोटे से तालाब में कुछ मछलियाँ और जल-जन्तु इधर-उधर चक्कर लगाया करते हैं, जिस प्रकार घर की दीवालों पर चीटियाँ इधर-से-उधर घूमा करती हैं, उसी प्रकार यह जीव भी परम पिता परमात्मा के विशाल शरीर के अन्दर चक्कर लगा रहा है। यदि इस पर गम्भीर विचार करें तो आनन्द आयेगा और मारे हर्ष के रोंगटे खड़े हो जाएंगे। परमात्मा के इस विशाल शरीर के अन्दर कोटिशः जीव ऐसे हैं, जो अपने-अपने स्वार्थ के लिए कहाँ-कहाँ का चक्कर नहीं लगा रहे हैं? जिस प्रकार शरीर के अन्दर, रक्ताणु वेगपूर्वक इधर-उधर स्खलित होते हैं, उसी प्रकार इस विशाल शरीर में हम जीव क्षण-क्षण में स्खलित हो रहे हैं। इसी शरीर के अन्दर, अनेकों मूढ़ और जड़बुद्धि जीवों में, आपको कराग्रगण्य ज्ञानी और सन्तों के दर्शन हो सकेंगे, जो जहाँ-तहाँ खड़े हो कर अन्धकारमय देश को अपनी ज्योति से प्रकाशित कर रहे हैं, भूले-भटकों को खींच-खींच कर राह पर लगा रहे हैं, ठोकर खा कर गिरे हुओं को फिर से उठा कर सहारा दे रहे हैं और और अन्धकारजनित वासना का निर्मूलन कर जीव को कृतकृत्य और आप्तकाम बना रहे हैं। इसी विराट् शरीर के अन्दर बहुत जगहों पर ज्योतियाँ जल रही हैं, किन्तु अभी-अभी वे पूर्ण विकसित नहीं हो पाई हैं। वे ज्योतियाँ हैं, आध्यात्मिक साधकों की, जो विराट् ज्योति से प्रकाश ले कर अपना पथ उज्ज्वल कर रहे हैं और उसी उज्ज्वलता में अपना मार्ग ढूंढ रहे हैं और बढ़ रहे हैं। कुछ

दिनों में यह ज्योतियाँ जब विकसित हो जाएंगी तो दूसरों को ज्योति दिखलाएंगी। (ध्यान कर) इस दृश्य की कल्पना करो, कितना सुन्दर और प्रेरणाप्रद दृश्य है यह। यह यौगिक दर्शन मनुष्य के ज्ञान-चक्षुओं को खोलता है।

तृतीय प्रयोग

आत्म-शक्ति के प्रभाव

व्यक्तित्व

साधारणत: जब हम कहते हैं कि डा० टैगोर का व्यक्तित्व सुन्दर है, तो यही प्रकट करते हैं कि डा० टैगोर बलवान्, दीर्घबाहु और सुगठित शरीर वाले हैं, उनका चेहरा दमकता है और उनकी नाक सुन्दर है, आँखें चमकती हैं, छाती प्रशस्त, माँसपेशियाँ सुगठित, शरीर के अङ्ग सुविभक्त, बाल घुंघराले हैं, इत्यादि। जिस माध्यम द्वारा एक व्यक्ति को दूसरे से अलग-अलग जाना जाता है, उसे व्यक्तित्व कहते हैं। किसी व्यक्ति को पहिचानने के लिए उसके व्यक्तित्व (सूरत-शकल) को पहिचानना पड़ता है।

किन्तु सच तो यह है कि व्यक्तित्व का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। व्यक्तित्व की परिभाषा यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति के चरित्र, प्रतिभा, सद्‌गुण, सच्चरित्र व्यवहार, बौद्धिक विकास, प्रभावशाली चरित्र, मीठी और मनभावन वाणी आने चाहिए। इन सब

गुणों या रूपों या विशेषताओं के जोड़ को किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व कहा जाता है। यदि केवल शारीरिक लक्षणों को ले कर ही व्यक्तित्व का निर्धारण किया जाय तो वह अपूर्ण ही रहेगा।

यदि हम किसी व्यक्ति को दूसरों पर अपना प्रभाव डालता हुआ देखते हैं या सुनते हैं तो यही कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व तेजस्वी और आकर्षक है। पूर्ण सिद्ध योगी तथा पूर्ण प्रतिष्ठ ज्ञानी इस संसार में सबसे महान् व्यक्तित्व हैं। ऐसे व्यक्ति का शारीरिक गठन साधारण पुरुषों के समान भी हो सकता है। उसकी आकृति असुन्दर (कुरूप) भी हो सकती है। उसके वस्त्र फटे-पुराने हों। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी वह महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न होता है—वह एक महात्मा (महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न को महात्मा कहा जाता है) है। हजारों उसके पास जा कर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। यम और नियम के अभ्यास से जिस व्यक्ति ने नैतिक उन्नति कर ली हो, उसकी आत्मा भी महान् और आकर्षक हो जाती है, अर्थात् उसका व्यक्तित्व तेजस्वी हो जाता है। वह लाखों को आत्म-प्रभावित कर सकता है। पर यहाँ पर ऐसे व्यक्ति और ज्ञानी में (योगी में भी) अन्तर आ जाता है। पूर्ण ज्ञानी अथवा योगी साधारण व्यक्तित्वशाली मनुष्य से महान् समझा जाता है।

डा० सैमुएल जान्सन् सुन्दर नहीं, कुरूप थे--पेट हण्डे के समान, अङ्ग बेडौल (विषमविभक्ताङ्ग)। किन्तु याद रहे कि वह अपने समय के महान् व्यक्ति थे। वे न तो योगी थे और न ज्ञानी ही, किन्तु उन्होंने प्रखर बौद्धिक प्रतिभा की

प्राप्ति की थी। वह सिद्ध प्रबन्ध-लेखक थे। अङ्गरेजी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था; अपनी अद्भुत लेखन-शैली के लिए तो वे प्रसिद्ध थे ही। 'जान्सन की इङ्गलिश' के नाम से उनकी शैली सर्वत्र प्रख्यात है।

इसी प्रकार कालिदास, कवि माघ तथा अनेकों महान् व्यक्ति हो चुके हैं, जो ज्ञानी और योगी तो नहीं थे, किन्तु लाखों को उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा से आत्म-प्रभावित किया।

धनी व्यक्तियों का व्यक्तित्व भी प्रभावुक होता है। उनके व्यक्तित्व में प्रभावशालिता का कारण धन की शक्ति है। धन भी व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देता है। धन के कारण व्यक्ति के अन्दर रङ्ग छा जाता है। धन के साथ-साथ यदि उदारता हुई तो क्या पूछना, मानो सोने में सुगन्ध मिली। ईसामसीह बोलते थे, दान (उदारता का ही पर्याय) बहु-गुणित (अनेकों और जटिल) पापों का प्रक्षालन करता है।

रही चरित्र की बात। चरित्र से जिस व्यक्तित्व की प्राप्ति होती है, वह व्यक्तित्व ठोस और शक्तिमय होता है। चरित्र-वान् व्यक्ति जहाँ कहीं रहें, आदर के भागी बन कर रहते हैं। जो व्यक्ति पवित्रमना, सत्यशील, सत्यवाची, दयालु, उदार-हृदय है वह दूसरों को शीघ्र ही प्रभावित करता और दूसरों के आदर का पात्र भी जल्दी ही बन जाता है। सात्त्विक गुण होने से मनुष्य दिव्य व्यक्तित्वशाली हो जाता है। जो व्यक्ति सत्य-वादी और ब्रह्मचारी हो, समाज में उसकी देवतुल्य प्रतिष्ठा होती है। ऐसा व्यक्ति एक ही शब्द क्यों न मुँह से निकाले, उसका

अपना अलग, विशिष्ट और महान् प्रभाव तथा आकर्षण होता है। जैसे लोहा चुम्बक को खींचता है, वह भी उसी प्रकार अनेकों को अपने सत्सम्पर्क में ले आता है। यहाँ पर यह याद रखिए—

"यदि आप अपने व्यक्तित्व को उच्च, तेजस्वी, प्रभावशाली और आकर्षक बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम चरित्र का निर्माण कीजिए। चरित्र-निर्माण में सबसे पहिले और सबसे आवश्यक है ब्रह्मचर्य। इसे जड़ ही क्यों न मान लिया जाय? इसके बिना कुछ भी सम्भव नहीं हो सकता। व्यक्ति यदि ब्रह्मचारी नहीं तो व्यक्तित्व-विकास की साधना टूटे घड़े में पानी भरने के समान है।"

व्यक्तित्व का विकास करना ही होगा। दिव्य गुणों का अभ्यास भी अनिवार्य ही है। इन साधनाओं के साथ-साथ प्रसन्नता का गुण भी अवश्य वर्तमान रहना चाहिए। हतप्रभ और चिन्तित व्यक्ति किसी को भी प्रभावित नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति जो निराशावादी, उदास, हतप्रभ और मरे दिल वाला है, समाज के लिए रोग—संक्रामक कीट के समान है। वह चारों ओर रञ्ज और ग़म फैलाता है। उसकी जगह पर समाज के अन्दर किसी अच्छे स्वभाव वाले व्यक्ति को रखिए, जिसमें सेवा की भावना, चरित्र की नम्रता और आज्ञाकारिता का पुट हो, वह सारे समाज की व्यवस्था को बिजली की चमक के समान बदल देगा (सुव्यवस्थित कर देगा)। आप चाहे मानसिक विचार-भूमि की बात कहिए या स्थूल जगत् की, सभी जगह एक उभयनिष्ठ नियम है कि समान स्वभाव और गुणशील पदार्थं एक दूसरे से प्रभावित हो जाते हैं। शक्ति-

सम्पन्न व्यक्ति हुआ तो आत्म-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि भौंरे जिस प्रकार फूल की ओर अपने-आप दौड़े जाते हैं, समाज भी वैसे ही उसकी ओर आकर्षित हो कर चला आता है। "मैं हूँ, कृपा कर सब लोग पधारिए—" उसे यह कहने की जरूरत ही नहीं होती।

सुन्दर आकृति हो, मधुर वाणी हो, मीठा संगीत हो, ज्योतिषशास्त्र, हस्तरेखा-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, कला आदि का अच्छा ज्ञान हो, तो व्यक्तित्व में चार चाँद लग जाते हैं। दूसरे के साथ कैसे मिलना और कैसे व्यवहार करना—इसका ज्ञान भी जरूरी है। धीरे से बोलना चाहिये, मन को प्रियकर ही बोलना चाहिये। ऐसे स्वभाव से अमिट प्रभाव का जन्म होता है। सज्जनता, मिलनसार स्वभाव और नेक आदत का विकास करना चाहिये और उन्हें उचित रीति से सम्बोधन करना चाहिये। अपने व्यक्तित्व को बलशाली बनाने वाले व्यक्ति के लिये एक बात आवश्यक है। वह है, किसी का भी अनादर न करना, चाहे वह अनादरणीय ही क्यों न हो। जो दूसरों का आदर करता है, अवश्य दूसरों के आदर का पात्र बनता है। नम्रता का स्वभाव हो तो आदर की योग्यता स्वतः आ जाती है। नम्रता वह सद्गुण है, जो दूसरों के हृदय पर अपनी छाया कर लेती है। जिस प्रकार चुम्बक की चट्टान की ओर लोह-वस्तु का अमित संग्रह भी अपने आप आकर्षित हो कर चला जाता है, नम्र व्यक्ति भी उसी प्रकार समाज को अपनी दिशा में खींच लाता है।

जब किसी व्यक्ति से मिलना हो तो मिलने का ढङ्ग जान लेना चाहिये। किस प्रकार बातें की जाती हैं और कैसा व्यवहार

किया जाता है—यह सब अच्छी तरह जान लेना चाहिये। व्यवहारकुशलता एक अनिवार्य सद्गुण है। दम्भी, हठी, आत्म-मन्य व्यक्ति न तो अपने स्वभाव को बदल सकता है और न अच्छे स्वभाव का उपार्जन ही कर सकता है। सभी उसे नापसन्द करते हैं।

स्वभाव सदा खुशदिल होना चाहिये। चेहरे पर मुस्कान और आनन्द खिला रहना चाहिये। इससे व्यक्तित्व का विकास होता है। खुशदिल व्यक्ति को सभी लोग मानते हैं। सदा प्रसन्न-चित्त रहोगे तो बड़े लोग आपको अच्छा मानेंगे। किन्तु प्रसन्न-चित्त और सतत मुस्कान के साथ-साथ गम्भीरता, विचारशीलता, मर्यादा और प्रसंगशीलता का पुट भी मिला हुआ रहना चाहिये। यदि यह सद्गुण हुए तो मिलने वाले व्यक्ति से सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जा सकता है और उसके मनोविज्ञान को प्रभावित किया जा सकता है। मिलने वाले व्यक्ति से क्या बातें करनी हैं, उनका एक लेखा अपने पास रहना चाहिये। अपनी जेब में एक स्मृति-पुस्तिका भी रख लेनी चाहिए। उस व्यक्ति से जो कुछ कहना है, धीरे-धीरे अच्छी तरह सोच-विचार और याद कर कहो। कहते समय जल्दबाजी और अव्यवस्थित होने के कारण कुछ और न कह जाओ। सोच-समझ कर और धीरे-धीरे बात करोगे तो वह व्यक्ति ध्यानपूर्वक बातें सुनेगा। बातें करते हुए उसके प्रति सम्मान का भाव यथावत् बनाये रखो। कुर्सी में अकड़ कर ठाट से बातें करना असभ्यता का सूचक है; सदा खड़े रह कर जो कुछ कहना हो, कह देना चाहिये विवाह-बरात में जिस प्रकार गैसबत्ती की रोशनी का वाहक सन्नद्ध खड़ा रहता है, उसी प्रकार प्रार्थी को भी खड़ा रहना चाहिये। तात्पर्य यह कि बातें करते

हुए हाव-भाव इस प्रकार से व्यवस्थित होने चाहिये कि सुनने वाले का हृदय आपके व्यवहारों से मोहित हो जाय।

बातें करते हुए याद करते रहो कि आपने कोई बात भूल कर छोड़ तो नहीं दी है; क्या आपने आठों बातें, जो कहनी थीं, कह दी हैं। पश्चिम के देशों में व्यक्तित्व को बड़ा सम्मान किया जाता है। भारत में अभी-अभी व्यक्तित्व के सम्मान की लहर चल रही है।

सदा यही प्रयत्न करते रहो कि व्यक्तित्व तेजस्वी बने। जिस शक्ति से दूसरों को मोहित, आकर्षित और मन्त्रमुग्ध-सा कर दिया जाता है, उस रहस्यमयी अद्‌भुत शक्ति का अभ्युदय करो। आत्म-शक्ति के रहस्य को जानो। संकल्प-शक्ति को बढ़ाओ। शक्ति के छेद, जहाँ से यह चू रही है, बन्द करो। स्वस्थ, उज्ज्वल, प्रियदर्शन, गम्भीर शरीर की प्राप्ति कर उच्च श्रेणी के वीर्य और बल से सम्पन्न हो जाओ, समाज और अर्थ सम्बन्धी जीवनचर्या की सफलता के भागी बनो। यदि आत्म-शक्ति (व्यक्तित्व) की महत्ता को अच्छी तरह समझ सकोगे तो निश्चयतः अपनी उपार्जन-शक्ति को भी बढ़ा सकोगे और जीवन की संकुचित सीमा से मुक्त हो कर विस्तृत और आनन्दतर जीवन में कदम रख सकोगे।

यदि व्यक्तित्व प्रभावुक है तो समझ लीजिये कि वह आपकी स्थाई सम्पत्ति है, जिसे कोई नहीं छीन सकता, जो नष्ट नहीं होती, जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। यदि तुम इसे पाने के लिये कृतकर्म हो जाओ तो सफलता के यशभागी बनोगे। जहाँ संकल्प है, वहाँ राह खुल जाती है—

यह आज का सत्य और कल की लोकोक्ति थी। नाम और यश, धन और सफलता, सद्‌गुण और सद्वस्तु के फूलों का मुकुट प्राप्त करो। यह असम्भव नहीं, किन्तु प्रयत्न-साध्य है। आज से ही कार्य का आरम्भ कर दो।

उपदेश या अनुशीलन की शक्ति

मन पर अनुशीलन या उपदेशों का कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका प्रथमतः ज्ञान होना चाहिये। जब कभी दूसरों को उपदेश दो, सावधान रहो। जिन उपदेशों से दूसरों को हानि पहुँचने की सम्भावना हो, उनका प्रचार मत करो, यदि करोगे तो अपकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं। बोलने से पहले अच्छी तरह सोच और समझ लो।

अध्यापकों को अनुशीलन-विज्ञान का ज्ञान होना चाहिये। अनुशीलन के प्रयोग से विद्यार्थियों को सफलतापूर्वक शिक्षा दी जा सकती है।

जब बच्चे रोते हैं तो माता-पिता यह कह कर उन्हें भयभीत करते हैं—'देखो, वह दो आँख वाला आ गया है, यदि चुप नहीं रहोगे तो तुम्हें उसके हाथों दे देंगे; भूत आ रहा है, तुम्हें उसके हाथों सौंप देंगे।' इस प्रकार के असत्-अनुशीलन का प्रयोग हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं लाता है। ऐसे अनुशीलन के प्रयोगों से बालक भयातुर हो जाता है, डरपोक हो जाता है। बच्चों का मन लचीला, कोमल और प्रभावग्राही होता है; उस (मन) पर संस्कारों का प्रतिविम्ब सरलता से अङ्कित कर दिया जा सकता है। जब वे बड़े हो जाते हैं तो उनके मन से संस्कारों का मिटाना असम्भव हो

जाता है। बड़े हो जाने पर वे प्रयुक्त अनुशीलन के कारण दिए गए भय से डरपोक बन जाते हैं। अतः माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे भूत-भय के समान दूसरे प्रतिकूल अनुशीलन के प्रयोगों से बालक के कोमल चरित्र को बुरी तरह से प्रभावित न करें।

सदनुशीलन के द्वारा उनमें साहस और शौर्य भर दिया जाना चाहिये। 'यह सिंह है, यह शिवाजी हैं, यह भीम और वह अर्जुन। इन्होंने ऐसा किया और ऐसी शूरता दिखलाई।' इस प्रकार के अनुशीलन से बालकों के मन में साहस की भावना का बीज (उगने के लिये) प्रविष्ट होता है। बालक के मन में जिस प्रकार का बीज बोना चाहते हो, उसी प्रकार का अनुशीलन प्रयुक्त करो। उन अनुशीलनों को बालक के मन में स्थिर बनाने के लिये बार-बार दुहराओ। जब बालक बड़ा होता है तो उसके संस्कारों में इसकी प्रतिच्छाया भी बढ़ती है और बाहरी प्रभावों से उनका रूप—प्रभाव बालक के जीवन पर प्रतिलक्षित होता है।

चिकित्सकों को अनुशीलन की विधि अच्छी तरह मालूम होनी चाहिए। सच्चे और सहानुभूतिपूर्ण चिकित्सकों का आज प्रायः अभाव है। अनुशीलन की विधि से अज्ञ चिकित्सक लाभ के वजाय हानि ही अधिक पहुँचाते हैं। रोगी को डरा कर भी, सुना जाता है, चिकित्सक उनकी मृत्यु के मनोवैज्ञानिक कारण बनते हैं। थोड़ी-सी खाँसी हुई तो डाक्टर उसे क्षय बतला कर रोगी को भयभीत कर देता है। रोगी को परामर्श देता है कि उसे भवाली या कसौली के सैनटोरियम् में ले जाना चाहिए, गोल्ड इन्जेक्शन लगवाने चाहिए, इत्यदि इत्यादि। बेचारा रोगी भय के कारण अधमरा हो जाता है। भले ही

क्षय रोग का रञ्चमात्र भी उसके अन्दर नहीं था, पर अब मन ने धारणा कर ली है, अतः क्षय रोग के लक्षण अवश्य प्रकट होने लगते हैं। असद् विधि से अनुशीलन का प्रयोग कर क्षय न भी था तो अब हो जाता है। यहाँ पर तो डाक्टर का कर्त्तव्य यह कहना है कि 'यह साधारण खाँसी है। तुम कल सबेरे स्वस्थ हो जाओगे। लो यह औषधि, पेट साफ कर लो; इस तेल को सूँघो। मेरे कथनानुसार आहार का सेवन करो। दो-चार दिनों के लिये उपवास करो। तुम जल्दी स्वस्थ हो जाओगे।' इस प्रकार की अनुशीलन-विधि से जो परामर्श दिया जाता है, वह रोगी के मनोविज्ञान पर अनुकूल और सुन्दर प्रभाव की सृष्टि करता है। फलतः रोगी जल्दी ही स्वस्थ हो जाता है। यहाँ पर डाक्टर लोग मेरी राय से सहमत नहीं होंगे। ऐसा करने से उनकी रोजी जो जाती रहेगी, उनकी जेबें जो खाली रहेंगी। परन्तु मैं क्योंकर सत्य को छिपाने लगा। सत्य का प्रदर्शन अवश्य करना चाहिये। डाक्टर को सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये, दयालु स्वभाव वाला होना चाहिये। ऐसा डाक्टर, आरम्भ में अपने मन में जो कुछ समझे, समझता रहे, किन्तु कुछ दिनों के बाद अवश्य ही अनुभव करेगा कि उसकी रोजी चमक उठी है; उसकी जेब उचित मात्रा में, उचित विधि से, उचित सिक्कों से भरती जा रही है।

मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के अनुसार सदनुशीलन के द्वारा रोगी की चिकित्सा की जाती है। इस चिकित्सा में औषधियों का प्रयोग (उपयोग) नहीं किया जाता है। केवल अच्छे और शक्तिमय अनुशीलन, प्रस्ताव और सुझाव द्वारा ही रोगों की

चिकित्सायें की जाती हैं। इस विधि का ज्ञान होना चाहिये, उसका अभ्यास करते रहना चाहिये, कुछ काल में सफलता मिलनी आरम्भ हो जाती है। प्रत्येक डाक्टर का कर्त्तव्य है कि इस विधि का प्रयोग अपनी चिकित्सा-विधि के साथ-साथ करता रहे। इस सन्तोषजनक समन्वय से उसका व्यवसाय चमक उठेगा।

दूसरों के प्रस्तावों, सुझावों से जल्दी प्रभावित नहीं होना चाहिये। अपने स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र अनुभूतियाँ होनी चाहिये। यदि विचारधारा वेगवती हो तो आज नहीं, पर कल को अवश्य व्यक्ति पर अपना प्रभाव प्रकट करेगी। जो विचार दूसरों में स्फुरित किया जाता है, कभी निरर्थक नहीं जाता। ढेला भले ही अपने निशाने पर न लगे, पर कहीं-न-कहीं तो लगता ही है।

हम विचारों-से-पूर्ण संसार में रहते हैं, अर्थात् हमारा जगत विचारों से आवृत्त, परिच्छिन्न और व्याप्त है। हमारे चरित्र का निर्माण, दूसरों के सम्पर्क के कारण, अनजान में भी होता रहता है। हमारे चरित्र पर अनेकों प्रभाव क्षण-प्रतिक्षण पड़ते रहते हैं, जिन्हें हम नहीं जान पाते। हम अनजान में ही दूसरों की नकल करते हैं और उनके चरित्र को अपने में गढ़ लेते हैं। रोजाना हम जिन-जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, उनकी विचारधारा को अपने में समाश्रित भी कर लेते हैं। हम रोजाना उन विचारधाराओं से प्रभावित हो कर कार्य करते हैं, जो हमारे जीवन पर प्रतिलक्षित हुई हैं। साधारण विचारों से

-सम्पन्न व्यक्ति असाधारण विचारशील व्यक्ति के प्रभाव में आ जाता है।

घर का नौकर सदा अपने स्वामी की विचारधारा के प्रभाव में रहता है। पत्नी अपने पति की विचारधारा के प्रभाव में रहती है। रोगी डाक्टर की विचारधारा के प्रभाव में रहता है। विद्यार्थी शिक्षक की विचारधारा से प्रभावित रहता है। रीति-रिवाज इन विचारधाराओं के परिणाम हैं। इन प्रभावशाली विचारधाराओं के कारण ही व्यक्ति के जीवन में विशिष्ट रीति-रिवाजों और आचरण का उद्भव होता है। क्या वस्त्र-धारण और क्या आचार अथवा रहन-सहन या भोजन या विहार—सब कुछ प्रभावशाली विचारधाराओं के परिणाम ही हैं। प्रकृति की विचारधारा अनेकों रूपों में अपना प्रभाव फैलाती रहती है। दौड़ती हुई नदियाँ, चमकता हुआ सूर्य, सुरभित फूल, बढ़ते हुए वृक्ष सब अपनी-अपनी विचारधारा से प्रतिक्षण आपको प्रभावित करते आ रहे हैं।

प्राचीन काल के सभी सन्त शक्तिमय विचारशाली थे। उन्हें विचारधारा के प्रभाव का अच्छा ज्ञान था। उनकी वाणी में अमित शक्ति थी। उनका प्रत्येक शब्द मानो मन्त्रनिष्ठ और जादू से भरा हुआ था। सुनने वाले मन्त्रमुग्ध से रह जाते थे। आध्यात्मिक प्रचारक अपने श्रोताओं के मन में शक्तिमय प्रभाव को भरता है। उसकी शक्तिमय विचारधारा के कारण सभी श्रोतागण उसके प्रभाव में आ जाते हैं।

जो कोई शब्द बोला जाता है, शक्ति का एक अमोघ बाण होता है। प्रत्येक शब्द में शक्ति-वृत्ति और लक्षण-वृत्ति—दो

वृत्तियाँ सन्निहित रहती हैं। तदनुसार ही शब्द का प्रभाव प्रतिलक्षित होता है।

शब्दों की शक्ति पहिचानिए। एक दूसरे को 'उल्लू' या 'बदमाश' या 'मूर्ख' कहता है तो दूसरा क्रोध-विदग्ध हो जाता है। लड़ाई-झगड़ा शुरू हो जाता है। एक दूसरे को 'भगवान्' या 'श्रीमान्' सम्बोधित करता है तो दूसरा प्रसन्न हो जाता है।

चतुर्थ प्रयोग

सद्‌गुणों का उपार्जन

चरित्र निर्माण

मनुष्य का शरीरान्त होने पर भी उसका चरित्र बना रहता है। उसके विचार भी बने रहते हैं। चरित्र ही मनुष्य में वास्तविक शक्ति और शौर्य का स्फुरण भरता है। चरित्र शक्ति का ही पर्याय है। कहा गया है कि 'ज्ञान' शक्ति का पर्याय है, पर मैं कहता हूँ कि चरित्र ही शक्ति का पर्याय है। चरित्र का अर्जन नहीं किया गया तो ज्ञान का अर्जन भी नहीं किया जा सकता। चरित्रहीन व्यक्ति और जीवनहीन मुर्दे में कुछ भी अन्तर नहीं है। समाज के लिए वह घृणास्पद है, समाज के लिए वह कल्मष है। यदि जीवन में सफलता की कामना है, दूसरों पर अपना प्रभाव स्थापित करने की आकांक्षा है, आध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ने की अभिलाषा है और आत्मज्ञान प्राप्त करने की लगन है तो निष्कलङ्क चरित्र का उपार्जन करो। मनुष्य जीवन का सारांश है, चरित्र। मनुष्य का चरित्रमात्र ही सदा जीवित रहता है और मनुष्य को जीवित रखता है। अपने अलौकिक चरित्र के कारण ही आज अनेकों

शताब्दियों के बीत जाने पर भी शङ्कराचार्य, भगवान् बुद्ध, ईसामसीह तथा अन्य ऋषि हमें याद आते हैं। अपने चरित्र के कारण ही वे जनता के विचारों को प्रभावित कर सके और चरित्र-शक्ति के आधार पर ही जन-समाज की विचारधाराओं का निर्माण भी कर पाए।

चरित्र और धन की तुलना हो ही नहीं सकती। कहाँ चरित्र एक शक्तिशाली उपकरण, सुरभिपूर्ण सुन्दर पुष्प और कहाँ धन एक चञ्चल वस्तु और कलह का आदिमूल। महान् विचार तथा उज्ज्वल चरित्रशाली व्यक्ति का ओज प्रभावशाली होता है। व्यक्तित्व का निर्माण चरित्र से ही होता है। कितना ही सुन्दर कलाकार क्यों न हो, कितना ही निपुण गायक क्यों न हो और कवि या वैज्ञानिक ही क्यों न हो, पर चरित्र न हुआ तो समाज में उसके लिए सम्मान्य स्थान का सदा अभाव ही रहता है। जन-समाज उसकी अवहेलना ही करेगा।

'चरित्र' व्यापक शब्द है। साधारणतः चरित्र का अर्थ होता है नैतिक सदाचार। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति चरित्रशाली है तो हमारा अर्थ होता है कि वह नैतिक सदाचारशील है। चरित्र का व्यापक अर्थ लिया जाय तो वह व्यक्ति की दयालुता, कृपालुता, सत्यप्रियता, उदारता, क्षमाशीलता और सहिष्णुता का द्योतक होता है। चरित्रशाली व्यक्ति में सभी दैवी गुणों का समावेश रहता है। नैतिक दृष्टिकोण से तो वह सिद्ध होगा ही, साथ-साथ दैवी गुणों का विकास भी उसमें पूर्णतया होना चाहिए।

जानबूझ कर असत्य भाषण करना, स्वार्थी और लोलुप होना, दूसरों के दिलों में चोट पहुँचाना—इन सबसे मनुष्य

के दुश्चरित्र का बोध होता है। अपने चरित्र का विकास करने के लिए व्यक्ति को सर्वांगीण उन्नति करनी होगी। चरित्र के विकास के लिए गीता के १२ वें और १६ वें अध्याय में बतलाए गए दैवी गुणों की साधना करनी होगी। तभी वह सिद्ध व्यक्ति बन सकता है। ऐसे ही व्यक्ति को निष्कलङ्क-चरित्रशील कहा जा सकता है।

निष्कलङ्क चरित्र का निर्माण करने के लिए यह गुण उपार्जित किए जाने चाहिए—

नम्रता, निष्कपटता, अहिंसा, क्षमाशीलता, गुरुसेवा, शुद्धि (पवित्रता), सत्यशीलता, आत्म-संयम, विषयों के प्रति अनासक्ति, निरहङ्कारिता; जन्म, मृत्यु, जरा, दुःख, रोग के प्रति आन्तरिक दृष्टिकोण, निर्भयता, स्वच्छता, दानशीलता, शास्त्रवादिता, तपस्या, सरल व्यहारशीलता, क्रोधहीनता, त्यागपरायणता, शान्ति, कूटनीति का अभाव, जीवदया, अलोलुपता, सौजन्य, सरल जीवन से प्रेम, क्षुद्र स्वभाव का दमन, वीर्य, शौर्य और दम तथा घृणा और प्रतिहिंसा का अभाव।

कार्य करने पर एक प्रकार की आदत का भोग उदय होता है। आदत का बीज बो देने से चरित्र का उदय होता है। चरित्र का बीज बोने से भाग्य का उदय होता है। चित्त में विचार, अनुभव और कर्म—इनके संस्कार मुद्रित हो जाते हैं। व्यक्ति के मर जाने पर भी यह विचार जीवित और सक्रिय रहते हैं। इनके ही कारण मनुष्य बार-बार जन्म लेता है। विचार और कर्मजन्य संस्कार मिल कर आदत का विकास करते हैं। आदतों का संगठन होने से चरित्र का विकास होता है। व्यक्ति

ही इन विचारों और आदतों का विधाता है। आज जिस अवस्था में व्यक्ति को देखते हो, वह भूतकाल का ही परिणाम है। यह आदत का उत्तर रूप है। प्रत्येक व्यक्ति विचारों और कार्यों पर नियन्त्रण स्थापित कर आदतों का मनोनुकूल निर्माण कर सकता है।

दुश्चरित्र व्यक्ति सदा के लिये दुश्चरित्र हो गया हो, यह उचित तर्क नहीं है। वेश्या सदा के लिये वेश्या हो गई हो, यह भी सत्य उक्ति नहीं है। इन दोनों को सन्तों के सम्पर्क में रहने का अवसर और सुविधा दो। उनके जीवन में परिवर्तन खिल उठेगा, उनमें दिव्य गुण जाग उठेंगे। डाकू रत्नाकर ही वाल्मीकि बने। जगाई और मधाई, जिन्होंने नित्यानन्द जी पर पत्थर मारे थे, महान् भक्त बन गये। इन व्यक्तियों के मानसिक रूप, आदर्श और विचारों में समूल परिवर्तन हो गया था। उनकी आदतें सर्वथा बदल गई थीं। अपने बुरे चरित्र और विचारों को बदलने की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में सुरक्षित है, वर्तमान है। यदि बुरे विचारों और बुरी आदतों के बदले अच्छे विचारों और अच्छी आदतों का अभ्यास किया जाय तो व्यक्ति को दिव्य गुणों से परिपूर्ण कर दिया जा सकता है। दुश्चरित्र सच्चरित्र ही क्या सन्त भी बन सकता है।

व्यक्ति के आदतों, गुणों और आचार (चरित्र) को प्रतिपक्ष-भावना की विधि से बदला जा सकता है। प्रतिपक्ष-भावना विरोधी गुणों की भावना को कहते हैं। क्रोध को जीतने के लिये उसके विरोधी स्वभाव शान्ति और क्षमाशीलता की भावना करना ही क्रोध की प्रतिपक्षीय भावना है। असत्य को जीतने के लिये प्रतिपक्षीय भावना है सत्यवादिता। इसी

प्रकार और उदाहरणों में भी व्यवहरणीय जानो। साहस और सत्य की भावना करो। साहसी और सत्यवादी बन जाओगे तो भय और असत्यवादिता का निराकरण किया जा सकेगा। ब्रह्मचर्य और सन्तोष का विचार करो तो काम-वासना और लोभ का पराभव किया जा सकेगा। प्रतिपक्षीय भावना द्वारा अपनी दुश्चरित्रता का दमन करना चाहिये, यह वैज्ञानिक विधान है।

प्रायः कुछ लोगों का विचार है (क्योंकि उन्हें चित्त और योग की विधियों से अपनी आदतों और चरित्र को सुधारना नहीं आता) कि उनकी वह पुरानी आदत आजन्म तो क्या, जन्म-जन्मान्तरों तक वैसे ही रहेगी। यह विचार गलत है। चरित्र के लिए तो व्यक्ति के विचार, आदर्श और मानसिक प्रेरणायें ही उत्तरदायी हैं। यदि विचारों, आदर्शों और मानसिक प्रेरणाओं को बदल दिया जाय तो चरित्र भी बदला जा सकता है।

मान लिया कि तुम साहस का विकास करना चाहते हो। मैंने तुम्हें यह बतलाया कि चित्त तुम्हारा आज्ञाकारी कर्मचारी है और तुम्हें उससे काम निकालने की विधि जाननी चाहिये। यह तुममें नये चरित्र, नवीन आदर्श, नवीन मानसिक प्रेरणायें और नवीन आदतें भर देगा। अच्छा तो अब तुममें एक तीव्र इच्छा होनी चाहिए कि साहस का विकास करना है, उपार्जन करना है। साहस का विकास तभी सम्भव होगा, जब तुम तीव्र संकल्प करोगे। कहा है कि जब माँग पेश करोगे तभी माँग को पूरी करने का मौका भी आयेगा। यदि साहस के लिए माँग न हुई तो साहस का उपार्जन भी नहीं हो सकेगा। इसलिए सबसे पहले साहस का

उपार्जन करने के लिए तीव्र इच्छा होनी चाहिये। जब तीव्र इच्छा जागृत हो जाती है तो संकल्प का विकास करना चाहिये। जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामी का अनुसरण करता है, संकल्प भी उसी प्रकार इच्छा का अनुसरण किया करता है। अनुभव करो, जैसे तुमने साहस का उपार्जन कर ही लिया है। अपनी पूर्ण शक्ति को केन्द्रित कर मन-ही-मन सोचो, 'मुझे साहस की प्राप्ति हो रही है।' बार-बार यही अनुभव करते रहो; जब-जब साहस-रूप सद्गुण का ध्यान या विचार करते हो, तब-तब यह निश्चय कर लो कि प्रतिक्षण साहस की मात्रा अधिक होती जा रही है। अपनी कल्पना-शक्ति से भी काम लो। कल्पना करो कि तुम्हें इस सद्गुण की प्राप्ति हो गई है और तुम इसे अपने दैनिक जीवन में अमुक-अमुक तरीकों से व्यवहृत करने जा रहे हो। तुम किस प्रकार अपने दैनिक जीवन में साहस का उपयोग करोगे, उसकी मानसिक कल्पना करो। बार-बार सोचते रहो कि साहस से किन-किन महान् गुणों की प्राप्ति होती है, व्यक्तिगत जीवन में क्या-क्या लाभ होते हैं। अभ्यास में लगे रहो। धीरे-धीरे यह सद्गुण विकसित होता जायगा। शान्ति से विकास की प्रतीक्षा करते रहो। हताश नहीं होना चाहिये। किसी भी सद्गुण का उपार्जन करने के लिये कुछ-न-कुछ समय अवश्य लग जाता है। व्यक्ति में कायरता तथा भय आदि संस्कारों का पुराना समुदाय प्रबलता से विरोध करता रहता है, उसके निवारण में कुछ-न-कुछ देर तो लग ही जायगी। अन्दर-ही-अन्दर पुराने क्षुद्र तथा नए महान् संस्कारों के बीच सतत युद्ध हो रहा है। यदि सतत आक्रमण का विरोध डट कर करते रहोगे तो अन्त में नए संस्कारों के हाथ मैदान लगेगा। सत् से असत् पर विजय पाई

जाती है। अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लो कि तुम्हें शीघ्र ही साहस की प्राप्ति हो जायगी। इस ओर अपना पूरा-पूरा ध्यान दो। कुछ ही काल में तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी। इसी प्रकार तुम अन्य गुण या चरित्र-विशेष का निर्माण कर सकते हो। अभिप्राय यह कि तुम जिस गुण का विकास करना चाहते हो, उसका मानसिक चित्र अपने मन में स्पष्ट उतार लो और तब उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करो। इसी मानसिक चित्र के चारों ओर ही शक्ति का केन्द्रीयकरण होगा।

चरित्र-निर्माण का मतलब होता है, आदतों का निर्माण। चरित्र को बदलने से आदत भी बदल जाती है। आदत तो गौण है। चरित्र प्रमुख है। चरित्र प्रमुख स्वभाव ही नहीं, चरित्र ही स्वभाव है। संकल्प, रुचि, ध्यान और श्रद्धा के द्वारा स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है, चरित्र का निर्माण किया जा सकता है; नवीन, स्वस्थ, बलशाली, और सद्धर्मपूर्ण आदतें पुरानी, अस्वस्थ, अपवित्र, निर्बल और अधर्मपूर्ण आदतों को स्थान्तरित कर देती हैं। योग के अभ्यास का लक्ष्य यही है कि मनुष्य अपनी पुरानी क्षुद्र आदतों को त्याग कर नवीन सुन्दर आदतों को ग्रहण कर ले। त्याग की भावना से किया गया कर्मयोग का अभ्यास भी मन में सुन्दर आदतों का प्रतिष्ठापन करता है। भक्ति, उपासना और विचार के अभ्यास से भी पुरानी आदतों को हटाया जा सकता है, पुरानी आदतें छूट जाती हैं।

यदि तुम्हें चरित्र-निर्माण में कठिनाई मालूम होती है तो सन्तों और महात्माओं के सम्पर्क में रहो। महात्माओं के सम्पर्क में रहने से उनकी आध्यात्मिक विचार-धारा तुम्हारे जीवन में

अद्भुत परिवर्तन का श्रीगणेश करेगी। यह कभी न कहो कि— 'आज कल अच्छे महात्मा कहीं भी देखने को मिलते नहीं।' यह तुम्हारी गलती का ही द्योतक है। मेरी बात श्रद्धा और रुचि के साथ सुनो। मैं आज भी तुम्हें अनेकों सन्त-महात्माओं के दर्शन करा सकता हूँ। किन्तु तुम पहले नम्र और सत्य-परायण बन जाओ।

अपने चरित्र का निर्माण करो। चरित्र-निर्माण से ही जीवन में सच्ची सफलता मिल सकती है। सन्तत्व का विभूषण है, चरित्र-निर्माण। प्रतिदिन अपनी बुरी आदतों के हटाने का यत्न करते रहो। प्रतिदिन सत्कर्म करने का अभ्यास करो। यदि तुमने अपने चरित्र को बना लिया तो फिर कहना ही क्या, तुमने जो कुछ पाना था, (इस जीवन में) सो पा लिया। सच्चरित्रता मनुष्य-जीवन में प्राणमय-जीवन है; उसके विना मनुष्य मृतक के समान है।

व्यक्ति, समाज और सदाचार

आज मानव-जीवन इतना अस्त-व्यस्त हो गया है कि सदा-चार की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। लोक-कल्याण तथा विश्व-शान्ति के लिए अनेकानेक लौकिक प्रस्ताव किए जाते हैं, परन्तु वे निरर्थक ही सिद्ध हो रहे हैं। इसका कारण यही है कि मनुष्य-समाज अपने जीवन के सत्यात्मक पक्ष को देख नहीं पाया है। मरु-मरीचिका को जलाशय जान कर वह व्यर्थ कुलाँचें भर रहा है। इसलिये हम नित्य-प्रति सुनते हैं कि विश्व में विनाश और मृत्यु, पाप और दुराचार, असभ्यता तथा नार-कीयता का प्राबल्य है। यदि हम कुछ देर तक ध्यानपूर्वक मनन

करें तो इसी निष्कर्ष पर जा पायेंगे कि मानव धर्म के सदाचार-रूप व्यावहारिक कर्म का विस्मरण ही समस्त मानव समाज की अशान्ति का मूल कारण है। हमारा अधोगतिमान् दृष्टि-कोण ही हमारे विश्व में अन्याय का साम्राज्य पसारे है। हमारी नैतिक दुर्बलतायें हमारे भौतिक दुःख और क्लेश को जन्म देती हैं। शास्त्र-निषिद्ध कर्मानुसरण कर, निज-निज धर्मानुसार कर्त्तव्यों को त्यागते हुए ही हमारा लौकिक आचार अपने सत्य-युगी अधिष्ठान से नीचे की ओर पतित किया गया है। यदि समाज अथवा राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति किसी भी कार्य को करने के पूर्व ही यह विचार करे कि तत्विचारित कार्य सदाचार-प्रभव धर्म की उपक्रमणिका में आता है कि नहीं, तो वह निश्चय ही अपने जीवन को सफल और कल्याणमय और विमल तथा पवित्र बना सकेगा। यदि परधन-लोलुप-व्यक्ति यह सोचे कि वह उचित कार्य नहीं कर रहा है, यदि मद्य पीने वाला यह सोचे कि मद्यपान तद्विचारित दृष्टचा अनुचित है, यदि हिंसातुर व्यक्ति यह सोचे कि हिंसा सदाचार नहीं—किन्तु महापाप है, तो वह अपने को इन दुष्कर्मों से विरत रखने की चेष्टा अवश्य करेगा। परिणाम यही होगा कि हमारे संसार में नित्यप्रति जो अमानुषिक कर्म होते रहते हैं, वे नहीं होवेंगे, किसी का पुत्र कुचरित्र नहीं होवेगा, किसी का सतीत्व-हरण नहीं होवेगा, किसी के प्राणों का हनन भी नहीं होगा, सभी मिलनसार, एक सिद्धान्ती, दयानुरक्त, मैत्रीयुक्त, परोपकारी, त्यागी और निःस्वार्थ हो कर सर्वतोमुखी शान्ति के लक्षणों का श्रीगणेश कर पायेंगे।

तब सदाचार की मीमांसा क्या है? क्या वह मनुष्य की विचारधाराओं पर अवलम्बित है या वाणी-विलास ही इसकी

सीमा है ? अथवा सदाचार केवलमात्र लौकिक मानव-समाज का सुधारमात्र है ? सदाचार, यदि इसे अपने भारतीय तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो, मनुष्य के जीवन में उन आध्यात्मिक व्यवहारों का मौलिक स्वरूप है, जिससे विश्वधर्म और लोक-धर्म की मर्यादा का प्रतिष्ठापन होता है। यह समझना हमारी भूल होगी कि सदाचार मनुष्य के किसी ऐसे समय की विचार-शृङ्खला है, अथवा वाणी-कौतुक है, जब कि मानव-क्षेत्र परिमित विज्ञान होने के कारण आदर्श-वाद की तरफ जा रहा था, जब कि उसका सामाजिक-भूगोल तथा राजनीतिक प्रश्न कुछ ही परिवारों में सीमित था— क्योंकि सदाचार, तथागत शास्त्रों के अनुसार, जिनका क्षेत्र आज से भी विशालतर जान पड़ता है, मनुष्य के मन, कर्म और वचन की पवित्र-धारा का वह सुन्दर समन्वय है, जहाँ पर मनुष्य मनुष्य के सम्बन्ध को उचित रीति से जानता है और उस सम्बन्ध का नियमानुकूल अनुपालन भी करता है तथा तद्फलतः वह दूसरे के विनाश का विचार नहीं करेगा, उसके प्रति कटु शब्दों का प्रयोग भी नहीं करेगा और तद्नि-षिद्ध दुष्कर्म करने को उद्यत भी नहीं होगा। अतः यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि सदाचार सत्य-आचरण है, जो आचरण दूसरों के द्वारा अभिप्रशंसनीय हों, जो आचरण दूसरों के मनोविज्ञान की कसौटी पर ठीक उसी तरह खरे उतरें जैसे उनका स्वरूप है। सदाचार तो मनो-विज्ञान, व्यवहार तथा आध्यात्मिक कर्मों का केन्द्रीयकरण है, जिनका प्रभाव मनुष्य के आजीवनोपान्त कर्मों में शत-प्रतिशत के अनुपात से क्रियात्मक होता रहता है।

हम नित्यप्रति धर्मग्रन्थ (शास्त्र) अध्ययन करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि सदाचार का स्वरूप आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों है और पुराणों में इसे लोकधर्म का सजीव रूप दिया गया है। परन्तु जो कुछ भी हो, हम अपने शास्त्रों से यही जान पाए हैं कि सदाचार का सूत्रपात हमारे जीवन के ईश्वरीयकरण से है—जिसका परिणाम निश्चयतः ऐसा ही होना चाहिए। यदि वटवृक्षारोपण किया जाय तो छाया भी तो मिलेगी ही, तदनुसार यदि जीवन में ईश्वरीय जीवन की स्फूर्ति सञ्चरित कर दी जाय तो कालान्तर में इसका विकास भी ईश्वरीय हो होगा। अतः हम इस परिणाम पर आते हैं कि सदाचार का श्रीगणेश मनुष्य की आध्यात्मिकता के जागरण से होता है। जव अनुभूति का अध्यात्मकरण हुआ तो सदाचार का सूर्योदय हो जाता है।

इस प्रकार सदाचार के साधारणतः तीन गम्भीर स्वरूप होते हैं, जो हमारे जीवन के सभी कर्मों और सभी विचारों और सभी अनुभूतियों को अनुस्यूत किये हुए हैं।

सदाचार का प्रथम सत्य आध्यात्मिक जीवन है, जो सर्व प्रधान तथा सर्व व्याप्त माना जाता है, जैसे जल की अतिव्याप्ति जल के समस्त विकारों और विकल्पों में भी मानी जाती है। दैवी-सम्पत् सम्पन्न होना इस जीवन का उपादान कारण है। श्रीमद्भगवद्गीता और मनुस्मृति के सिद्धान्तों में यही प्रतिध्वनि है कि प्रत्येक मनुष्य को सर्व प्रथम अपने आध्यात्मिक क्षेत्र में सद्गुणों की अनुभूति का विकास करना चाहिए। अपनी-अपनी अनुभूतियों को सर्वथा सद्गुणों का स्वरूप दे कर आप निश्चयतः उसी का अभिव्याख्यान करेंगे

तथा व्यवहार भी कर सकेंगे। जैसी अनुभूति होती है, वैसा ही व्यवहार भी—यह विद्वानों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है और यही हमारी भारतीय सदाचार-प्रणाली है, जो पाश्चात्य सदाचार-विज्ञान के विकासमान् दृष्टिकोणतया महत्तम है। आप लोगों ने सुना तो होगा, जैसी गति वैसी मति : यही है जग की रीति। इससे स्पष्ट यही अभिव्यक्त हो रहा है कि हमारी अनुभूतियाँ ही हमारे विचार का, तदनुसार व्यवहार का निर्णय कर पाएंगी। यदि हमारी अनुभूति में सर्वात्मभाव तथा एकात्मक सत्य का अनुभव होगा तो हम अनेकों को सत्य, अहिंसा, आत्मसंयम, निरहङ्कारिता तथा अन्यान्य शास्त्रोक्त गुणों के लिए सचेष्ट कर सकेंगे, जिसकी प्रतिच्छाया हमारे व्यावहारिक स्तर पर अवश्य पड़ेगी ही।

अपनी आध्यात्मिक प्रकृति को अरागद्वेषादि सद्गुणों से अलंकृत करने के उपरान्त ही हम अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार में शान्ति और कल्याण और सर्वभूतहित की रूप-रेखा का अवतरण कर सकते हैं। अतः सदाचार का सर्वप्रथम दृष्टिकोण आध्यात्मिकता या ईश्वरीय जीवन है, जहाँ मनुष्य पारस्परिक भेद-भाव से परे, विश्व को केवल एक परिवार ही नहीं—अपितु अपना स्वरूप भी जानता है और यह अनुभव करता है कि समस्त विश्व निःसन्देह उसका ही जल, विन्दु, तरङ्ग, सागर तथा वाष्पवत् विकास है और वह सर्वकर्म-अध्यक्ष, सभी जीवों में अधिवास करने वाला तथा सब का आत्मा है। वह किसी का अहित नहीं चाहता। वह किसी के प्रति अन्य तथा इतर भाव से अभिव्यक्ति नहीं करता। वह परवित्तहरण ही क्यों करेगा, जब कि वह "ईशावास्यमिदं सर्वम्' को अपने सदाचार का सर्वप्रधानदृष्टिकोण स्थिर किए

हुए हैं। हमारे प्राचीन वैदिककालीन वीतराग, तपस्वी, ऋषि-महर्षिगण इसके युगस्मरणीय आदर्श थे।

ऐसा मनुष्य या समाज या राष्ट्र अपने प्रतिवासी के दुःखों में दुःखित होगा ही, क्योंकि वही तो सब में है। अतः वह अपने प्रतिवासी आत्मा के यत्किञ्चित् दुःखों के समूल निवारण के लिये प्रयत्न करता रहेगा। स्वभावतः ही दया, मैत्री, करुणा, उपकार तथा अन्य मानसिक सदाचार-सम्बन्धी सद्गुणों का आविर्भाव उसमें होगा। यदि किसी समाज के ऊपर आर्थिक सङ्कट आ गया हो तो तत्कथित सदाचारशील व्यक्ति ही उस सङ्कट-निवारण के उपायों के लिये कटिबद्ध हो जाता है। वह नवीनतर और नवीनतम प्रयोगों द्वारा अपने-पराये के हित और कल्याण और शान्ति की विधि के अनुसन्धान में तत्पर हो जाता है। यह सदाचार का मानसिक स्वरूप है, जिसे मनोविज्ञान-सदाचार भी कहते हैं। महात्मा बुद्ध इस कोटि के आदर्श थे।

सदाचार का तीसरा स्वरूप व्यावहारिक है। इससे यह अर्थ नहीं कि वह स्वतन्त्र अङ्ग है। व्यावहारिक तथा मौलिक सदाचार सर्वदा आध्यात्मिक अनुभूति तथा मनोवैज्ञानिक आधारों पर ही प्रतिष्ठित रहा है। इसका कारण स्पष्ट है कि जब तक आप अपने जीवन के अनुभवों और विचारों को सत्य के पवित्र मन्त्र में दीक्षित नहीं कर लेंगे, तब तक कैसे सम्भव है कि आप सदाचारपरायण हों। आपका आचार आपके विचारों का द्योतक है अर्थात् प्रतिबिम्ब है। तात्पर्य कि आपके विचारों के अनुसार ही आपकी क्रिया-शक्ति सुकर्म तथा दुष्कर्म का निर्णय करेगी। यदि आप मुझे किसी प्रकार का भीषण कष्ट देना

चाहते हैं और यह निश्चय करते हैं कि किसी निकट भविष्य में उचित अवसर पा कर, आप मेरा तिरस्कार करेंगे या मुझे निश्चित कष्ट देंगे तो क्या आप व्यवहार करते समय तद्विचारित निश्चय का पालन करने को विवश नहीं होंगे ? इसी प्रकार आप यदि किसी अनाथ बालक के दुःखों की अनुभूति कर, उसके दुःख-निवारण के लिए विचार कर, उसके जीवन की आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था करने को सन्नध होते हैं तो संसार में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं, जो आपके इन आदर्श विचारों को पलट दे। मैंने कुछ लोगों को कहते सुना है—क्या करें, मन में उसकी दशा पर तरस आता है। परन्तु कभी-कभी उसकी बातें सहन नहीं हो सकतीं। जो लोग इस प्रकार के विजातीय सिद्धान्तों को जन्म देते हैं, वे सदाचार के आध्यात्मिक तथा मानसिक स्वरूपों में स्थिर नहीं हो पाए हैं और उनके उपरोक्त कथन से हमें यही समझना चाहिए कि उन्होंने सत्यतः अपने मन के अन्दर भी उसी प्रकार का निश्चय किया है, जो बाहर प्रकट हुआ है।

ऐसा व्यक्ति, जिसने तद्वर्णित तीसरे अङ्ग का सद्-अनुशीलन कर पाया है, वह आध्यात्मिक तथा मानसिक सदाचार का व्यावहारिक आदर्श होना चाहिये। महात्मा गांधी जी को यदि हम इस समन्वय का व्यावहारिक आदर्श मानें तो सर्वथा उचित ही होगा।

अतः पाठक समझ गए होंगे कि सदाचार मनुष्य-जीवन का एक विशिष्ट विज्ञान है, जिसका यहाँ पर दिग्दर्शन कराया गया है और जिसका विशद व्याख्यान हमारे धर्म-ग्रन्थों में किया गया है। सदाचार जितना व्यावहारिक दीखता है, उतना ही—

किसी अवस्था में उससे भी अधिक मात्रा में—आध्यात्मिक है। सदाचार का अर्थ केवल समाज-सुधार विषयक आचरण ही नही है। समाज तो इस विराट् सदाचारवाद का रोममात्र है। समाज से ही सदाचार की पूर्ति नहीं हो सकती। ईश्वर पर ही विश्वास कर, उसको ही एकमात्र उपास्य जानना तथा उसी को सर्वभूतमय देखना ही सदाचार की भूमिका है। जप, कीर्तन, सत्सङ्ग, योगाभ्यास, आत्म-विचार, सच्छास्त्र-मनन, यम-नियमादि का सम्पालन सदाचार का प्रथम सोपान है और मैत्री, करुणा, परोपकार, दयाभाव, आत्मत्याग, निःस्वार्थ-व्यक्तित्व, सेवा तथान्य सद्गुण सदाचार के प्रथम सोपान को पार करते हुए, स्वतः ही आपके जीवन में ओतप्रोत हो जाते हैं, आपको विशेष परिश्रम करना नहीं पड़ता। यदि आधार दृढ़ हो गया तो आप विशालतर से विशालतम भवन का भी निर्माण आसानी से कर सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर-चिन्तन के लिए जपादि नित्य-धर्मों का अक्षरशः पालन करते हुए आप अपने जीवन के सभी कार्यों को यथायोग्य नित्य करते रहें और किसी को दुःख और क्लेश न दें तो आप सहसा ही एक दिन अनुभव करेंगे कि सदाचार आपके जीवन का अभिन्न अङ्ग हो गया है और आपके आचरण की व्याप्ति हो गया है, जिसके अतिरिक्त आप अन्य किसी प्रकार के भौतिक आचरण को श्रेय नहीं समझते। जिस तरह फिटकरी धीरे-धीरे आश्चर्यपूर्ण आचरण से जल में मिल जाती है, उसी प्रकार आपका जीवन भी जप और कीर्तन और ईश्वर-प्रेम में लीन हो धीरे-धीरे आश्चर्यपूर्ण आचरण द्वारा समाधिस्थ होता जायगा और आप काम करते हुए, तथान्य संसार के प्रापञ्चिक कार्यों को करते हुए भी अपने सदाचरण से दिव्य शान्ति पावेंगे। परन्तु ईश्वर-

भावना का परित्याग कर यदि केवलमात्र लौकिक कर्त्तव्य-पालन करोगे तो वह सीमित और अस्थायी ही रह जायगा, और आप उससे शक्ति सञ्चारित कर ही नहीं पावेंगे। कभी-कभी तो आप उकता कर अपनी सदाचरण की वृत्ति को तिलाञ्जलि भी दे देंगे। यह कोई असम्भव नहीं, कई उदाहरण आपको मिलते रहते हैं। परन्तु यदि आपने भगवद्-प्रेम, नाम-स्मरण तथान्य शास्त्रोक्त नित्य-विधियों को अपने जीवन-क्षेत्र के अनुसार सम्पालित किया तो आप सच्चे सदाचार की आधार-शिला की प्रतिष्ठा कर पायेंगे, जिस पर जनकल्याण का विशाल प्रासाद बनाया जा सकेगा, प्रत्येक व्यक्ति सुदृढ़ ईंट होगा, एकता तथा समभाव जिसे सम्पालित कर पायेंगे, सत्य, प्रेम तथा आनन्द जिसकी महामहनीय शोभा होंगे। क्या तब भी विश्व-शान्ति एक समस्या बनी रहेगी?

व्यवहारकुशलता या हिल-मिल कर रहना

यह एक महान् गुण है। इसे 'जीवन-की-कला' का नाम दिया जाय तो अनुचित न होगा। व्यक्ति जिस समाज में रहे और जिस अवस्था में रहने को बाध्य होवे, वहीं अनेकों बाधाओं के बावजूद भी निर्भीक और सफल बन कर रहे। क्या हुआ, यदि तुम्हें अनुकूल परिस्थितियों में रह कर सफलता मिली? विकट परिस्थितियों में रहते हुए भी प्रत्येक व्यवहार को उचित रीति से करना व्यवहारकुशलता है। व्यवहारकुशल व्यक्ति अपने को दूसरे व्यक्तियों के साथ हिला-मिला लेता है, चाहे उन लोगों की आदतें कैसी ही दुर्ज्ञेय क्यों न हों। जीवन में सफलता पाने के लिये अनुकूल व्यवहारपटुता अनिवार्य गुण है। आज अधिकांश लोग दूसरों के साथ हिल-मिल कर रहना नहीं

जानते। हिल-मिल कर रहने की कला दूसरों के दिलों पर अपना अमिट प्रभाव अङ्कित कर देती है। हिल-मिल कर रहने वाला व्यक्ति समय पाने पर थोड़ा झुक कर चलता है, थोड़ा नम्र बन जाता है, थोड़ा मृदुभाषी बन जाता है और इस प्रकार जीवन-संग्राम में निश्चित विजय को प्राप्त कर लेता है।

पत्नी पति से हिल-मिल कर रहना नहीं जानती; अतः सदा पति को नाराज बनाये रहती है, घर में कलह का बीज बोती है और भेद-भाव की स्थापना करती है।

कार्यालय का कर्मचारी अपने कार्याध्यक्ष के अनुकूल व्यवहार करना नहीं जानता, अतः झगड़े में पड़ कर नौकरी से हाथ धो बैठता है।

शिष्य अपने गुरु के अनुकूल व्यवहार नहीं कर पाता, अतः दुर्व्यवहार कर गुरुस्थान छोड़ देता है।

इसी प्रकार व्यवसायी व्यवहारपटुता के अभाव में अपने ग्राहकों को नाराज कर देता है और अपने व्यवसाय को ही हानि पहुँचाता है। राज्य का दीवान महाराजा के अनुकूल व्यवहार न कर राज्य की नौकरी त्याग देता है। सारा मानव-समुदाय हिल-मिल कर रहने की कला में अपटु होने से दुःख पा रहा है।

सारा संसार केवल हिल-मिल कर ही चल रहा है; 'परस्परं भावयन्तः' के सिद्धान्त के अनुसार ही चल रहा है। इसलिए जो व्यक्ति हिल-मिल कर रहना जानता है, मौका देख कर अनुकूल व्यवहार भी करना जानता है, वह इस संसार में आनन्द

से जीवन बिता सकता है और किसी भी सङ्कटापन्न अवस्था में खेलते-खेलते जीवन को आनन्दमय बनाये रखता है।

इस कला को समुन्नत करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में कोमलता का आना अनिवार्य है। जिस तरह रबर लचीला होता है, उसी तरह व्यक्ति का स्वभाव भी लचीला होना चाहिए, ताकि जैसे चाहें उसे मोड़ लिया जा सके। व्यवहारपटुत्व के लिये अधिक ज्ञान का सम्पादन करना भी आवश्यक नहीं है। यदि कार्यालय का कर्मचारी अपने अध्यक्ष की मनोवृत्ति का अध्ययन कर, तदनुकूल व्यवहार कर पाता है तो अध्यक्ष की उसके प्रति सहानुभूति रहती है। इसके लिए तुम्हें उचित शब्दों का चुनाव करना होगा। उचित शब्दों के द्वारा कर्मचारी अपने अध्यक्ष के हृदय में प्रविष्ट हो सकता है। बस यही जरूरी है कि कर्मचारी किसी प्रकार अपने अध्यक्ष के हृदय को प्रसन्न कर लेवे। धीरे बोल कर, मृदु भाषण का उपयोग कर, अध्यक्ष की मनोनीत आज्ञा का पालन कर, उसकी बातों की उपेक्षा या विरोध न कर वह अपने स्वामी को प्रसन्न कर सकता है। यह कठिन अभ्यास नहीं है; हाँ, इतना जरूर है कि कर्मचारी को अपने स्वभाव में पूर्वोक्त लचक लानी होगी। अरे भाई, इतना तो तुम्हें मालूम ही है कि यह संसार 'हाँजी-हाँजी' और 'जी हजूर' से प्रसन्न रहता है और प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि दूसरा उसका आदर करता रहे। हर बात में 'आपका कथन ठीक है, आपकी बातें पते की हैं,' इन वचनों का उपयोग करने से यह संसार अपने वश में किया जा सकता है। ऐसा करने में अपनी कौड़ी भी नहीं व्यय होती और न कुछ नुकसान ही होता है। बल्कि ऐसा करने से आपका अध्यक्ष, आपका पति, आपकी पत्नी, आपका ग्राहक और आपके मित्र

आपके दास से बन जाते हैं। उनके दिलों में आपके प्रति एक हार्दिक भावना बनी रहती है। आप उनके अपने हो सकते हो। आपके लिए वे सब कुछ करने के लिए तैयार हो जाते हैं। यदि आपसे कुछ गलती भी हो जाय तो वह उसकी परवाह नहीं करते। अतः हिल-मिल कर रहने के लिए नम्रता और आज्ञाकारिता आवश्यक गुण हैं। अहङ्कार और गर्व से उन्मत्त व्यक्ति हिल-मिल कर रह ही कैसे सकता है? फल यह होता है कि वह अपने को सदा सङ्कट से घिरा हुआ पाता है। प्रत्येक कार्य में उसे असफलता ही मिलती है। व्यवहारपटुत्व के मार्ग में अहङ्कार और गर्व दो महान् शत्रु हैं।

एक ही कमरे में रहने वाले विद्यार्थी एक-दूसरे से हिल-मिल कर रहना नहीं जानने से आपस में कलह का सूत्रपात करते हैं; फल यह होता है कि मित्रता विच्छिन्न हो जाती है। यदि हिल-मिल कर रहा जाय तो मित्रता को लम्बे समय तक के लिए निभाया जा सकता है। थोड़ी-थोड़ी सी बात पर झगड़ पड़ना व्यवहारपटु व्यक्ति के लक्षण नहीं हैं। एक विद्यार्थी कहेगा—"मैंने अपने मित्र सोहन को कितनी ही बार चाय पिलाई और कितनी ही बार मैं उसे सिनेमा में ले गया और आज जब मैं उससे प्रेमचन्द का 'गोदान' माँग रहा हूँ तो वह ठेठ इनकार कर रहा है। ऐसे दोस्त से मेरा क्या काम? मुझे उसकी मित्रता पसन्द नहीं है।" इस प्रकार उन दोनों की दीर्घकालीन मित्रता विच्छिन्न हो जाती है। देखिए न, छोटी सी बात, उस पर दो मित्रों में पारस्परिक सम्बन्ध-विच्छेद। क्या ऐसा होना अच्छा है?

यहाँ पर अवश्य याद रखना चाहिए कि हिल-मिल कर रहने और दूसरे की इच्छा के अनुकूल अपने स्वभाव को लचक-

दार बना लेने से न तो आपसी कलह का सूत्रपात हो सकेगा और न किसी प्रकार का विच्छेद ही, बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति एक दूसरे के प्रेम-पाश में बँध जाएंगे। व्यवहारपटु व्यक्ति संसार में कहीं भी जाय, कैसी ही प्रतिकूल और बुरी परिस्थितियों के बीच में रहे, सदा आनन्दपूर्वक जीवन यापन कर सकता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति सबका हृदय प्रेम से भर उठता है। दूसरे के प्रेम की बात छोड़िए, अपना जीवन ही शक्ति और अनहत आनन्द से परिपूरित हो उठता है। व्यवहार-कुशलता संकल्प-विकास की जननी है।

इतना जरूर है कि व्यवहारकुशल व्यक्ति को कुछ न कुछ त्याग अवश्य करना पड़ता है। व्यवहारकुशल व्यक्ति में सेवा की भावना तीव्र हो जाती है। इससे उसकी स्वार्थपरता का अन्त हो जाता है; क्योंकि स्वार्थहीन व्यक्ति अपनी चीजें दूसरों में बाँट कर ही आनन्दित होता है। यहाँ पर त्याग की परिभाषा चरितार्थ होती है। साथ-साथ कुशल व्यक्ति को निन्दा, अपमान और कटु शब्द सुनकर भी शान्त रहना पड़ता है; क्योंकि व्यवहार-पटुता में यह अनिवार्य नियम है। इस प्रकार वह जीवन की एकता में विराजता है। लोक-कार्य के लिए ही इसका मूल्य नहीं, वेदान्तिक साधना में भी यह अनिवार्य गुण है। वेदान्त-मार्गी साधक जब इस गुण का अभ्यास करता है तो अहंभावना और घृणा से विमुक्त हो जाता है। सबके साथ हिल-मिल कर रहने से भेद-भाव की इतिश्री हो जाती है। सबको अपने अङ्क में लगाने से विश्वबन्धुत्व की भावना का श्रीगणेश होता है, घृणा और द्वेष का अन्त होता है।

व्यवहारकुशल व्यक्ति को अपने मित्रों की कटु-उक्तियाँ शान्तिपूर्वक सुननी चाहिए, उसमें धैर्य और सहनशीलता का गुण चरम कोटि का होना चाहिए। जब वह हिल-मिल कर रहने का अभ्यास करता है तो यह गुण स्वतः ही उसमें विकसित हो उठते हैं। वह वातावरण के विषय में शिकायतें नहीं करता। पर्णकुटी में कहिए, वहाँ रहेगा; शीतपूर्ण स्थानों में कहिए, वहाँ रहेगा। वाराणसी या अफ्रीका की गरमी में कहिए, वहाँ रहेगा। उसके मन को कष्ट पहुँचाइये, शान्तिपूर्वक सहन कर लेगा; उसकी निन्दा कीजिये, प्रसन्न ही बना रहेगा। अन्त में व्यवहारपटुता आत्म-ज्ञान में परिणत हो जाती है। ऐसा व्यक्ति तीनों लोकों का आभूषण बन जाता है। ऐसा ही व्यक्ति प्रसन्नता और सफलता का भागी बनता है।

अहिंसा—सर्वभूतदया

मन, कर्म और वचनों से किसी के प्राणों की हानि न करना अहिंसा है। पतञ्जलि महर्षि के 'योग-दर्शन' के अनुसार यह प्रमुख साधना है। 'अष्टाङ्ग-योग' के अन्तर्गत यम की साधना में सर्वप्रथम अहिंसा का अभ्यास करना पड़ता है, तब जा कर सत्य और ब्रह्मचर्य का। महर्षि का कहना है कि यदि अहिंसा का परिपालन कर लिया गया तो सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि सद्गुण अपने आप व्यक्ति में अवतरित और विकसित हो जाते हैं।

इस सद्गुण के परिपालन के लिये सर्वप्रथम अपने अहङ्कार का दमन करना होगा। अपनत्व को पराभूत करना होगा। जिस प्रकार पत्थर की चट्टान, कितनी ही बड़ी क्यों न हो, किसी को

अनजाने में भी हानि पहुँचाने की क्षमता नहीं रखती, उसी प्रकार अहिंसा के अभ्यासी को भी हानि पहुँचाने के अयोग्य बन जाना होगा। अपनी उत्तेजना और भावुकता (भावनातिरेक) को नियन्त्रित रखना होगा। मनुष्य के विष की क्या पूछते हो, काले विषधर सर्प से भी अधिक विष है उसका। उसकी जीभ (हरे राम!) तलवार से भी तेज और तीक्ष्ण है। दूसरे के दिलों में छेद करना तो मानो उसका जन्मजात गुण है। इसी में उसे आनन्द और शान्ति का अनुभव होता है।

जो व्यक्ति अहिंसा का पालन करता है, उसको शक्तिपूर्ण-सङ्कल्प-सम्पन्न व्यक्ति समझा जाना चाहिए। उसकी सङ्कल्प-शक्ति का आधार सुदृढ़ हुआ करता है। यहाँ तक कि उसके शत्रु भी उसके सामने मित्र बन जाते हैं। विषधर सर्प और मेढक, गाय और व्याघ्र, नेवला और सर्प, बिल्ली और चूहा, भेड़िया और मेमना केवल ऐसे व्यक्ति के सन्निधान में ही परस्पर मित्र के समान जीवन व्यतीत कर सकते हैं। **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'**। अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाने पर साधक के सन्निधान में वैर-भावना अन्तर्लीन अथवा लुप्त हो जाती हैं। यह है अहिंसा की शक्ति का माहात्म्य।

अहिंसा की एक चरम सीमा होती है, जहाँ पर पहुँचना असम्भव है। जब मार्ग पर चलते हो तो अनेकों जन्तु पाँव के तले कुचले जाते हैं। साँस लेते समय कई वायु-जन्तु अन्दर जा कर मर जाते हैं। इसके लिए शास्त्रों में **'पञ्चमहायज्ञ'** का प्रायश्चित्तात्मक विधान निर्देशित किया गया है। पीसने की कल में जो जन्तु-संहार हो जाता है, आग जलाने से जो जीव-हत्या हो जाती है और झाड़ू देते समय जो प्राणी-नाश

होता है; पानी पीते समय जो प्राणान्त होता है, उसके लिए 'पञ्चमहायज्ञ' का विधान है। इससे अनजाने में हुई हिंसा का प्रायश्चित्त किया जाता है।

अहिंसा परमो धर्मः। सबसे महान् धर्म (कर्त्तव्य) है अहिंसा। संन्यासी को चाहिये कि वह आक्रामक का प्रतिरोध न करे। रक्षात्मक दृष्टिकोण से भी शस्त्र ग्रहण करना संन्यासी के लिये वर्जित है। 'मैं यह शरीर नहीं, आत्मा हूँ, अविनाशी आत्मा हूँ—' कहने वाला संन्यासी यदि अपनी रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण करने लगे तो उसके सिद्धान्त की सत्यता ही कहाँ रही ?

साधारण श्रेणी का संसारी अपनी रक्षा के लिए शस्त्र का आश्रय ले सकता है। पर जो अहिंसा व्रत को स्वीकार कर चुका है, वह संसारी भी संन्यासी के समान ही व्यवहार करे। बहुत कम लोगों को मालूम है कि अहिंसा में एक ऐसी शक्ति है जो उसके उपासक की सदा रक्षा किया करती है। अहिंसा के उपासक की रक्षा परमात्मा का अदृष्ट हाथ किया करता है, पुराणों में अनेकों उद्धरण आते हैं। सच्चे उपासक को पिस्तौल और बम भी हानि नहीं पहुँचा सकते। केवल शङ्कापूर्ण उपासक ही खतरे में रहता है।

मान लो तुम्हें कोई मार रहा है तो तुम क्या करोगे ? मैं कहता हूँ कि अपनी प्रतिहिंसक और प्रतिरोधी भावनाओं को काबू में कर भलेमानस की तरह शान्त रहो। कब तक मारेगा वह ? जब तक आप उसकी मार का प्रतिरोध करेंगे। यदि आप शान्त और निर्विकार रहे तो वह स्वयं ही चुप हो जायगा,

पश्चात्ताप और ग्लानि से भर उठेगा। ईसामसीह भी यही कहा करते थे—'एक गाल पर चाँटा लगावे तो दूसरा गाल भी उसे दिखला दो। जो तुम्हारा कोट लिए जाता है, उसे अपनी कमीज़ भी उतार कर दे दो।' यह मानता हूँ कि आरम्भ में ऐसा करना शायद बहुत ही कठिन और लज्जास्पद प्रतीत होगा। पुराने संस्कार अपने अन्दर हैं कि 'लाठी का बदला तलवार से और ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहिए।' यह पुराने उपार्जित संस्कार तुम्हें आरम्भ में उपरोक्त अभ्यास नहीं करने देंगे। किन्तु अपनी जगह नहीं छोड़नी चाहिए। आज नहीं तो कल अङ्गद की पिण्डलियों से तुम्हारे पैरों का निर्माण होगा और तुम अहिंसा के प्रयोग में सफल उतर सकोगे।

विचार करो। ध्यान द्वारा शक्ति का सञ्चय भी। मन को शान्त करने का प्रयोग करना चाहिए। शान्त-मनस्वी व्यक्ति का विरोधी भी चुप हो जायगा, क्योंकि वह अपने प्रतिपक्षी से प्रतिरोध नहीं पा रहा है। जब तुम सन्त के समान शान्त रहते हो तो वह आश्चर्यचकित, मन्त्रमुग्ध और भयभीत भी हो जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे तुम्हारे अन्दर शक्ति का सञ्चार होगा। इस ध्येय को कभी नहीं भूलना चाहिए। यद्यपि तुम्हें ठोकर लगे, यद्यपि रास्ते में मुँह की खानी पड़े, तथापि बार-बार सभल कर लड़खड़ाते पैरों पर चलना आरम्भ रखो। हताश न बनो। अहिंसा की मानसिक मूर्ति सदा मन में रख कर उसके लाभों का विचार करते रहो।

प्राचीन काल के सन्तों के कार्यों का स्मरण करो। 'गीत-गोविन्द' के कवि जयदेव ने अपने हाथ काटने वाले शत्रुओं को बहुमूल्य धन और उपहार दिए, साथ-साथ उनकी मुक्ति के

लिए भगवान् से याचना भी की। सन्त-महात्माओं का हृदय ऐसा ही विशाल और अहिंसक हुआ करता है। पावहारी बाबा ने बरतनों की गठड़ी ले कर चोर का अनुसरण करते हुए कहा था—'चोर के वेश में हे नारायण! मुझे क्या मालूम कि तुम मेरी कुटिया को पवित्र करोगे। प्रार्थना करता हूँ कि इस गठड़ी को भी ग्रहण करो।' उनकी इस उक्ति से चोर स्तम्भित रह गया। उसी क्षण से उसने अपने पेशे को त्याग दिया और पावहारी बाबा के शिष्यत्व को स्वीकार किया। सदा ऐसे कथानकों को याद किया करो, तभी तुम उनके आदर्शों और सिद्धान्तों पर स्थिर हो सकोगे।

इस प्रकार शारीरिक अहिंसा का पालन कर वाचिक अहिंसा का पालन भी करो। मन में दृढ़ निश्चय कर लो—"मैं आज से किसी के प्रति कठोर शब्द नहीं बोलूंगा।" हो सकता कि तुम सौ बार असफल रहो। परवाह नहीं। लगन पर डटे रहो। हो सकता है कि अब तुम अपने वचनों पर दृढ़ रह सको। वाणी-सम्बन्धी उद्रेकों को रोको। मौन धारण करो। क्षमाशीलता का अभ्यास भी। मन-ही-मन अपराधी के प्रति कहो—'वह अभी बच्चा ही है, अज्ञान में है। तभी तो उसने यह गलती की। वह क्षन्तव्य है। उसे गाली दे कर मुझे मिलेगा ही क्या। गलती मानव की विशेषता है और क्षमा देवों का आभूषण।'

अपने अन्दर जो कुछ अभिमान छिपा हुआ है, उसे भी बाहर भगा दो। यही तो सारे उपद्रवों की जड़ है।

अन्त में विचारों की ओर ध्यान दो। दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार ही मन से निकल जाना चाहिए। किसी

की हानि मत सोचो। धर्म के नाम पर भी यदि हिंसा होती है तो उसका भी अन्त करो। पशु-वलि की प्रथा को सर्वथा बन्द करना होगा। काली ने भी भैंस और बकरी की बलि के लिए आपको सूचना-पत्र नहीं भेजा; तो फिर उपासना और भक्ति के नाम धर्म पर अन्याय क्यों किया जा रहा है? स्वीकार करो कि तुम अपने पेटों को मजेदार रस से भरने के लिए धर्म की आड़ ले कर पशु-बलि की प्रथा को धर्म-सम्मत बतलाते हो। काली माता तो तुम्हारे अहङ्कार को खाना चाहती है; तुम्हारी अहंता, ममता का ग्रास चाहती है। डङ्के की चोट पर मैं यही कहूँगा, चाहे वह हिन्दू हो या अन्य मता-वलम्बी कि पशु की हत्या कर मुक्ति नहीं, महा-भयङ्कर-यन्त्रणा-रूप नरक ही मिलेगा। अग्निकुण्ड में उन्हें युग-युग तक झुलसना पड़ेगा। जन्म-जन्मान्तरों में भव-दुःख सहने पड़ेंगे और जितनी वार पशु ने चीत्कार मचाई थी, उतने ही जन्मों तक उन्हें रोते रहना होगा। प्रत्येक कर्म का परिणाम अवश्यम्भावी है। जैसा करोगे, वैसा ही फल मिलेगा। एक क्षण में बबूल का बीज बोया था, सालों तक वह पनपते रहेगा; एक बार हत्या की, जन्मों तक उसका प्रतिशोध देना होगा।

कुछ लोगों का तर्क है कि मांसाहार करने से पशुहत्या का पाप जाता रहता है (पता नहीं किस धर्मशास्त्र में यह बात लिखी है?)। यह असत्य है। उनका कहना है कि भगवान् ने इन पक्षियों को जन्म ही क्यों दिया है? केवलमात्र मनुष्य के उपभोग केलिए ही न? यह भी क्या तर्कसङ्गत प्रमाण है? यदि बाघ खड़ा हो कर यही कहे कि मनुष्य उसके उपभोग के लिए ही बनाए गए हैं, तो तुम्हारे पास क्या उत्तर है? अरे बच्चा, मूर्ख मत बन। मांसाहार दूसरे जन्म में भोगने के लिए पाप का

जनक ही नहीं है, बल्कि इसी जन्म में अनेकों रोगों का आदि मूल भी है। यह यकृत और फुप्फुस को रोगमय बना देता है। मांस खाने से आमाशय में कृमि हो जाते हैं। अब तो पश्चिम में भी लोग शाकाहार की ओर झुक रहे हैं। फलाहार सप्लाई करने वाले सहस्रों आहार-गृह पश्चिम में खुलते जा रहे हैं। मांसाहार से क्या हानियाँ होती हैं, उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया है। शाकाहार की कीमत जान गए हैं। अरे भाई, अब तो बेचारे इन गरीब जीवों की हत्या बन्द करो, नहीं तो न्याय के दिन क्या उत्तर दोगे ?

दयालु बनो। किसी दिन मांस-विक्रेता की दुकान में जा कर बेचारे गरीब पशुओं की चीत्कार सुनो तो तुम्हारा हृदय द्रवित हो उठेगा, तुम मांसाहार करना त्याग दोगे। मक्खन, दाल, घी, दूध, दही, शाक-भाजी और न जाने क्या-क्या पुष्टिकर खाद्य हैं, उनको त्याग कर क्यों इस घृणित आहार का सेवन कर रहे हो ? इसका परित्याग करोगे तो तुम्हारी प्रतिभा प्रखर हो उठेगी।

तुम्हें शायद पता नहीं कि इसी संसार में अनेकों व्यक्ति ऐसे भी हैं जो किसी भी जन्तु को दुःख नहीं पहुँचाते, चाहे वह मक्खी हो या हाथी। वे नित्यप्रति चींटियों के बिलों में चीनी रख आते हैं। रात को जन्तु-नाश के भय से वे रोशनी भी नहीं बालते हैं। राह चलते हुए वे अत्यन्त सावधानी से काम लेते हैं, (कहीं कोई जीव उनके पैरों तले न कुचला जाय)। धन्य हैं ऐसे व्यक्ति! उनका हृदय कोमल है, उनको ही भगवद्दर्शन होंगे। भगवान् बुद्ध तुम्हें नमस्कार है, तुमने ही इस महाव्रत का स्थापन किया। अहिंसा के पुजारी तुम्हारे ही उपासक

और अनुयायी हैं। सबको (जहाँ कहीं तुम हो वहीं से) शक्ति दो कि वे इस व्रत का तत्परता से पालन करते रहें।

सत्य-सम्भाषण

श्रुति कहती है, 'सत्यं वद' अर्थात् सत्य बोलो। सत्य सदा विजयी होता है। सत्यमेव जयते। शास्त्रों ने सत्य की महिमा मुक्तकण्ठ हो कर गाई है। परमात्मा सत्यस्वरूप है, उसका साक्षात्कार सत्य-भाषण द्वारा ही किया जाता है। सत्यवादी व्यक्ति चिन्ताओं और व्याकुलताओं से सदा विमुक्त बना रहेगा। उसका मन शान्त रहता है। समाज में उसकी प्रतिष्ठा होती है। यदि बारह साल तक सत्यवादिता का अभ्यास किया गया तो वाक्सिद्धि प्राप्त होती है। वाक्सिद्धि के उपलब्ध हो जाने पर जो कुछ भी मुँह से कहोगे, वह सत्य ही हो कर रहेगा। वाणी में सत्यवादिता से तेज आ जाता है। सत्यवादी व्यक्ति हजारों को अपने प्रभाव में ले आता है। सत्य की महिमा महान् है।

तुम्हारे विचारों, शब्दों और कार्यों में सहयोग का पुट मिला होना चाहिए। एक दूसरे के अनुसार कार्यपरायण होते रहें। साधारणतः व्यक्ति सोचते और कुछ हैं, कहते कुछ और हैं और करते कुछ और ही हैं। यह एकदम अनुचित प्रयोग है। इसे पाखण्ड नहीं तो और क्या कहा जाय? अपने विचारों, वचनों और कार्यों का सूक्ष्म-ध्यान रखना चाहिए। असत्य सम्भाषण से जो कुछ थोड़ा लाभ प्राप्त हुआ है, वह अणुमात्र ही तो है, उसका कोई भी मूल्य नहीं। उल्टे तुम अपनी प्रतिभा का अनुचित उपयोग करते हो तथा चित्त को दूषित करने में

कुछ भी नहीं उठा रखते। झूठ बोलने की आदत इस जन्म से दूसरे जन्म तक भी साथ जाती है और तुम जन्म-जन्मान्तर झूठ ही बोलते रहते हो। क्या तुमने इस बात पर कुछ देर के लिये भी विचार किया है? यदि नहीं तो अब विचार कर लो, गम्भीर बनो; इसी क्षण से असत्यवादिता का त्याग कर दो।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र का नाम आज भी घर-घर में लिया जाता है, इसलिये कि वे सत्यवादी थे। हर अवस्था में उन्होंने अपने सत्य-वचन का प्रतिपालन किया था। सत्य के लिए उन्होंने न तो स्त्री की परवाह की और न राज्य की चिन्ता ही। सत्य के लिए उन्होंने अनेकों कष्टों का संवरण किया। अपने जीवन की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाने पर भी वे सत्यवादी ही बने रहे। विश्वामित्र मुनि ने उनको सत्य वचन से डिगाने के लिए बहुत प्रयत्न किये, किन्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने सब को असफल कर दिया। अन्त में क्या हुआ, सब को मालूम है कि सत्य की ही विजय हुई।

बड़े अक्षरों में लिखो—**'सदा सत्य बोलो'**—और अपने घर की दीवाल पर इस प्रकार टाँग दो कि हरएक की दृष्टि सदा वहाँ पर पड़ती रहे। जब-जब तुम असत्य भाषण करोगे, तब-तब यह सूचना तुम्हें सावधान करती रहेगी। तुम तत्क्षण उसे रोकने का प्रयत्न कर सकोगे। एक दिन आयेगा कि तुम सत्यवादिता में अपने को जमा कर स्थिर रख सकोगे। जिस दिन कुछ झूठ बोलो तो उसका प्रायश्चित्त करो। उपवास ही इसके लिये उपयुक्त दण्ड है। इस प्रकार दण्ड देते रहने से झूठ बोलने की आदत कम होती

जायगी; एक न एक दिन तुम सत्य वचन बोलने में सफल हो सकोगे।

आत्म-निर्भरता—स्वावलम्बन

स्वावलम्बन प्रमुख गुण है। इससे साधक को आन्तरिक शक्ति प्राप्त होती है। लौकिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की सफलताओं को पाने के लिये यह एक अनिवार्य गुण है। साधारणतः देखा जाता है कि अधिकांश मनुष्य सदा दूसरों के आश्रित रहते हैं, दूसरो पर निर्भर रहते हैं। उनमें स्वावलम्वन का वल नहीं रहता है। भोग-विलास की आदत ने मनुष्य-समाज को बहुत निर्बल कर दिया है। डाक्टर और वकील को जूते पहनाने के लिये भी नौकर चाहिए, अपने हाथ से पहनना उसकी शान-शौकत से बाहर की बात है। कुँवे से जल खींचना उसकी इज़्ज़त पर बट्टा लगाने के समान है। चलने के लिए भी उन्हें सवारी चाहिए, पैदल नहीं चल सकेंगे।

हमारे पूर्वज अपने वस्त्र स्वयं ही धोया करते थे। लकड़ी फाड़ना, चक्की चलाना, गाय को सानी-पानी देना, खाद उठाना, रसोई करना तथा सभी प्रकार के काम वे अपने हाथों ही कर लिया करते थे। उनकी शक्ति की क्या पूछते हो, दिन में ४० मील चलना उनके लिये कुछ भी कठिन न था। उनका शरीर और शारीर-शक्ति आश्चर्यजनक हुआ करती थी। उनके जीवन की अवधि ६० साल से कम तो किसी हालत में नहीं हुआ करती थी, वह भी स्वस्थ और आरोग्य जीवन। आजकल के समान वे किसी भी रोग से आक्रान्त नहीं रहते थे। पायरिया, अपेन्डिसायटिस्, रक्तभार सदृश रोग उनके लिए लैटिन् और फ्रेञ्च भाषाओं के समान ही थे।

आजकल वैसा कहाँ ? व्यक्ति हर बात के लिए दूसरों पर निर्भर रहा करता है। स्वावलम्बन का वह सद्गुण अब समाज में नहीं रहा। आत्म-शक्ति से मनुष्य अनभिज्ञ होता जा रहा है। आत्मा के अन्दर शक्ति का जो अमित वैभवागार छिपा पड़ा है, आज मनुष्य को उसका कुछ भी पता नहीं; बेचारी जड़ मशीन को सर्वसमर्थ कहने चला है आज का नपुंसक समाज। उसका मन कहाँ स्थिर है ? सदा चञ्चल। मनुष्य का जीवन एकदम आवारा हो गया है, उसमें न तो नियन्त्रण रहा और न आन्तरिक आत्म-व्यापार।

अपना भोजन अपने हाथों बनाना चाहिए। नौकरों से काम कराने की आदत छोड़ देनी चाहिए। अपने वस्त्र अपने हाथ से धोने चाहिए। नित्यप्रति कार्यालय में पैदल ही जाना चाहिए। इज़्ज़त, मान और सोसाइटी में अपनी प्रतिष्ठा के नाम अपने पर अन्याय और अत्याचार मत करो भाई !

कुछ गृहस्थों को देखिए, आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए संन्यासियों से जादू की गोली माँगते हैं। वे अपने आप कुछ भी साधना नहीं करना चाहते, किन्तु दूसरे लोग किसी प्रकार उनके लिए वह काम कर दें, ऐसी उनकी भावना रहती है। शोचनीय है यह। प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए साधना करनी होगी और अपने पाँव ही आध्यात्मिक सोपान पर रखने होंगे। तुम ही अपने विधाता हो, अपने रक्षक और जनक हो। इस बात को सदा याद रखो। कोई दूसरा तुम्हारी मदद नहीं कर सकता। अपनी मदद अपने आप करनी होगी। अपने पाँवों पर खड़े हो जाओ! इस संसार और आध्यात्मिक क्षेत्र में विजयी का मान प्राप्त करो। अन्दर के दरवाजे को खटखटाओ, आँखें बन्द करो तो शक्ति मिलेगी।

धैर्य और उद्योग

धैर्य और उद्योग सात्त्विक गुण हैं। जब तक इन दोनों गुणों का सम्पादन न कर लिया जाय, लौकिक या पारमार्थिक सफलता तब तक नहीं मिल सकती। इन दोनों गुणों का सम्पादन कर लेने पर सङ्कल्प-शक्ति का उपार्जन किया जा सकता है। पद-पद पर कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं; किन्तु धैर्यपूर्वक उनका सामना कर उद्योग में लगे रहना चाहिए। महात्मा गान्धी जी की सफलता का मूल-मन्त्र यही था; यही कारण था कि वे अपने ध्येय में सफलता प्राप्त कर सके। वे कभी हताश नहीं होते थे। संसार के महापुरुषों ने धैर्य और उद्योग के बल पर ही अपने जीवन में सफलता की प्राप्ति कर पाई। तुम्हें भी इन गुणों का सम्पादन करना होगा।

धैर्यशील व्यक्ति का दिमाग सदा शान्त रहता है। उसकी बुद्धि सदा ठिकाने पर रहती है। वह आपदाओं और विफलताओं से भय नहीं खाता। अपने को मजबूत बनाने के लिए वह अनेकों उपाय खोज निकालता है। एकाग्रता (धारणा) के अभ्यास में सफलता प्राप्त करने के लिए भी धैर्य की महान् आवश्यकता है। वहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो कुछ कठिनाइयों के आ जाने से काम छोड़ देते हैं, उनमें धैर्य और उद्योगशील स्वभाव की कमी है। ऐसा नहीं होना चाहिए। बात-बात में काम छोड़ देना उचित नहीं है।

चींटियाँ कितनी उद्यमी होती हैं। चीनी और चावल के दाने भर-भर कर अपने गोदामों में जमा कर रखती हैं। कितने धैर्य और उद्यम की आवश्यकता है, एक-एक कर चावल के

दानों और चीनी को ले जा कर जमा करने के लिए। बाइबिल् में यही उदाहरण दिया गया है—"हे आलसी, काहिल! जा चींटियों के पास, उनके तरीकों को देख कर उनसे शिक्षा ग्रहण कर।"

मधुमक्खियाँ भी प्रत्येक फूल से शहद एकत्र कर छत्ते में जमा करती हैं, कितना धैर्य और उद्यमी स्वभाव चाहिए इसके लिए? बड़ी-बड़ी नदियों पर बाँधों का निर्माण कराने वाले, पुल बाँधने वाले इञ्जीनियरों के धैर्य की प्रशंसा क्यों न की जाय? कितना धैर्यशील और उद्यमपरायण होगा वह वैज्ञानिक, जिसने हीरे के सही रूप को पहचाना? हिमालय के अञ्चल में कन्दरा के अन्दर निवास करने वाला सन्त सचमुच सबसे अधिक धैर्यशील और उद्यमी है, जो वर्षों एकटक होकर आत्म-ज्ञान की साधना निःस्वार्थ भाव से करता रहता है। ऐसे व्यक्ति इस संसार में विरले ही हैं।

धैर्यशील व्यक्ति अपने क्रोध को सिर नहीं उठाने देता। अपने क्रोधी स्वभाव पर विजय पाने के लिए धैर्य एक समर्थ और सबल शस्त्र है। धैर्य के अभ्यास से व्यक्ति को आन्तरिक शक्ति का अनुभव होता है। अपने दिन भर के कार्यों को धैर्यपूर्वक करने से आनन्द, शान्ति और सन्तोष का अनुभव होता है। धीरे-धीरे इस गुण को अपने अन्दर विकसित करो। इस गुण के विकास के लिए सदा उत्कण्ठित रहो। मन में सदा धैर्य की मानसिक मूर्ति बसी हुई रहनी चाहिए। मन में निरन्तर विचार रहा तो समय आने पर धैर्य स्वयं ही प्रत्यक्ष होने लग जायगा। नित्यप्रति प्रातःकाल उठते ही धैर्य पर विचार करो और पूरे दिन के कार्यों को धैर्यपूर्वक करने के निश्चय से उठो।

प्रतिदिन इस क्रम को दुहराते जाओ, असफलता के बावजूद भी एक-न-एक दिन सफल होओगे।

किसी भी बात की शिकायत नहीं करनी चाहिए। मन को चिड़चिड़ेपन से मुक्त रखना चाहिए। सोचो कि धैर्य धारण करने से क्या-क्या लाभ होंगे और तुम किन-किन व्यवसायों में धैर्य का सहारा ले कर सफल बन सकोगे। साथ-साथ यह भी सोचो कि धैर्यशीलता के अभाव से क्या-क्या हानियाँ होती हैं और अधैर्यशील होने से मन की क्या दुर्गति होती है। इस प्रकार के विचार नित्यप्रति प्रात.काल के समय करने से यह गुण कुछ ही दिनों में विकसित होने लग जायगा।

निष्कपटता और ईमानदारी

निष्कपट और ईमानदार व्यक्ति के लिए क्या कहा जाय, वह इस मानव-जगत् में अनमोल रत्न है। इन गुणों से समनुयुक्त व्यक्ति अपने जीवन में सफलता प्राप्त करता है। सब लोग उससे खुश रहते हैं। लोग इसलिए खुश रहते हैं कि निष्कपटता और ईमानदारी सात्त्विक गुण हैं, दैवी सम्पत्तियाँ हैं। पश्चिम के देशों में ईमानदारी को सर्वोत्तम नीति कहा गया गया है, किन्तु पूर्व में इसे परम धर्म (गुण) कहा जाता है। इन दोनों गुणों को अपने में विकसित कर लो और फिर दुनियाँ में कहीं भी चले जाओ, सफलता सदा साथ रहेगी। लोग तुम्हें आदर-सत्कार के साथ सम्मान देंगे। किन्तु यह जानना चाहिए कि निष्कपट और ईमानदार व्यक्तियों को दाहिने हाथ की अङ्गु-लियों में ही गिना जा सकता है।

निष्कपट व्यक्ति में एक और गुण है; वह दूसरों के दुःखों को देख नहीं सकता, परन्तु उसे दुःख से मुक्त करने के लिये यत्न करने लगता है। जब तक दूसरों के दुःखों को दूर होते नहीं देखेगा, तब तक आराम नहीं लेगा। उसमें सहानुभूति की प्रचुरता होती है। उसका हृदय कोमलता से स्निग्ध बना रहता है। निष्कपट व्यक्ति में उदारता भी उसी अंश तक वर्तमान रहती है। कूटनीति, ठगपन्थी, नीतिपटुत्व, दोहरी चाल—यह सब उसके पास नहीं फटकने पाते। ऐसे व्यक्ति के वचनों पर लोगों को भरोसा हो तो आश्चर्य ही क्या है। खरा व्यक्ति समाज के लिए एक दृढ़ आधार-सा बन जाता है, प्रत्येक व्यक्ति का विश्वासपात्र भी। गूढ़-से-गूढ़ बातें भी लोग उसके पास आ कर कहते और उसकी सलाह प्राप्त करते हैं। दम्भ और छल की बातें भी उससे न पूछो, वह इनसे कोसों दूर रहता है। वह खुले दिल से व्यवहार करता है; पवित्र विचार करता है और सदा दूसरों को सहायता पहुँचाता रहता है। वह कहीं भी जाय, लोग उसकी सहायता करने के लिए सतत सन्नद्ध रहते हैं। अपनी आजीविका के लिए उसे दम्भी, चोर और कपटी के समान रात-दिन एक नहीं करने पड़ते, चोटी से ले कर एड़ी तक का पसीना भी नहीं बहाना पड़ता। तुम्हीं बतलाओ, ऐसे व्यक्ति की सेवाओं का सदुपयोग करने के लिए कौन नहीं तैयार होगा ?

आध्यात्मिक मार्ग में निष्कपटता का बड़ा महत्व है। गीता डङ्के की चोट पर यही कहती आ रही है कि आत्म-दर्शन की प्राप्ति करने के लिए साधक को निष्कपट (खरा) हो जाना चाहिए; गीता में निष्कपटता ही मन की सात्त्विता कही गयी है। अतः सात्त्विक व्यक्ति आर्जव शक्ति को अपने अन्दर विकसित कर आत्मज्ञान का सच्चा अधिकारी बन पाता है।

लक्ष्मण और भरत की सात्त्विक भावप्रवणता को ध्यान से सोचिए, उनका राम के प्रति कितना प्रेम था। जहाँ सात्त्विक भावना है, वहाँ भक्ति भी होगी ही। सावित्री की अपने पति के प्रति सात्त्विक और शुद्ध भावना थी, उसमें कपट नहीं था। अतः वह अपने मृत्युग्रस्त पति को जीवलोक में वापस ला सकी। मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का सम्बन्ध भी इतना ही सात्त्विक था, अतः वह अपने पति से ब्रह्मविद्या प्राप्त करने की अधिकारिणी हुई। गिरधर नागर के प्रति मीरा की यही सात्त्विक भावना थी, उसे गिरधर गोपाल के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। खरा दोस्त, खरा भक्त, शुद्ध हृदय पति, निष्कपट पत्नी, सच्चा नौकर, सात्त्विक गुण-सम्पन्न पुत्र पृथ्वीतल में साक्षात् देवतुल्य हैं। आर्जव से बढ़ कर इस संसार में अन्य कोई दिव्य गुण नहीं। अतः उसका उपार्जन करना चाहिए।

सन्तोष

'जो पावे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान'—कबीरदास यही कहा करते थे। पश्चिम में कहते हैं कि सन्तुष्ट व्यक्ति सदा दावत का आनन्द लेता रहता है।

इसका अभिप्राय क्या हुआ ? यही कि लालची व्यक्ति सदा अशान्त रहता है। लालच अग्नि के समान है, वह व्यक्ति को अन्दर ही अन्दर जला देता है। लालच रूप विष की प्रतिक्रिया के लिए सन्तोष ही अचूक औषधि है।

कड़कड़ाती धूप में चल कर आए हुए व्यक्ति को खस की टट्टी में जो आराम और शान्ति और सुख अनुभूत होता है, वही सुख लोभी को सन्तोष कर लेने पर उपलब्ध होता है;

उसकी मानसिक जलन शान्त हो जाती है। शास्त्रों में कहा गया है कि मोक्ष के द्वार पर चार प्रहरी हैं—सन्तोष, सत्सङ्ग, शान्ति और विचार। इन चारों में किसी एक से मित्रता कर लीजिए तो अन्दर जाने के लिये प्रवेश-पत्र प्राप्त कर सकोगे। यदि सन्तोष के साथ मित्रता का उपार्जन करोगे तो अवश्य मोक्ष-धाम में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त कर सकोगे।

सन्तोष की शक्ति अमित है। सन्तोष से महान् और कोई भी सम्पत्ति उपार्जन करने योग्य नहीं है। सन्तुष्ट व्यक्ति सबसे अधिक सम्पत्तिशाली के समान जीवन व्यतीत करता है। उसकी शान्ति का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। उसे इस भूमि का शाक्तशाली सम्राट् कहा जाय तो अनुचित न होगा। दक्षिण के एक सन्त कह गए हैं—"संसार का सबसे अधिक सम्पत्तिशाली व्यक्ति, जिसकी तुलना कुबेर से ही की जा सकती है, जिसके पास चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पतरु भी हैं, यह चाहता है कि उसकी सम्पत्ति समुद्र पार भी वैसी ही अक्षय होवे। अधिक धन पाने के लिए वह गुप्तविद्या का अभ्यास करता है। १५० साल तक जीवन धारण कर भी व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता; चाहता है कि उसकी आयु और भी अधिक हो जाय; तदर्थ वह रसायनों का प्रयोग करता है और सिद्ध कल्पों का अभ्यास भी। जिस व्यक्ति के पास एक अरब रूपये की राशि होती है, वह दो अरब के लिए लालायित रहता है। मन की तो यह विशेषता है ही कि वह एक पदार्थ को प्राप्त कर दूसरे पर कूद जाता है। इसी लालायित मन के कारण ही संसार में मनुष्य अशान्त होकर चक्कर लगाता है। 'यह मेरा है, वह मेरा है, मैं उसका उपार्जन अवश्य करूंगा' —इस प्रकार की भावनाएं करते रहता है।"

इस प्रकार वह सन्त कहते हैं कि, 'हे मन! मुझे इन अपवित्र विचारों की ओर न ले जा। मैं तेरी चालों को अच्छी तरह जानता हूँ। चुप कर रह। हे पिता, मुझे निराकांक्षापूर्ण मन दो। उस मन को अपने स्वरूप में केन्द्रित कर दो। मुझे मन दे कर निर्मन बना दो। मुझे अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में ही विश्राम लेने दो। हे आनन्दमय भगवन्, मुझे इस जगत् के नाम-रूपों से दूर ले जाओ, दूर और अति दूर, जहाँ केवल तुम ही तुम हो।'

राजयोग के अनुसार 'अष्टाङ्ग योग' के अन्तर्गत नियम के मार्ग में सन्तोष का स्थान भी है। गीता में भी कहा है कि तुम जो कुछ पाते हो, उसी पर सन्तुष्ट रहो और इस प्रकार अनासक्त हो कर मुझमें अपने चित्त को ध्यानमग्न रखो। सुकरात ने इस गुण की बड़ी अच्छी प्रशंसा की है।

यद्यपि लोग जानते हैं कि सन्तोष दैवी गुण है, इससे मन को शान्ति मिलती है तथापि वे इस गुण को ग्रहण करने के लिए यत्न नहीं करते हैं। क्यों? इसलिए कि उन्होंने अपनी विवेक-शक्ति और विचार-शक्ति को काम और लोभ के हाथ क्रीत-दास बना कर बेच दिया है। लोभ कामवासना का प्रमुख कार्यवाहक है। जहाँ लोभ, वहाँ काम-वासना, और जहाँ काम-वासना, वहाँ लोभ भी अवश्य ही रहेगा। लोभ और काम के कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, समझ में पत्थर पड़ जाते हैं, याददाश्त पोली हो जाती है। इसीलिए जनसाधारण इस सद्गुण की महिमा को जानते हुए भी अभ्यास करने में असमर्थ रहते हैं।

प्रतिपक्षी का कहना है, "अच्छा तो स्वामी जी, आप जो कुछ कह रहे हैं, सही है। मैं मानता हूँ कि सन्तोष शान्ति का जनक है। किन्तु एक शङ्का है। यदि मैं सन्तोष धारण कर लूं तो मेरी महत्वाकांक्षाएं निर्जीव हो जाएंगी। मैं आलसी और तामसिक हो जाऊंगा। अब तक तो मैं अपनी महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित हो कर इधर-उधर करता हूँ, प्रयत्न करता हूँ, शक्ति से ओतप्रोत रहता हूँ। यदि सन्तोष धारण कर लूं तो पत्थर बन कर रहना पड़ेगा। कृपया मेरी शङ्काओं का समाधान कीजिए।

इस शङ्का का मेरे पास यही उत्तर है कि सन्तोष मनुष्य को आलसी नहीं बनाता है। यह तो सात्त्विक गुण है, अतः इसका परिणाम सात्त्विक गुण ही होगा, तामसिक नहीं। सन्तोष से मनुष्य (तामसिक नहीं) ईश्वर-वृत्तिपर हो जायगा। सन्तोष-वृत्ति से मन को शक्ति और शान्ति की प्राप्ति होती है। हाँ, इतना जरूर है कि सन्तोष धारण करने से अनावश्यक और स्वार्थपूर्ण चेष्टाओं का प्रवाह रोक दिया जाता है। सन्तोष का अभ्यास मनुष्य के आन्तरिक चक्षुओं को खोल कर, उसके मन को सात्त्विक विचारयुक्त बना देता है। उसकी शक्ति सात्त्विक पुट ले कर प्रकट होती है। शक्ति में जब सात्त्विक पुट मिलता है तो लोभ को आध्यात्मक शक्ति में पारवर्तित कर दिया जाता है। लोभ (लोभ न रह कर) ओज बन जाता है। सन्तुष्ट व्यक्ति में सत्त्वगुण का प्राचुर्य होता है। उसमें पहले से अधिक शक्ति प्रकट होती है। वह बाहरी मनुष्य ही न रह कर आन्तरिक देवत्व की प्राप्ति करने लगता है। उसका जीवन आत्मा में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। उसे शान्ति मिलती है। सन्तोष धारण करने से उसकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी

नहीं रहतीं, बल्कि एकाग्र और निश्चल हो जाती हैं। अब तक मन की शक्तियाँ विभिन्न मार्गों द्वारा विकेन्द्रित हो रही थीं, सन्तोष धारण करने से वे एकत्र होने लग गई हैं। सन्तोष धारण करने से महत्वाकांक्षाओं का अन्त नहीं होता, किन्तु अनावश्यक हवाई किलों और स्वार्थपर विचारों का प्रवाह थम जाता है।

देखिए न कि सन्तोष की महिमा कितनी प्रबल है कि प्राचीन काल के ऋषिगण, फकीर, भिक्षु स्वतन्त्रता से संसार के किसी भी कोने में निर्द्वन्द्व हो कर विचरते थे। उनकी शक्ति का पता किसे नहीं है? उन्होंने संसार में क्या-क्या आश्चर्य-जनक काम नहीं किए? वे सन्तोष के जीते-जागते उदाहरण थे। सन्तोष में वह शक्ति है जो आध्यात्मिक मुमुक्षु को आत्म-ज्ञान के पथ पर निर्बाध ले जाती है, उसे साहस और प्रेरणा देती है तथा आध्यात्मिकता के ऊबड़-खाबड़ और कण्टकमय मार्ग से हो कर कुशलतापूर्वक ले जाती है। सन्तोष ही साधक में शक्ति भर देता है कि वह इस संसार के पदार्थों, भोग-विलासों को नश्वर और क्षणभङ्गुर समझ कर उनका विष्ठा और मूत्रवत् त्याग कर देता है। सन्तोष के साथ-साथ विवेक, वैराग्य और विचार का समुदय होने लगता है। मीरा में सन्तोष की प्रचुरता थी। इसीलिये उसे सांसारिक सुखों की चाह ने प्रभावित नहीं कर पाया। चित्तौर की महारानी होते हुए भी उसने भिक्षा पर अपना निर्वाह किया और भीख माँग कर जो रोटी मिली तथा यमुना जी में जैसा जल मिला, उसे ही अमृत समझ कर जीवनार्थ ग्रहण किया। वह कौन सा आहार था जिसने शक्ति दी? सन्तोष के अतिरिक्त और है ही क्या? सन्तोष हुआ तो मोक्ष का द्वार खुला मिलता है, शाश्वत

आनन्द के शब्द सुनाई देते हैं, आध्यात्मिक ज्ञान का प्रभात दिखलाई देता है। सन्तोष हुआ तो मन शान्त और विचार पवित्र रहते हैं, कर्म नपे-तुले हुए।

दक्षिण में पट्टिनाथ नामक महान् सन्त हो गए हैं। अपने पूर्वाश्रम में वे बड़े कृपण थे। उनके लोभ की मात्रा का कोई अन्त ही नहीं था। धन और सम्पत्ति की प्रचुरता थी, पर उनको सन्तोष नहीं होता था, और वे हुण्डी जोड़ते जाना चाहते थे। एक दिन शिव जी ने बच्चे के रूप में आ कर उन्हें एक गठरी उपहार में दी, जिसके अन्दर कानी सुइयाँ रखी हुई थीं। उन नेत्रहीन सुइयों के बण्डल के साथ-साथ एक लिखित उपदेश भी रखा हुआ था, 'इस संसार के माल-खजाने का क्या प्रयोजन? मरने के बाद यह कानी सुइयाँ भी तेरा साथ नहीं देंगी, उस धन की क्या पूछता है ?'

इस लिखित उपदेश ने उनके नेत्र खोल दिए, लोभी सौदागर वैरागी हो कर घर से निकल गया—घर छोड़ दिया, सम्पत्ति छोड़ दी, सब कुछ छोड़ दिया। वे भिक्षा-वृत्ति पर रहते थे। इस प्रकार आत्मा में सन्तुष्ट रह कर उन्होंने इस लोक में प्रतिष्ठा और परलोक में सद्गति तथा परात्पर लोक में आत्म-ज्ञान प्राप्त किया।

सच पूछो भैया, सन्तोष में बड़ा आनन्द है, इसी में अमृत है; देवताओं का अमृत भले ही हो या न हो। लोग कहते हैं, 'इससे अमृत मिलता है, उससे ज्ञान मिलता है और उससे शान्ति मिलती है;' पर मैं कहता हूँ कि सन्तोष से ही यह सब कुछ मिल सकते हैं। इसलिये आज से ही सन्तोष धारण कर

लें; जो मिले उसी पर आप्तकाम रहें। यदि प्रसन्न, उल्लसित और आनन्दमय जीवन यापन करना है तो जपो—'हे प्रभो हमें सन्तोष की प्राप्ति हो, जो तू हमें देता है, वही हमारे लिए काफी हो, उसी में हम राजी रहें।'

नियम और समय की पाबन्दी

नियम और समय की पावन्दी—दोनों अनिवार्य योग्यतायें हैं, जिनके अभाव में जीवन सफल नही हो पाता तथा आत्म-ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं हो सकती है। जब तुम अपने नियमों पर अटल तथा समय के पाबन्द रहोगे, तभी पूर्ण अनुशासन से काम में निरत रह सकोगे। अनुशासन के अभाव में क्या कामयाबी हासिल हो सकती है? अनुशासन और मन दोनों आपस में सर्प और नेवले के समान व्यवहार करते हैं। मन को ज्यों ही अनुशासन की बातें सुनाओ या नियम, समय की पावन्दी, तपस्या, वैराग्य, त्याग, साधना आदि की चर्चा करो तो वह भयभीत हो जाता है। यह इसलिये कि इन अभ्यासों से मनोनाश (मन का नाश) किया जाता है।

सतत तैल की धारा के समान अभ्यास अविच्छिन्न हो तो व्यक्ति जल्दी ही उन्नति कर सकता है। नित्यप्रति नियमपूर्वक ध्यान का अभ्यास करते रहने से समाधि का अवतरण होता है। साधक बिना कष्ट के ध्यानावस्थित हो जाता है। नित्यप्रति शारीरिक व्यायाम करने से मांसल शक्ति का विकास होता है। पर जो व्यक्ति नियमपूर्वक अभ्यास नहीं करता और धड़ाके के साथ अभ्यास आरम्भ करता है, वह अपने प्रयत्नों के उचित फल को प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करो। देखो ऋतु-क्रम किस प्रकार नियमपूर्वक चल रहा है। सोचो, किस प्रकार नित्य नियमपूर्वक सूर्य उदित और अस्त होता है; जलवायु आती हैं, फूल खिलते और फल-तरकारियाँ उगती हैं, चन्द्रमा और पृथ्वी धुरी पर घूमते हैं और रात-दिन, सप्ताह, मास, अयन और मन्वन्तर चक्कर लगाते हैं। प्रकृति को अपना गुरु मान कर शिक्षा ग्रहण करो। पाँचों तत्त्व तुम्हारे गुरु हैं, उनसे भी सब सीखो। अपनी आँखें खोलो और चारों ओर से बरसते हुए उपदेशामृत की धारा का यथेष्ट पान करो।

नियमितता, समय की पाबन्दी और अनुशासन साथ-साथ चला करते हैं। उनको भिन्न नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष के विश्वविद्यालयीय छात्र वेष-भूषा, रीति-रिवाज, साज-शृङ्गार में पश्चिम का वानरीकरण (अनुकरण) कर लेते हैं। जिनका जीवन में विशेष महत्व नहीं, उन चरित्रों का अनुकरण करने से क्या लाभ? पश्चिम के लोगों से, उन्होने क्या यह सीखने की चेष्टा भी की है कि उनके ही समान हम भी नियम के कायल और समय के पाबन्द बनें? देखा नहीं कि पश्चिम के लोग—विशेषकर अङ्गरेज क्षण भर की भी देरी नहीं करते हैं। जो काम जिस क्षण करना होता है, जो सभा जिस समय आरम्भ करनी होती है, ठीक उसी क्षण उन्हें वहाँ पर वैसा करते हुए देख सकते हो। वे लोग समय के बड़े पाबन्द होते हैं। उनके लिये समय भी सम्पत्ति का ही एक अङ्ग होता है। भारतवर्ष की अपेक्षा पश्चिम में विशेषज्ञों और अन्वेषकों और शोधकों की संख्या कई गुणा अधिक होती है। यह ठीक है कि भारत में कुछ महापुरुष हो गए हैं; जैसे गान्धी, रमण, अरविन्द, बोस आदि, किन्तु पश्चिम में विशेषज्ञों की संख्या को गिना भी नहीं

जा सकता है। वे भारतवासियों के समान समय के हत्यारे नहीं, अपितु समय के बड़े पाबन्द और नियमों के बड़े उपासक हैं। पाबन्दी उनका जन्मजात गुण है। यूरोपियन मैनेजर समय नष्ट करने वाले कर्मचारी से सन्तुष्ट नहीं रह पाता। अधिकतर देखा जाता है कि ऐसे अयोग्य कर्मचारी को नोटिस दे कर पदच्युत कर दिया जाता है। बात भी ठीक है, जो व्यक्ति नियमों का पालन सतत तत्परता से करता रहता है और समय का सदुपयोग करता रहता है, वह अपने जीवन में सफलता को प्राप्त करता रहेगा। इस विषय में सन्देह करने की आवश्यकता नहीं।

भारतवासियों की पाबन्दी तो कहावत ही हो गयी है— इण्डियन पङ्क्च्वैलिटी तो प्रसिद्ध है ही। यदि समाचार पत्र में सूचना होगी कि 'टाउन हाल' में ठीक ४ वजे शाम को एक सभा होनी निश्चित हुई है तो भारत में लोग ५-३० वजे के लगभग एकत्रित होना आरम्भ करते हैं। क्या यही समय की पाबन्दी है ? यदि ८ बजे सार्वजनिक कीर्तन के लिए सूचना दी गई होगी तो जनता ९ या ९-३० के लगभग जुटना आरम्भ करेगी। क्या यह समय का पालन करना कहा जाता है ? दो-चार-दस मिनट की देरी भी हो जाय तो कोई वात नहीं, पर डेढ़ घण्टे का अन्तर आना क्या साधारण व्यवहार का सूचक है? मुझे यह अनुभव अच्छी तरह से हुआ है। मैं जब व्याख्यान देने के लिए भारत के अनेकों प्रान्तों में गया तो मुझे भारतीय अनुशासनहीनता के प्रचुर प्रमाण मिले। भारतवासियों को चाहिये कि वे अपनी इस कमी को पूरी करें, अपनी गलती को सुधारें।

एक विशेष योग्यता, जिसने मेरे जीवन में सदा सफलता को स्थापित किए रखा, समय का उचित परिपालन है। मुझे याद है कि अङ्ग्रेज लोग भी मेरे नियम-पालन को देख कर आश्चर्य करते थे। जहाँ-जहाँ मुझे आने का निमन्त्रण मिला, मैं वहाँ ठीक समय पहुँच जाता था, मैंने कभी भी अपना या दूसरों का एक मिनट नहीं खोया। इस पाबन्दी ने लोगों के दिलों में घर कर लिया। मुझे भी इसका फायदा मालूम हुआ, मैंने कभी भी कोई गाड़ी देर से नहीं पकड़ी। मैं ठीक समय पर स्टेशन पर टिकट लेने के लिये पहुँच जाता था। जो लोग समय के पाबन्द नहीं होते, वे गाड़ी नहीं पकड़ पाते हैं। ऐसे लोग अपने व्यवसाय को लुटा देते हैं, अपने ग्राहकों को रुष्ट कर देते हैं। यदि विद्यार्थी समय का पाबन्द न हुआ तो अध्यापकवर्ग का प्यारा नहीं बन पाता है। यदि वकील देर कर कचहरी में पहुँचता है तो उसके हाथ से मामले जाते रहते हैं।

इसलिये जीवन में ऐसी आदतों का उपार्जन करो, जिनका पालन सम्भव और सतत हो सके। समय पर रात को सो जाओ और समय पर ही सवेरे उठो। समय पर भोजन करो। समय पर अध्ययन में निरत हो जाओ, समय पर शारीरिक व्यायाम करो, समय पर ध्यान तथा अन्य कार्य सम्पादन करो। तुम्हारा जीवन उज्ज्वल हो उठेगा, आनन्द और खुशी तुम्हारे अन्दर नाचने लग जावेगी। नियम-पालन, समय-तत्परता और अनुशासनपरता को एक मूल मन्त्र बना लो।

समाजपटुता

समाजपटुता या बेधड़क स्वभाव उस व्यक्ति में पाया जाता है, जो उद्योगनिष्ठ होता है, जिसमें नाम के लिये भी कर्म-

सङ्कोच नहीं होता। जो लोग लजालु होते हैं, वे समाजपटु नहीं कहे जाते। समाजपटु व्यक्ति सदा अग्रगामी रहता है। हर जगह हवा की तरह पहुँच जाना उसका स्वभाव है। देखिये न कि कुछ डाक्टर और वकील धन नहीं कमा पाते हैं, केवल इसलिए कि उनमें समाज के साथ चलने की कला का अभाव है। निःसन्देह वे बुद्धिमान् और चतुर भी हैं ही, किन्तु उनका दुर्भाग्य, जो सङ्कोच के कारण बेधड़क स्वभाव से कार्य नहीं कर पाते हैं। कार्य करने में सङ्कोच करना ही उनकी विफलता का कारण है। उनमें चतुरता आदि गुण होने पर भी समाज को प्रभावित करने की शक्ति नहीं है। समाजपटु व्यक्ति खोजपूर्ण होता है, अच्छा अनुभवी होता है, साहसी और कार्यपरायण रहता है। मीठे वचन बोल कर, निर्भय व्यवहार कर और धड़ल्ले से अपना काम बना कर वह सफल रहता है।

उद्योगनिष्ठ व्यक्ति सदा कर्मपरायण रहता है। दूसरों के दिलों पर काबू पाने और उनको प्रभावित करने की कला में वह बड़ा चतुर रहता है। दूसरों की आवश्यकतानुसार सेवा करके वह उनका विश्वासपात्र बन जाता है। यदि उसके पास काम भी नहीं रहता तो वह अपने आप किसी-न-किसी कार्य की सृष्टि कर लेता है। चुपचाप बैठे रहना मानो उसके लिये सम्भव है ही नहीं। कभी भी उसे देखिये वह योजनायें बनाते रहेगा, भविष्य के कार्य की व्यवस्था के लिये उचित अवसर खोजते रहेगा और सदा मानसिक आयोजनों में निरत रहेगा। भाग्य की सीढ़ी पर चढ़ कर वह दुनियाँ का अन्दाज लगाने में सदा व्यस्त रहता है।

ऐसा व्यक्ति सदा प्रसन्नचित्त रहता है, बड़ा हँसमुख और मिलनसार रहता है। उसे भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों के साथ मिला दीजिये, वह सब के मन के अनुसार काम और बातें कर उनके दिलों को जीत लेगा। यह नहीं कि एक के मन की की और दूसरे को तिरस्कृत कर दिया; उसके लिए समाज की पाँचों अङ्गुलियाँ बराबर होती हैं और महत्वपूर्ण भी। यहाँ पर यह भी बतलाना आवश्यक है कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के साथ-साथ आत्म-दर्शन पाने के लिये भी समाज-पटुता और उद्योगनिष्ठा अनिवार्य सद्गुण है। इस गुण का विकास चरम कोटि तक करना चाहिए। इस स्वभाव को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर लो और सदा यही विचार करो कि आपमें भी यह स्वभाव व्यक्त होने लगे। यदि इस स्वभाव को अपना मित्र बना लिया जा सका तो चित्त तथा सङ्कल्प स्वयं तुम्हारी सहायता करने लगेंगे। इसलिये जो काम करना है, पहले-पहल उसका पूरा चित्र अपने मन में अच्छी तरह उतार लो; अर्थात् अपने निश्चित कार्य का पूरा ज्ञान कार्य करने से पहले ही हो जाना चाहिये; यह नहीं कि काम तो आरम्भ कर दिया पर आगे क्या करें यह सूझता ही नहीं।

यूरोपियनों में हमने इस गुण को प्रचुरता से देखा है। अंग्रेज लोग भारत में पहले-पहल व्यापार करने के लिये आये थे और उन्होंने उसके लिये ही 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' खोली थी। किन्तु धीरे-धीरे समाजपटुता के कारण ही वे इस भूमि के शासक बन गये। भारत के पश्चिमी सागर-तट पर स्थित मलाबार के लोगों में भी यह बेधड़क स्वभाव प्रचुरता से पाया जाता है। दुनियाँ के किसी भी भाग में जाओ, तुम्हें मलाबारी अवश्य मिलेंगे। वास्को-डि-गामा में यह स्वभाव व्यक्त रूप से था,

तत्फलतः उसमें नैतिक साहस का उदय हुआ और उसने भारत का समुद्री मार्ग खोज निकाला। यदि कोलम्बस में इस शक्ति का अभाव होता तो वह किस साहस के बल पर अमेरिका की खोज में सफल हो सकता था। क्यों नहीं और व्यक्ति इस प्रकार के साहसिक कार्यों का बीड़ा उठा लेते हैं? जापान के लोग भी इस विद्या में निपुण हैं। यही कारण है कि पिछले महायुद्ध के बावजूद भी, अणु-बम प्रहार की हानि को पूरा कर, आज वे फिर अपने पाँवों पर उठ खड़े हो रहे हैं। जापान का क्षेत्रफल है ही कितना? किन्तु जहाँ तक व्यवसाय और अर्थ-नीति का सवाल है, वे संसार के बड़े-से-बड़े राष्ट्रों से लोहा लेने की क्षमता रखते हैं।

इसलिये समाजपटुता मनुष्य को समाज में न केवल जीवित रखती है, बल्कि समाज को जीवित रखने की शक्ति भी उसमें भरती है। उसमें समाज का नेता बनने की क्षमता को उन्नत करती है। समाजपटु व्यक्ति सदा कर्मठ रहता है; यदि उसमें धार्मिक वृत्ति अपने उचित अनुपात को लिए हो तो वह समाज का पूज्य हो जाता है। व्यवसायियों को इस विद्या में निपुण बन जाना चाहिये। यह सद्‌गुण के साथ-साथ योग्यता भी है।

युक्ति और कौशल

दूसरे व्यक्तियों के लिये इस गुण की अनिवार्यता हो या न हो, पर व्यवसायियों के लिये इसे उपार्जन करना अत्यावश्यक है। युक्ति को दूसरे शब्दों में दक्षता, निपुणता, हस्तकौशल आदि नामों से भी समय-समय पर सूचित किया जाता है। युक्ति में दक्षता, निपुणता और कौशल का समावेश रहता है। जब

कोई व्यक्ति अपने व्यवसाय में सफल हो रहा है तो कहा जाता है कि उस व्यक्ति को व्यवसाय की युक्ति मालूम है, उसे सौदा करने का ढंग आता है। किसी काम को करने का ढंग मालूम होना ही युक्ति का द्योतक है। व्यवसाय-चतुरता ही कौशल है। व्यवहार-सभ्यता, नम्रता, सत्कार-सभ्यता, अच्छा और भद्र सम्भाषण, युक्ति और कौशल को सफल बनाने में मनोवैज्ञानिक साधन हैं।

मान लीजिए, दुकान में कोई ग्राहक प्रवेश करता है तो विक्रेता का कर्त्तव्य है कि वह बड़ी भद्रता से और सज्जनता-पूर्वक उसकी आवभगत करे और बातचीत भी, 'आइये बैठिये, क्या आपके लिये चाय लाऊँ या ठण्डा शर्बत ?' रूखा-सूखा स्वभाव वाला व्यक्ति व्यवसाय में सफलता नहीं पा सकता है।

कुशल व्यक्ति को हिसाब-किताब रखने में बड़ा सावधान रहना पड़ता है। उसकी याददाश्त भी अच्छी होनी चाहिये। आज के बाजार-भाव का उसे समुचित और साफ ज्ञान होना चाहिये; अर्थशास्त्र के गूढ़ नियमों का समुचित ज्ञान भी। किन-किन जगहों से सामान सस्ते भाव पर मिल सकता है, यह भी उसे अच्छी तरह मालूम रहता है। उसे अपने माल का प्रचार करना अच्छी प्रकार आता है। उसका मन सतत सावधान और होशियार रहता है। सफलता या विफलता उसे डिगा नहीं सकती। व्यवसाय में नुकसान भी पहुँच गया तो वह बड़ी तेजी से उसे किसी-न-किसी प्रकार पूरा कर लेता है। हताश होने पर यह पूर्ति नहीं हो पाती। वह सदा खोजपूर्ण रहता है, अर्थात् उसके मन में व्यवसाय को सफल बनाने के अनेकों ढंग जागते रहते हैं। वह खोज-खोज कर व्यवसाय का नया ढंग निकालता है। यह

कहना अनुचित न होगा कि युक्तियुक्त और दक्ष व्यक्ति बड़ा ही प्रतिभाशाली हुआ करता है।

डाक्टर और वकील, व्यवसायी और विक्रेता, कमीशन एजेण्ट और आढ़ती, उद्योगपति और किसान प्रत्येक व्यक्ति की सफलता का श्रेय युक्ति और कौशल को ही है। यदि वे लोग अपनी-अपनी सफलता को पाने के इच्छुक हों तो उन्हें जरूर युक्ति का उपयोग करना होगा और कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेनी होगी। धर्मप्रचारकों के लिए युक्ति अनिवार्य है। यदि उनमें प्रचार करने की युक्ति न हुई तो वे न तो जनता में अपना प्रभाव फैला सकते हैं और न अपने उपदेशों को ही जनव्यापी बना सकते हैं। जगद्गुरु शङ्कराचार्य सदा अग्रगामी रहते थे, पीछे रहना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। बुद्ध मत में छाए हुए कल्मष का निवारण करने के लिए उन्होंने नागा साधुओं को व्यवस्थित किया था। गुरु गोविन्द सिंह जी भी इस विद्या में बड़े ही निपुण थे। आध्यात्मिक वृत्तिप्रधान होते हुए उनमें सामरिक प्रवृत्ति भी उचित मात्रा तक थी। समय, परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार धर्मप्रचारकों को अनेकों युक्तियों का सहारा लेना पड़ता है।

सुवक्ता बनने की कला

सुनने में आता है कि डेमोस्थनीज़ हकला कर (विस्खलित-वाणी से) बोलता था। उसने मुँह में पत्थर की कङ्कड़ियाँ रख कर पर्वत की उपत्यकाओं और निर्जन स्थानों में व्याख्यान देने का अभ्यास किया। कुछ समय बाद वह ग्रीस का एक प्रभावशाली वक्ता बन गया, जिसकी बराबरी बिरले ही कर पाते थे।

जब हकला कर बोलने वाला व्यक्ति भी अभ्यास करते-करते कुशल वक्ता बन सकता है, तो तुम्हारे लिए कौन सी कठिन बात है (यदि लगन के साथ अभ्यास करने लगो तो)? एकान्त स्थान में दर्पण के सामने खड़े होकर व्याख्यान देने का अभ्यास करो। अपने हाव-भाव, भाव-भङ्गी, हाथ-पैरों की गति, चेहरे की गति, चेहरे की बनावट पर पूरा-पूरा ध्यान दो।

व्याख्यान-मण्डप पर जब तुम खड़े हो तो मन में केवल एक भावना को प्रबल बनाओ कि उपस्थित जनता तुमसे कम ज्ञान रखती है (तुम ही उन सब में ज्ञानवान् हो)। कुछ लोग जब यह सुनते हैं कि अपने व्याख्यान सुनने के लिए सुशिक्षित जनता आई है तो हताश अथवा भयभीत होने लगते हैं। अतः सदा यही सोचना चाहिए कि तुम ही सब से अच्छा ज्ञान रखते हो तथा जितने लोग व्याख्यान सुनने के लिए आए, तुमसे कम ज्ञानवान् हैं। इस प्रकार की भावना तुम्हारे अन्दर साहस और धैर्य का सञ्चार करेगी।

व्याख्यान देने से पहले, विषय सम्बन्धी प्रमुख विचार याद कर एक कागज में अङ्कित कर लो। कितने विषय हैं, उनको याद कर लो। मान लो व्याख्यान में दस प्रसङ्ग हैं तो उन दस प्रसङ्गों पर बारीवार अपने विचार प्रकट करो। प्रकट करते समय न तो सङ्कोच होना चाहिए और न भय; ओज और शक्ति होनी चाहिए। यह न सोचो कि मुझे प्रभावशाली वक्तृता देनी चाहिए और धाराप्रवाह व्याख्यान देना चाहिए। यदि मन इस विषय की ओर आकृष्ट रहेगा तो तुम व्याख्यान के सही प्रसङ्ग को भूल जाओगे और मन पर उल्टा प्रभाव पैदा करोगे। मञ्च पर जा कर न तो धाराप्रवाह से बोलने की

सोचो और न साहित्य से अपने व्याख्यान को भर देने की ही, बल्कि धीरे-धीरे अपने व्याख्यान के प्रसङ्गों पर विचार करते हुए, जो कुछ तुमने कहना है, कह डालो। इस प्रकार श्रोता अवश्य प्रभावित हो सकेंगे।

एकान्त में जा कर भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करो, उच्च स्वर में 'ओ३म्' का उच्चारण करो। इस अभ्यास से वाणी में मधुरता का आविर्भाव होगा। साथ-साथ व्याख्यान देने वाले को नैतिक साहस से पूर्ण रहना चाहिए, अर्थात् उसमें विद्वत्ता के साथ-साथ चरित्र-शक्ति का ओज भी होना चाहिए। सदा सत्य बोलना और अपने वीर्य की रक्षा करना व्याख्यान-दाता के गुण हैं, जिनसे मनोवैज्ञानिकरीत्या जनता प्रभावित हो पाती है। यदि वक्ता चरित्रहीन होगा तो जनता उसकी बातों पर मन ही मन में हँसेगी और कहेगी, "पहले अपने को सुधार लो, फिर दूसरों के सुधार का बीड़ा उठाना।"

नित्यप्रति प्रातःकाल उठ कर जप और ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। इससे व्याख्यान की शक्ति में तेज का पुट मिलेगा। अन्यथा वक्तृता खाली कारतूस के समान निष्फल होगी। जनता पर स्थाई और उपयुक्त प्रभाव नहीं पड़ेगा।

विशेष शिक्षायें

१. व्याख्यान के मण्डप पर खड़े हो कर, पहले सार्वजनिक प्रार्थना और सद्गुरु स्तोत्रों का पाठ करो।

२. व्याख्यान देने के पहले मन ही मन भगवान् से प्रार्थना करो। अपने गुरु का विचार करो।

३. व्याख्यानदाता को नित्यप्रति प्रातःकाल जप, कीर्तन, ध्यान, आसन और प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इस अभ्यास से व्याख्याता की वाणी में शक्ति का आविर्भाव होता है।

४. व्याख्यान आरम्भ करने पर पहले-पहल अपने पूरे व्याख्यान के विषय का संक्षिप्त विवरण दे देना चाहिए। तदुपरान्त तर्कपूर्वक समाधान सहित प्रत्येक प्रसङ्ग का अभिवचन प्रकट करना चाहिए। जब देखो कि व्याख्यान समाप्त होने जा रहा है तो धीरता और गम्भीरतापूर्वक ओजस्वी शैली में उसे समाप्त कर दो। व्याख्यान के बीच-बीच में उदाहरण, लघु-कथायें, उद्धरण तथा सहज प्रसङ्ग अवश्य कहने चाहिये।

५. व्याख्यान में तुम जिस सत्य का प्रकटीकरण कर रहे हो, उस पर सबसे पहले तुम्हें विश्वास होना चाहिये।

६. विचार स्वतन्त्र और मुक्त होने चाहिये। विचारों को प्रकट करने की शैली भी लोकप्रिय और स्पष्ट होनी चाहिये। जो कुछ बोलते हो, दिल से बोलो और मुँह से प्रकट करो। व्याख्यान तर्कपूर्ण, भावपूर्ण, विचारपूर्ण और युक्तिसङ्गत होना चाहियें, बेकार की बातों से भरा-पूरा नहीं। श्रोताओं को एकाग्र करने के लिये बीच-बीच में सुबोध कथानक भी उपस्थित करने चाहिये।

७. व्याख्यानदाता का वाणी और भाषा पर भी असाधारण अधिकार होना जरूरी है। उसका अध्ययन विशाल होना चाहिये। जो शब्द बोले जायं, वे नपे-तुले हों। उच्चारण स्पष्ट होना चाहिये। प्रत्येक शब्द अलग-अलग और कसौटी पर खरा

कर बोलना चाहिये। हर जगह भावुकता से विचारों को प्रकट नहीं कर जहाँ आवश्यक हो, वहीं पर जोर से प्रकट करना चाहिये। कुछ लोग आरम्भ से ले कर समाप्त होने तक ऐसा व्याख्यान देते हैं, मानो कोई नाटक खेल रहे हों। व्याख्यान का विषय सुबोध और सीधा होना चाहिये, न कि पेचीदा और दुर्बोध।

८. एक विषय चुन कर नित्यप्रति एकान्त में जा कर भाषण देने का अभ्यास करना चाहिये। एकान्त में भी उपरोक्त नियमों के अनुसार ही चलना चाहिये।

९. व्याख्यान का शीर्षक सुन्दर और चित्ताकर्षक होना चाहिये।

१०. व्याख्यान देते समय हाव-भाव अनुकूल और योग्य होने चाहिये। पागल कुत्ते की तरह भौंकना और उछल-कूद मचाना अच्छा नहीं है। श्रोताओं की ओर मुँह करके बोलना चाहिये, न कि जमीन की ओर देख कर। कभी धीरे-धीरे और कभी जोर से और कभी मधुर स्वर में बोलना चाहिये।

११. 'बेशक, है कि नहीं, देखो न, कहा न है, जो है सो, इत्यादि, याने, मेरे कहने का मतलब है, देखिये श्रीमान् जी, आँ आँ'—इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये बार-बार एक ही वाक्य और एक ही विषय को भी नहीं दुहराना चाहिये।

१२. व्याख्यान साहस के साथ दो। सोचो और अनुभव करो कि तुम अच्छे वक्ता हो और श्रोतागण तुम्हारी बातें सुनने

के लिये उत्कण्ठित हैं। इस प्रकार तुम मञ्च पर विजयी बन सकोगे।

१३. आरम्भ में व्याख्यान के प्रसङ्गों को कागज में अङ्कित कर लेना आवश्यक है। उन प्रसङ्गों पर ही व्याख्यान को अवलम्बित रखना चाहिये। प्रारम्भ में कण्ठस्थ करने का अभ्यास होना चाहिये, धीरे-धीरे तुम स्वतन्त्र वक्ता बन सकोगे।

१४. तुम्हें यह भी जानना चाहिये कि जनता के विचारों का रुख किस ओर है और किस प्रकार के लोग तुम्हारे व्याख्यान को सुनने के लिये आये हुये हैं। जब-जब देखो, जनता उकताती जा रही है तो तुरन्त एक सुन्दर हास्यपूर्ण कथानक उपस्थित कर दो और अपने व्याख्यान को समाप्त। जनता की दिलचस्पी के विरुद्ध व्याख्यान देते रहोगे तो उन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा; अर्थात् उन लोगों के थक जाने तक व्याख्यान देते मत चलो। जितना समय निर्धारित किया गया है, उतने ही समय में अपना व्याख्यान समाप्त करने का प्रयत्न करो।

१५. व्याख्यान में विषय-चर्चा निर्बाध रहनी चाहिये, न कि आकाश और पाताल में कुलाँचे भरते रहिये। किसी विषय विशेष का उदाहरण देते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि वह श्रोताओं में रुचि उत्पन्न कर दे।

१६. व्याख्यान देते समय वेश्यावृत्ति नहीं आनी चाहिये, बल्कि धीरता और गम्भीरता और सुन्दरतापूर्वक विचार प्रकट किये जाने चाहिये। सारे समय व्याख्यान को हास्य का माध्यम नहीं बनाना चाहिये। यदि हास्यरसप्रधान व्याख्यान दोगे तो विषय में गुरुत्व और महत्व नहीं रहेगा।

१७. व्याख्यान को खिचड़ी के समान नहीं बनाना चाहिये। केवल एक प्रसंग ले कर उस पर अच्छी तरह विचार प्रकट करो। जो मन में आया कह दिया, व्याख्यान की कला के अन्तर्गत नहीं है। साधारण शब्द बोलने चाहिये। वैयाकरणिक शैली का प्रयोग न हो तो अच्छा ही है। क्लिष्ट भाषा का व्यवहार न करो तो और भी अच्छा।

१८. जो कुछ कहते हो उसे अपने जीवन में व्यवहृत भी कर लो, अन्यथा ठोकर खाने की सम्भावना ही अधिक रहती है।

१९. व्याख्यान में ऐसे दोषों का विवेचन करना वर्जित है, जिसे श्रोतागण पसन्द न करें। व्याख्यान में जो कुछ विचार प्रकट किये जायें, केवल जनता की रुचि के अनुसार ही। जनता की रुचि के विरुद्ध कुछ भी प्रकट करना अच्छा नहीं। अश्लील शब्दों का प्रयोग न करो। किसी व्यक्ति का सन्दर्भ ले कर उस पर चोट न करो और न किसी समाज, सम्प्रदाय या धर्म पर ही आलोचनात्मक विचार। अपने पूर्व वक्ता के विषय का विरोध भी न करो; चाहे वह गलत ही क्यों न था। व्याख्यान-मण्डप पर बहस के लिये सन्नध न हो जाओ और यह न सोचो कि बहस करने से तुम जनता के हृदयों को जीत सकोगे। याद रखो कि सफल वक्ता वही है, जिसके व्याख्यान को सुन कर जनता की शङ्काओं का समाधान हो जाता है तथा वह बहस करने के लिये नहीं उतरती। बहस के लिए अवसर देने का अर्थ तो यही होगा कि तुम अपने विषय में कमजोर रहे थे। यदि किसी व्यक्ति को कुछ शङ्का हो गयी हो तो उसका समाधान व्यक्तिगत रूप से किया जाना चाहिये, श्रोताओं से उसका कोई सम्बन्ध न रहे।

२०. भाव-प्रवणता, विचारों की स्वतन्त्रता, तर्क की युक्ति, शैली की पवित्रता और विषय की सरलता से व्याख्यान खिल उठता है।

२१. व्याख्यान का विषय लोकप्रिय होना चाहिये। व्याख्यान में उद्धरणों की भरमार नहीं कर देनी चाहिये। कुछ लोग, देखा गया है कि पद-पद पर रामायण या महाभारत या गीता के उद्धरण देते रहते हैं, उनका व्याख्यान समझ में ही नहीं आता। व्याख्यान जितना स्वतन्त्र होगा, उतना ही प्रभावशाली भी। उद्धरणों पर निर्भर रहने वाला व्याख्यान जनप्रिय नहीं हो पाता। जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ पर केवल प्रतिष्ठित लेखकों की उक्ति को प्रमाणस्वरूप देना चाहिये। मञ्च पर अपनी पण्डिताई और कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन करना भी अच्छा नहीं है। जो बात श्रोताओं के दिमाग में नहीं घुसेगी, उसका मूल्य ही क्या रहा? अच्छा व्याख्यानदाता वह है, जो जनता की रुचि के अनुसार व्याख्यान देता है और जनता की रुचि का रुख पलटते देख अपने व्याख्यान को तुरन्त समाप्त कर देता है। यदि उसने ऐसा न किया तो श्रोताओं में पारस्परिक फुसफुसाहट होने लग जायगी, धीरे-धीरे एक-एक कर वे लोग बाहर की ओर देखने लग जायेंगे, कुछ लोग उठ कर चल भी देंगे। इसलिये रुचि में परिवर्तन देखते ही व्याख्यान को लम्बा न बना कर, वहीं पर समाप्त कर दो। यदि व्याख्यान लोगों को पसन्द आया तो निस्तब्धता विराज जायगी; जनता पूर्ण एकाग्र हो कर तुम्हारी बातें सुनने में लवलीन हो जायगी।

२२. समाप्त करने से पहले अपने व्याख्यान का सारांश दे दो ताकि श्रोता समझ लें कि पूरे व्याख्यान में तुमने क्या-क्या कहा था।

२३. व्याख्यान समाप्त करते समय उपस्थित जनता को अपनी ओर से धन्यवाद दो, सभापति को अपना धन्यवाद दो और दुबारा मिलने के लिये आश्वासन भी।

२४. व्याख्यानदाता को निम्न आहार का सेवन करना चाहिये—पेट को ठूँस-ठूँस कर भोजन नहीं करना चाहिये। भोजन हल्का और आरोग्य—शास्त्र-सङ्गत होना चाहिये। रात को घी में काली मिर्च और मिश्री मिला कर सेवन करना चाहिये। इससे स्वरयन्त्र स्पष्ट और स्वच्छ रहता है, बोलते समय रूखापन नहीं आता। मुलेठी का उपयोग स्वर को गम्भीर बनाने के लिये लाभप्रद है। छाछ और फलों का रस भी लेना चाहिये। इससे व्याख्यान की थकावट चली जाती है। दही का सेवन नहीं किया जाना चाहिये। दही से स्वरयन्त्र फट जाता है।

उज्जायी प्राणायाम और 'ॐ' के उच्चारण का अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्यास से वाणी मधुर तो होती ही है, साथ-साथ गम्भीर और शक्तिशाली भी।

२५. व्याख्यान समाप्त करते हुए शान्ति पाठ करो और २० सेकण्ड तक मौन ध्यान।
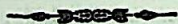
पञ्चम प्रयोग

दुर्गुणों का निराकरण

सङ्कोच-लज्जा-शर्म

सङ्कोच-रूप निर्बलता को यदि जीवन की सफलता के मार्ग का रोड़ा कहा जाय तो अनुचित न होगा। सङ्कोच या लज्जा और कुछ नहीं, केवल कायरता या भय का साधारण रूप है। छोटी आयु के सभी बालकों में यह दुर्बलता पाई जाती है। लज्जा स्त्रीत्व-प्रधान गुण है। लज्जा का अवतरण क्यों होता है? लज्जा व्यक्ति में तभी अपना अधिकार स्थापित करती है, जब वह कुछ गलत काम कर बैठा हो, अथवा गलत रास्ते पर चल रहा हो। प्रत्येक स्त्री को मालूम है कि जीवन का लक्ष्य बहुत ऊंचा है, वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है; जीवन में दुःख का निवारण किया जा सकता है, फिर भी वह काम-वासना के सुख के लिए लालायित और कृतकर्म रहती है। चूंकि जानते हुए भी वह गलत काम कर रही है, अतः वह स्वभावतः किसी पुरुष के सामने लज्जा से दब जाती है।

सङ्कोची बालकों में विचार-प्रदर्शन की योग्यता दब जाया करती है, वह अपने मन में विचार करते हुए भी, उन विचारों

को दूसरों के सामने प्रकट नहीं कर पाते। यहाँ तक कि कुछ बालक तो दूसरों के मुँह पर देखने का साहस भी नहीं कर सकते। वे बातें करते रहते हैं, पर नजर जमीन पर से ऊपर नहीं उठाते। अचानक किसी अनजान व्यक्ति से सामना हो गया तो फिर पूछना ही क्या; मुँह से शब्द भी साफ नहीं निकलते।

इसका अर्थ यह कि सङ्कोची बालक या युवक जीवन के किसी भी कारोबार में सफलता हासिल नहीं कर सकता। सुशीलता, विनम्रता, विनीत स्वभाव और मर्यादित प्रकृति का लज्जा से कोई सम्बन्ध नहीं है। गुणवान् व्यक्ति विनम्र हो सकता है, पर सङ्कोची नहीं। सङ्कोची व्यक्ति चुपचाप रह सकता है, पर यह जरूरी नहीं कि वह सुशील और विनम्र हो। सुशीलता या विनम्रता सतीत्व या शुद्धता का प्रतिरूप है। जब चरित्र स्वच्छ हो जाता है, जब स्वभाव में नैतिकता आ जाती है तो सुशीलता का प्रकटीकरण होता है। पति के मर जाने के बाद कोई बाहर का आदमी विधवा से बातें करने आता है तो वह लाज के मारे गड़ जाती है; व्यक्ति का सामना भी नहीं कर सकती। किन्तु निरन्तर सम्पर्क में आने से विधवाओं में साहस का सञ्चार हो जाता है और वे किसी भी व्यक्ति से निधड़क मिला करती हैं और उनके प्रश्नों का उचित उत्तर भी दे सकती हैं। यह मनोवैज्ञानिक साहस है। इस साहस के लिए उन्हें बहुत दिनों तक पुरुषों के सम्पर्क में रहना पड़ता है। किन्तु वे गलत रास्ते पर चलेंगी तो उनमें सम्पर्क के बावजूद भी यह गुण नहीं पनप सकेगा। लज्जा का निराकरण साहसपूर्ण व्यवहार से किया जा सकता है। जिससे बातें कर रहे हो, उसके मुँह पर देखने

का अभ्यास डालो। जो कुछ बोलते हो, स्पष्ट और इतमीनान से बोलो। सबसे बड़ी बात तो यह कि अपनी तरफ से कोई भी काम ऐसा न करो, जिसे गलत कहा जा सके और जिसका प्रभाव तुम्हारे मनोविज्ञान पर पड़ जाय। साहस का अभ्यास करो।

कायरता-भीरुता-कातरता

यह मनुष्य की कमजोरी का परिचायक है। दिल मजबूत नहीं होने से कायरता आ दबाती है। कड़े दिल वाले व्यक्ति में कायरता का नाम भी नहीं रहता। इसे भय का एक रूप ही कहना चाहिए। जिस प्रकार लज्जा से मनुष्य दबता है, उसी प्रकार कायरता से भी दबना पड़ता है। कायर व्यक्ति के दिल को अङ्गरेजी में मुर्गी के दिल से समानता दी जाती है। कायर व्यक्ति समाज-सेवा और खोजपूर्ण साहसिक कार्यों के लिए अयोग्य सिद्ध होता है। कुंए का मेढक और न हुआ तो वही हुआ। अपने जीवन में वह सफल व्यक्ति नहीं बन सकता है। बातें करते हुए उसमें साहस नहीं रहता। कायर व्यवसायी अपने ग्राहकों के प्रति उचित व्यवहार नहीं कर सकता। आज संसार में कायरों की भरमार है, तभी तो वे लोग सुशिक्षित होने पर भी दीन-हीन हैं। कायर व्यक्ति के लिए ही यह संसार अन्ध-कारमय होता है। धीर व्यक्ति को इस संसार में सर्वत्र पर-मात्मा ही दिखाई देता है।

कायर व्यक्ति सहसा किसी काम को अपने हाथ में नहीं लेते हैं; क्योंकि उनमें तज्जन्य भय बना रहता है: "कहीं जान पर बन आई तो क्या होगा—" पहले यही विचार उन्हें

आतङ्कित करता रहता है। कायर व्यक्तियों में एक और निर्बलता होती हैं; वह है स्त्री, पुत्र और सम्पत्ति के प्रति आसक्ति। समाज की आलोचनाओं से घवड़ाना उनके लिए कोई आश्चर्य नहीं। कायर व्यक्ति को यदि 'स्त्री' कह कर सम्बोधित किया जाय तो अनुचित न होगा।

कायरता का निवारण कैसे किया जाय ? हमारी राय में कायर मनुष्य को साहसी मनुष्यों के साथ रहने दिया जाय। उसे महाभारत, रामायण तथा अन्य वीर गाथायें पढ़नी चाहिये। कायर मनुष्य के लिए देवी की पूजा मनोविज्ञान-सिद्धान्तानुसार साहस की वरदा है। 'दुर्गा-सप्तशती' का पाठ नित्यप्रति करना चाहिये। कायरता मनुष्य का मनोवैज्ञानिक प्रतिफल है, अतः मनोविज्ञान को ही बदल देने से कायरता का निराकरण किया जा सकता है। यदि किसी को रात में घर से बाहर निकलने का साहस नहीं होता हो तो एक काम करो। किसी महत्वपूर्ण कारण की योजना बना कर रात के समय उस मनुष्य को सूचित करो कि कार्यालय के सञ्चालक तुम पर बहुत क्रुद्ध हैं, अतः अभी बुलाते हैं; अथवा तुम्हारे नाम तार द्वारा मनी-आर्डर आया है, डाकखाने चलो; अथवा तुम्हारे बच्चे रेलवे-स्टेशन पर उतरे हैं, उन्हें लेने चलो, इत्यादि, इत्यादि। तात्पर्य कि कुछ ऐसे कारण आयोजित कर लो, जिनका महत्व उस मनुष्य के लिए बहुत अधिक हो। बस वह रात को ही दौड़ पड़ेगा। बाद में जब उसे मालूम होगा कि सच्ची बात का उद्देश्य कुछ और ही था, तो वह अपने आप समझ जायगा। इस प्रकार कायरता को दूर भगाया जा सकता है। कायरता का निवारण बचपन से ही किया जाना चाहिये। भूत का भय दिखा कर बालक में मनोवैज्ञानिक निर्बलता नहीं आने देनी चाहिये।

'हौग्रा ग्राया, बाबा जी को दे दूँगी' इस प्रकार की उक्तियाँ बालक के मन पर बुरा प्रभाव डालती हैं। जिस बालक को माता की ग्रोर से बाल्यकाल में भूत का भय प्राप्त हुग्रा होगा, वही बालक बाद में कायर ग्रौर डरपोक बनेगा। बालकों के सामने मुहल्ले के किसी स्थान पर रहने वाले भूत की कहानी भी नहीं कही जानी चाहिए। बचपन से ही रात को, दिन में, पहाड़ों ग्रौर जङ्गलों में, निर्जन ग्रौर भयावह प्रदेश में रहने की योग्यता भर देनी चाहिए। शहरों में रहते-रहते मनुष्य साधारण चीज़ों में ग्रसाधारणता की कल्पना करने लगता है ग्रौर जङ्गल का नाम सुनते ही बाघ, शेर ग्रादि की कल्पना करने लगता है; तत्फलतः डर जाता है।

कायरता मनुष्य-जीवन के विकास में रोक डालती है, सफ़लता का मार्ग ग्रवरुद्ध करती है। कायर मनुष्य निर्बल ग्रौर निर्वीर्य तो होता ही है, साथ-साथ समाज में हिंसा का ग्रारम्भ भी कायर जनसमूह से ही होता है। कायर मनुष्य ही ग्रात्म-रक्षा के लिए ग्रात्मबल पर निर्भर नहीं रहते, बल्कि शस्त्रों का प्रयोग करना ग्रारम्भ कर देते हैं।

निराशावाद

यह समाज में जल्दी छाने वाली निर्बलता है। किसी भी वस्तु की बुराइयों को देखा करना, 'संसार में दुःख ही है'—इस प्रकार डूबे रहना, कर्महीन हो जाना, जीवन में ग्राई हुई विफलता के परिणामस्वरूप निराशा—इन सबसे मनुष्य का जीवन ग्रन्धकारमय हो जाता है, उसे रास्ता दृष्टिगोचर नहीं होता।

किसी भी वस्तु के सदात्मक पक्ष को भूल कर, उसके अन्य-तम अवगुणों पर विचार-विमर्श करते रहना, अप्रयोजनीय और असन्दर्भशील विचारों में लवलीन रहना निराशावाद के सिद्धान्त का मुख्य रूप है।

'सारा संसार दुःखमय है', यह भावना निराशावाद की प्रतीक है। जीवन को दुःखमय देखने में एक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है और मनुष्य उस प्रतिक्रिया के चक्कर में आ जाता है। बुद्ध-वाद भी समाज के लिए निराशावाद का माध्यम बन गया था। शङ्कराचार्य ने आ कर तत्सामयिक सिद्धान्तों का विरोध किया। शङ्कराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक थे। संसार उनके लिए नश्वर था; किन्तु संसार की सच्ची सत्ता जिस पर वे विश्वास करते थे, तीनों कालों में सत्-चित् और आनन्द का पूर्ण रूप थी। उनके मत के अनुसार यह दीखने वाला संसार वास्तव में संसार नहीं; किन्तु संसार पर ब्रह्म का प्रतिरूप था। ब्रह्म के अति-रिक्त संसार की सत्ता को न मान कर शङ्कराचार्य ने यह सिद्ध किया कि जो दिखलाई देता है, सुना जाता है, देखा जा सकता है, सूँघा जा सकता है और इन्द्रियगम्य, बुद्धिगम्य तथा ज्ञानगम्य है, वह सब परब्रह्म का ही रूप है। उन्होंने यह भी बतलाया कि ब्रह्म को इस समष्टि में से निकाल दिया जाय तो तीनों कालों और तीनों अवस्थाओं में कुछ भी न रहेगा। ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द, पूर्ण-ज्ञान, चिदा-नन्द, सदानन्द आदि गुणों से युक्त है; अतः यह समष्टि जगत् भी उन्हीं गुणों से परिपूरित होना चाहिए। इस प्रकार वेदान्त में 'नेति-नेति' और नश्वरवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किए जाते हुए भी, हमें निराशावादिता का कोई लक्षण नहीं मिलता।

सांसारिक क्षुद्र भोगों से मनुष्य को हटाने के लिए ही वैराग्य का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है। समाज को गलतियों

से हटाने के लिए ही सच्चरित्रता का उपदेश दिया जाता है। मनुष्य को पदार्थवाद से ऊपर उठाने के लिए ही पदार्थ की नश्वरता का उपदेश दिया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो मनुष्य अपनी सीमा में ही फिरता रहेगा।

आशावाद, क्रियात्मवाद, व्यवहारवाद और यथार्थवाद निराशावाद की प्रतिपक्षीय भावनायें हैं। इन गुणों से सम्पन्न हुआ मनुष्य प्रत्येक वस्तु के सत्य पक्ष को ही पहले देखेगा। आशावादी मनुष्य अवगुणी मनुष्य के अवगुणों को पहले-पहल न देख कर, उसके गुणों को ही पहले देखेगा। आशावादी मनुष्य पहले किसी चित्र की सुन्दरता का दर्शन करेगा और निराशा-वादी उसके अवगुणों का।

निराशावादी मनुष्य सदा निर्बल रहता है, उसकी मस्तिष्क-सम्बन्धी क्रियायें निश्चेष्ट हो जाती हैं। जिस घर में एक मनुष्य भी निराशावादी हुआ, वह घर सारे का सारा निराशावादी हो जाता है, वहाँ कालिमा-सी छा जाती है। निराशावादी मनुष्य पहले तो कोई काम हाथ में लेगा ही नहीं, यदि ले भी लिया तो यह सोच कर कि 'होना तो कुछ नहीं है, चलो आजमा लें'—इस प्रकार मनोविज्ञानानुसार असफलता का जन्म कार्यारम्भ से पूर्व ही हो जाता है।

हर अवस्था में खुशदिल रहो। रञ्ज और गम को जीतो। चाहे विफलतायें ही आपके भाग्य में क्यों न बदी हों, चाहे ठोकरें ही क्यों न आपने खाई हों; किन्तु हर रोज अन्धेरा ही नहीं रहता, सूर्य भी उदय होता ही है। इसी प्रकार किसी न किसी दिन सफलता मिलेगी ही। यदि साहसी रहोगे और प्रत्येक

कार्य को इतमीनान से करोगे तो वह कौन सी बला है, जो तुम्हारे मार्ग पर पत्थर रख सके—तुम्हारे कार्य की शक्ति उस पत्थर को तो क्या, पहाड़ को भी फूँक से उड़ा सकती है, सागरों को सुखा सकती है, पर्वतों को चलायमान् कर सकती है। साहस चाहिए, सद्साहस; लगन और अथक लगन; रात और दिन कर्मपरायणता। विश्राम केवल अर्थी में सोने के बाद ही मिल सकता है। आशा जीवन में सफलता की जननी रही है। वह आशा ठोकर खाये हुये बालक को, तुतलाते हुये बच्चे को भी फिर खड़ा कर देती है, अच्छी तरह बोलना सिखाती है। आशावादी मनुष्य पर विपत्तियाँ आयेंगी नहीं—यह कहना सर्वथा गलत है। आपत्तियों के बावजूद भी जो मनुष्य अपनी लगन में लगा रहता है, वही सफल होता है और उसे ही आशावादी कहते हैं।

आशावादी बनने के लिये सदा सद्ग्रन्थों का अध्ययन करते रहो। बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन केवल आशावादियों को ही करना चाहिये। 'अवधूत गीता' और 'योगवाशिष्ठ' का अध्ययन भी केवल आशावादियों को ही करना चाहिये। आशावादी बनना चाहते हो तो देव-पूजा, सन्ध्यावन्दन आदि वैदिक कार्य-क्रम आरम्भ कर दो। जप, कीर्तन, आसन, प्राणायाम, कर्मयोग (सेवा, दान आदि) से आशाओं का विकास करो। सदा काम करते रहो, आलसी न बैठो। सदा अच्छे ही काम करो। ध्यान के नाम पर एकान्त कमरे में बैठ कर हवाई किले बनाना साधना नहीं है। कमरे से बाहर आ जाओ, समाज में सेवा करने के लिये—नदी के तीर सन्ध्यावन्दन और पूजा पाठ के लिये।

विश्वासान्धता

कुछ लोगों का विश्वास अन्धा होता है। यह भी ठीक नहीं। वह जल्दी ही दूसरों द्वारा छले जाते हैं। बिना सोचे-विचारे किसी बात पर विश्वास करना ठीक नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव को अच्छी तरह पहचान कर ही विश्वासपात्रता निश्चित करनी चाहिये। व्यक्ति का स्वभाव, गुण, पूर्वजीवनवृत्त और चालचलन—यह सब बातें जब अच्छी तरह जान ली जायें, तभी उसकी बातों पर यकीन करना चाहिये। इसके लिये उस व्यक्ति की परीक्षा ली जानी चाहिये। जब तक पूरी तरह सन्तुष्ट न हो जाओ, उस पर विश्वास की भावना को मुक्त न रखो। कुछ लोग बड़े गहरे होते हैं, किन्तु बाहर से बड़े सीधे दिखलाई पड़ते हैं और अन्त में धोखा दे कर चल देते हैं।

दूसरे प्रकार के मनुष्य होते हैं, जो सहज ही दूसरों के सिद्धान्तों पर विश्वास कर बैठते हैं। आज राजनीति में विश्वास करने लगे तो कल धार्मिक सिद्धान्तों पर। किसी दिन सनातनी सिद्धान्तों को ग्रहण किया तो कभी आर्यसमाजी बन गये। उनकी अपनी कोई स्थिर नीति नहीं बन पाती। जिधर चाहो, उन्हें घुमा सकते हो और जैसे चाहो, उनके विचारों को बदल सकते हो।

अन्धविश्वास समाज के लिये अभिशाप बन कर आता है। अन्धविश्वासी समाज किसी हालत में एक कदम आगे की ओर नहीं बढ़ सकता है। उसके पाँवों को आगे घसीटो तो भी वह फिर कर पीछे ही चला आता है। समाज से अन्धविश्वास का निराकरण हो जाते ही प्रत्येक मनुष्य विकास के मार्ग पर अग्र-

सर होने लगता है, उसकी बुद्धि स्वतन्त्र हो जाती है, उसके व्यवहार प्रयोगात्मक। वह नवीन वस्तुओं और विचारों की प्राप्ति करता है। वह राष्ट्र को नवीन विचार, नवीन वस्तुयें और नवीन व्यवस्था देता है।

प्रत्येक मनुष्य के अपने-अपने सिद्धान्त हैं, उनको वही निभा सकता है। एक के सिद्धान्त दूसरे के लिये अनुकूल नहीं भी होते हैं; अतः दूसरे के सिद्धान्तों को तब तक न अपनाओ, जब तक उसकी योग्यता की परीक्षा न कर लो। दूसरों पर विश्वास तभी करो, जब वे कसौटी पर खरे उतर चुकें। दूसरों के विचारों को भी तभी स्वीकार करो, जब उनका उपयोग तुम्हारे लिये हितकर और सुगम सिद्ध हो।

अतः तुम्हारा अध्ययन गम्भीर होना चाहिये, अनुभव प्रौढ़ होने चाहिये तथा कर्म पवित्र। तभी तुम यह निश्चय कर सकते हो कि क्या करना और क्या नहीं करना, क्या सोचना और क्या नहीं सोचना चाहिये।

सन्देह-दृष्टि

दूसरों को सदा सन्देहात्मक दृष्टि से देखना भी अच्छा नहीं है। यह दुर्गुण है। 'संशयात्मा का विनाश हो जाता है'—गीता ने इसे स्वीकार किया है। जिस प्रकार किसी पर सहसा ही विश्वास कर लेना अनुचित है, उसी प्रकार किसी को सन्देह की दृष्टि से देखना भी अच्छा नहीं है। दोनों सीमाओं का उल्लङ्घन न कर, मध्यम मार्ग पर चलो।

पति सदा पत्नी को सन्देह की दृष्टि से देखता है। इसी प्रकार पत्नी भी पति पर सन्देह करती है। परिणामस्वरूप घर में रात-दिन अशान्ति और कलह फैला रहता है। दुकान का मालिक कर्मचारियों पर सन्देह करता है। आप ही बतलाइए कि किस प्रकार वह अपने व्यवसाय में सफल बन सकता है। अरे भाई, दुनिया तो विश्वास पर ही चला करती है। अन्धविश्वास मत करो; किन्तु सोच-समझ कर विश्वास करना तो सीखो न। अंग्रेजों के राज्य में भारतीय कम्पनियों के सञ्चालक तो इंग्लैण्ड में रहते थे; किन्तु काम भारत में होता रहता था। सञ्चालकों को अपने कारिन्दों (एजेण्टों) पर पूरा विश्वास रहता था। इसी प्रकार कारिन्दे भी सञ्चालकों के विश्वासपात्र बने रहते थे। व्यवसाय अन्धविश्वास पर नहीं, बौद्धिक विश्वास पर चला करता है। सन्देह की अधिकता से सदा अशान्ति, कलह और द्वन्द्व का सूत्रपात ही हुआ करता है।

अतः सोचो समझो, उचित आयोजन करो और युक्तिपूर्वक कार्य की व्यवस्था कर दो। यदि तुममें कार्य-व्यवस्था की शक्ति नहीं हैं तो किसी योग्य व्यक्ति की सहायता लो। यदि तुम्हारी योजना व्यवस्थित होगी तो कर्मचारी किस प्रकार अविश्वासपूर्वक कार्य कर सकेंगे? कर्मचारी छल तभी करते हैं, जब उनका मालिक या अध्यक्ष अयोग्य हुआ करता है। यदि मालिक योग्य और कुशल हुआ तो वे स्वयं ही उसे आदर और मान की दृष्टि से देखते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को कुछ दिन तक कसौटी पर खरा उतारने की चेष्टा करो। अविश्वास हो तो तुरन्त सम्पर्क त्याग दो। यदि विश्वासपात्र हुआ तो उसकी सेवाओं का सदुपयोग करो।

सन्देह की एक सीमा होती है, जिसे सावधानी अथवा तीक्ष्ण दृष्टि कहते हैं; वह जरूरी होनी चाहिये। पर सीमा का अति-क्रमण किया गया तो सर्वत्र छली और अविश्वासी व्यक्ति ही दिखलाई देंगे; ढाई अरब व्यक्तियों में किसी पर भी विश्वास नहीं हो सकेगा। अतः मध्यम मार्ग को चुनो।

असहिष्णुता

असहिष्णुता कई प्रकार की होती है; जैसे धार्मिक असहिष्णुता, साम्प्रदायिक असहिष्णुता, राष्ट्रीय असहिष्णुता, आदि। जो भी हो, असहिष्णुता मनुष्य की नीच वृत्ति का नग्न नृत्य है।

छोटी सी बात या वस्तु के लिए निरर्थक घृणा भी असहिष्णुता है। सिख सम्प्रदाय के लोग मद्यपान कर लेते हैं। किन्तु दूसरों को धूम्रपान करते देख कर आपे से बाहर हो जाते हैं। दक्षिणी ब्राह्मण अपने आप तो शास्त्र-निषिद्ध कर्म मन भर करते रहेंगे किन्तु किसी काश्मीरी ब्राह्मण को मांस खाते देख असहिष्णुतावश आपे से बाहर हो जायंगे। मद्रासी ब्राह्मण स्वयं होटलों में भोजन करने में कुछ सी विचार नहीं करेगा, पर बङ्गाली ब्राह्मण को मछली खाते देख जल-भुन उठेगा। यह असहिष्णुता है।

मनुष्य की इस दुनियाँ में सब झगड़ों और अशान्ति की जड़ असहिष्णुता है। अंग्रेज लोग आयरलैण्ड या जर्मनी के निवासियों को पसन्द नहीं करते। एक हिन्दू मुसलमान के प्रति असहिष्णु रहता है और मुसलमान भी। आर्यसमाजी और सनातनी भी आपस में असहिष्णुता का व्यवहार करते हैं; एक की बातें दूसरे

को सहन नहीं होती। यह सब अज्ञान के कारण होता है। यदि अज्ञान न रहे तथा ज्ञान के प्रकाश में मनुष्य आत्मा को सर्वत्र देखने लगे तो वह क्यों किसी के प्रति असहनशील और अनुदार रहेगा? दिल खोलो, उसे उदार बनाओ, छाती को खूब फैलाओ। उस विशाल छाती में सब को पाशावद्ध करो। सब को अपने प्रेम का भागी बनाओ। सबसे प्रेम करो। सबमें भगवान् के दर्शन करो। यह जानो कि वह शक्तिमय सत्ता कण-कण में व्याप्त है। अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करो। मुक्त-सिद्धान्ती बनो, नम्र विचारवादी बनो। मनुष्य-मनुष्य के बीच खड़ी हुई, चाहे लोहे की दीवार ही क्यों न हो, उसे तोड़ दो। आत्मा का आनन्द ले कर, सबके सिद्धान्तों, विचारों और कर्मों के प्रति उदार बनो, प्रत्येक के सिद्धान्तों को स्वीकार करो। जो ठोकरें खा-खा कर गिर रहे हैं, उन्हें क्षमा करो। जीवन का मार्ग बड़ा बीहड़ है, गिरना स्वाभाविक है; अतः गिरने वालों को गलत न बतलाओ; क्योंकि तुम्हें पता नहीं कि तुम भी गिर रहे हो, तुम्हें भी ठोकरें लग रही हैं। दूसरों की गलतियों को पहले तो भूल जाओ, अन्यथा माफ अवश्य करो। जो गलती करते हैं, वे दया के पात्र हैं, न कि घृणा या दण्ड के। तुम भी गलती करते हो, तुम्हें मालूम नहीं; दूसरों से यह बात पूछ लो। कहा न है कि घृणा गलती करने वाले से न करो, बल्कि गलती से।

यदि दिल को उदार और छाती को चौड़ी बना सकोगे तो निःसन्देह इस जीवन में तो सफल बनोगे ही, दूसरे जीवन में भी सफलता के मार्ग को प्रशस्त हुआ देख सकोगे।

असहिष्णुता के निवारण के लिए सहिष्णुता का गुण विकसित करो। यदि धार्मिक असहिष्णुता है तो सब धर्मों के

पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन करो ; उन-उन धर्म के नेताओं का सङ्ग करो। उनके प्रति भाईचारे का भाव बनाए रखो (यदि आत्म-भाव की सम्भावना सफल न हो तो)। इसी प्रकार अन्य मतावलम्बियों, विचारवादियों, सिद्धान्त पोषकों और राजनीतिज्ञों के प्रति अपना सद्भाव बनाए रखो। दूसरे के अवगुणों को स्वप्न में भी प्रकट न करो। तुम्हें दूसरों के अवगुणों के प्रकट करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई तुम्हारे अवगुण ढूंढ़ निकाले तो तुम्हें क्या अनुभव होगा ? वही अनुभव क्या उसे नहीं होगा ?

नित्यप्रति कुरान, बाइबिल्, ज़ेन्द अवेस्ता, त्रिपिटक आदि ग्रन्थों का अध्ययन करो। सब जाति के लोगों के साथ मिल कर काम करो। भेद-भाव की भावना को तिलाञ्जलि दे दो।

आत्महीनता की भावना (आत्मलघुत्व)

बड़प्पन और क्षुद्रता की भावना सर्वथा मन पर ही अवलम्बित है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि हीनचरित्र मनुष्य भी प्रयत्न करने से गौरवशाली बन सकता है और संघर्ष के अनन्तर गुणशाली बन सकता है। गौरवशाली व्यक्ति भी, यदि वह सम्पत्ति से हीन हो जाता है और बुरे मार्गों का अवलम्बन करने लगता है तो क्षुद्रता को प्राप्त हो जाता है। न तो बड़प्पन की भावना और न आत्मलघुत्व का निश्चय ही होना चाहिए। दोनों भावनाएं विनाशकारी हैं। अपने को बड़ा समझने वाला मनुष्य जरूर दूसरे को अपने से नीचा समझेगा और वैसा ही उसके साथ व्यवहार भी करेगा। इसी प्रकार अपने को गया-बीता समझने वाला व्यक्ति हर अवस्था में दूसरों के सामने अपने को

दबाए रखेगा; जिससे उसके अस्तित्व का नाम और निशान भी मिट जाता है।

इन दोनों भावनाओं के निराकरण के लिए हमारे शास्त्रों ने समदृष्टि का उपदेश दिया है। जो मनुष्य इन दोनों भावनाओं से असंस्पृष्ट रहता है, वह समदृष्ट है। गीता में यह सिद्धान्त निश्चित रूप से उपदिष्ट किया गया है कि विद्वान् लोग ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और वेश्या—सभी में समान दृष्टि रखते हैं। नामदेव कुत्ते के पीछे, जब वह रोटी को ले कर भागा जा रहा था, स्वयं भी घी ले कर भागे; यह सोचते हुए कि रोटी कड़ी है, बेचारे श्वान-भगवान् को खाने में तकलीफ होगी—अतः घी लगा दिया जाय तो मुलायम हो जायगी। भागते हुए वे कहते जाते थे—"हे विट्ठल! तुम इस रूप में आए हो। इस सूखी रोटी से तुम्हारे गले में चोट लगेगी। प्रार्थना है इसमें घी लगाने दो।" एकनाथ की कथा भी इसी प्रकार है। वे गङ्गोत्री का जल ले कर दक्षिण में रामेश्वर भगवान् के अभिषेक के लिए जा रहे थे तो उन्हें पथ के किनारे एक गधा प्यास से तड़पता हुआ मिला। आत्मा में गधा और ब्राह्मण का भेद-भाव कहाँ? उन्होंने अभिषेक की अपेक्षा इस भगवान् (गधा) को जल पिलाना उचित समझा और पिला दिया। यह है समदृष्टि का एक उदाहरण, जिसकी आज के विश्व में कमी है, फिर भी लोग एकता के धागे को जोड़ने का विफल प्रयास कर रहे हैं। विलियम हैज़ेलिट् नामक विख्यात प्रबन्धकार ने कहा—"दूसरे मनुष्यों में आत्मलघुत्व की भावना, आत्म-मोह से आवृत्त हो कर, सुख की नहीं दुःख की ही भावना है।"

अतः अपने दृष्टिकोण को ही बदल डालो। न तो किसी को नीच समझो और न अपने को ही गया-बीता। किन्तु न

तो अपने को सब में बड़ा समझो और न दूसरों को दासता के भाव से देखो। एक मध्यम भाव है, उसका व्यवहार करो कि समस्त जगत् में समानता है। आब्रह्मकीटपर्यन्त सभी एक ही श्रेणी के हैं; न तो तुम सबसे बड़े हो और न दूसरे ही तुम से गये-बीते। न तो दूसरों का अपमान करो और न दूसरों से मर्यादित और सम्मानित होने की आकांक्षा ही रखो। आत्म-हीनता कार्य के आरम्भ में ही रोड़े अटका देती है और आत्म-बड़प्पन कार्य को बुरी तरह से विफल कर देता है।

उदासीनता

कहते हैं कि उदास व्यक्ति अपने चारों ओर उदासीनता के वातावरण का निर्माण करता है। उदासीनता के कारण उसका मन किसी भी कार्य में निरत नहीं रह सकता। यह कहना जरूरी होगा कि उदास व्यक्ति आलसी और काहिल ही रहता है।

चित्त के खिन्न होने से शक्ति भी खिन्न हो जाती है। जिस प्रकार घड़े में छिद्र हो जाने से उसके पानी का चू जाना अनिवार्य और सम्भव हो जाता है, उसी प्रकार चित्त के खिन्न हो जाने से मनुष्य की सभी शक्तियाँ खिन्न हो जाती हैं।

खिन्न चित्त वाले व्यक्ति को हँसमुख लोगों की सङ्गति में रहना चाहिये। उसे अकेले में नहीं रहने देना चाहिये। अकेले में रहने से मन उदास बन जाता है। सङ्ग में रहने से चित्त को एक आधार मिलता है। सदा प्रसन्न-चित्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रसन्न-चित्त कैसे रहा जाय, वह तुम्हें स्वयं ही मालूम हो जायगा। कुछ अवसर निकालो, जब तुम जोरों

से कुछ देर हँस सको। हँसना एक कला है, जिससे उदासीनता का निवारण होता है। हँसने से चित्त खुलता और दिमाग में से बादल हट जाते हैं। हँसना एक औषधि है।

अनिश्चय

कुछ लोग जरूरी मामलों में भी कुछ निश्चित नहीं कर पाते। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति का अभाव है। व्यर्थ ही किसी कार्य को आगे बढ़ाते चलना उनका स्वभाव हो जाता है; क्योंकि वे नहीं जानते कि किस प्रकार उस कार्य की पूर्ति की जाय। वहुत सोच-विचार करने पर भी वे सन्दिग्ध ही रहेंगे। अनिश्चयपरता के कारण उनको अनेकों स्वर्ण-अवसरों से हाथ धोना पड़ता है।

अतः अपने सिद्धान्तों का निश्चय कर लेना चाहिए। जब किसी बात का निश्चय करना हो तो कुछ देर के लिए अच्छी तरह सोच-विचार लो, तभी अपना निश्चय प्रकट करो। उस निश्चय को बदलो नहीं और न उसके लिए पछताओ ही। सोच-विचार की भी सीमा होती है। घण्टों तक सोचते रहने से कोई फल नहीं मिलता। आवश्यकता है प्रतिभाशालीनता और विवेक-शक्ति की।

यदि बात जरूरी हो तो अपने बड़ों की राय लो और तदनुसार ही कार्य करो।

असावधानी और विस्मृति

असावधानी और विस्मृति दो प्रकार की चारित्रिक निर्बलताएं हैं। लोग असावधान रहते हैं, अतः उन्हें व्यवसाय में

हानि उठानी पड़ती है। असावधान कोषाध्यक्ष गिनने में गलती कर बैठता है। लापरवाह प्रहरी अनेकों की हानि के लिए उत्तरदायी होता है। लापरवाही समाज की बड़ी बुरी और प्रचलित निर्बलता है। मनुष्य की कई निर्बलताओं का आरम्भ राजसिक गुणों से होता है, पर यह दो निर्बलताएं तामसिक गुण से पैदा हुई हैं। शायद लापरवाह आदमी ही जल्दी-जल्दी भूलने वाला होता है। भूलने का कारण उसकी लापरवाही है। दूसरे शब्दों में लापरवाही भूलने का ही रूपान्तर है।

भूलने वाला व्यक्ति और लापरवाह आदमी दिल लगा कर कोई काम नहीं किया करते और किसी बात पर ध्यान नहीं दे सकते। ऐसे व्यक्ति सदा चाबियाँ, जूते, छाता और फाउन्टेन-पेन खोते रहते हैं। समय पर कार्यालय में रिकार्ड-विशेष के कागज प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं। उन्हें याद नहीं रहता कि अमुक कागज कहाँ पर रखा था; क्योंकि कागज रखते समय उन्होंने विशेष परवाह नहीं की होगी।

इस निर्बलता से छुटकारा पाने के लिए स्मरण-शक्ति की वृद्धि करनी होगी। जैसे पहले बताया जा चुका है, उन तरीकों से स्मरण-शक्ति का अभ्यास करो। स्मृति के विकास के साथ-साथ एक तीव्र इच्छा होनी चाहिए कि इन निर्बलताओं का निराकरण किया जाय। जब तक इनके निराकरण की तीव्र इच्छा न होगी, तब तक तुम कृतकार्य नहीं हो सकोगे।

जो लोग अक्सर भूल जाया करते हैं, उन्हें रुपये-पैसे अन्दर की जेब में रखना चाहिए। अन्यथा खो जाने का भय रहता है।

आँख की ऐनक बगल की जेब में सँभाल कर रखी जानी चाहिए। लापरवाही को दूर करने का एक अभ्यास है कि अपनी हर एक बात को प्रतिदिन रात के समय एक डायरी में नोट करते जाओ। दिन में जो-जो विशेष घटनायें हुई हैं, तुम्हारे मन में जैसे विचार आए, उन सब को रोजाना लिखते जाओ। एक दैनन्दिनी रखने से लापरवाह आदमी भी अपने को सुधार सकता है।

आत्म-संशय

जिन लोगों को अपने पर विश्वास नहीं होता, वे शक्ति, योग्यता और अन्य गुणों से सुसज्जित रहते हुए भी संशयात्मा रहते हैं। अपनी योग्यताओं और शक्तियों पर उन्हें पूरा विश्वास नहीं होता कि 'सफलता मिल भी सकेगी या नहीं?'

बहुत लोगों में भाषण की शक्ति और योग्यता रहती है, उनकी भाषा और उनके भाव दोनों ही परिमार्जित रहते हैं; किन्तु उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि 'वे व्याख्यान भी दे सकेंगे या नहीं।' उनका यही विचार होता है कि वे व्याख्यान नहीं दे सकेंगे। जब उनके मन में इस प्रकार का असत्-विचार आता है तो वे आत्म-संशयी हो जाते हैं। अपनी योग्यताओं और शक्तियों को न जान कर, उनका उपयोग नहीं कर सकना अथवा उपयोग करने की क्षमता का अपने में अभाव समझना आत्म-संशय है। इस बात पर पूर्ण विश्वास होना, कि 'अमुक कार्य हम अच्छी तरह कर सकेंगे'— आत्म-विश्वास है।

विफलता का कारण योग्यता के अभाव में नहीं, आत्म-विश्वास के न होने से है। बहुत लोग कम योग्य होते हैं, किन्तु

उनमें साहस की प्रचुरता होती है। वे अग्रगामी होते हैं। आत्म-विश्वास ही मैदान में उनकी मदद करता है। उनके पास जोरदार मसाला न भी हो, पर लोग उनसे प्रभावित हो जाते हैं। आत्म-विश्वास का ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव है।

मैंने कई कथावाचकों को देखा है, जो दिन में कई रुपये रामायण के अशुद्ध उच्चारण से ही कमा लेते हैं; कई गायकों को देखा है, जो कम योग्य होते हुए भी काफी कमा लेते हैं। उनमें आत्म-विश्वास की इतनी प्रचुरता होती है कि वे १०-१२ हजार जनता के सामने खुले दिल से बोलते और गाते हैं। इसके विपरीत कुछ महात्मा संन्यासी लोग योग्य और धुरन्धर पण्डित हैं, जो किसी भी विषय को अच्छी तरह समझा सकते और लोगों के सन्देहों का निवारण भी करसकते हैं; किन्तु आत्म-अविश्वास के कारण वे मञ्च पर हार खा जाते हैं, दो-चार सौ लोगों को भी सहन नहीं कर सकते। बहुत से तो डर के कारण व्याख्यान देने उतरते भी नहीं।

आत्म-विश्वास में महान् शक्ति है, जो व्यक्ति के माध्यम से प्रस्फुरित होती हुई दूसरों को प्रभावित करती है। तुम जो काम कर रहे हो, पूर्ण विश्वास के साथ करो कि तुम सफलता प्राप्त कर सकोगे। संशयात्मा का विनाश होता है, संशयपूर्वक काम करने से सफलता की प्राप्ति अतिदुस्तर है। विपरीत और असत्, शङ्कायुक्त और अविश्वासपूर्ण विचारों को अपने अन्दर स्थान न दो। 'योग्य व्यक्ति ही सफल होते हैं'—यह कहना उचित नहीं; किन्तु 'आत्म-विश्वासी, आत्म-संशयरहित व्यक्ति ही सफल होते हैं'—यह कहना ठीक है। आत्म-विश्वास को सफलता की कुञ्जी कहा जाय तो अनुचित न होगा।

यदि योग्य व्यक्ति आत्म-विश्वास के अभाव में व्याख्यान देने का साहस नहीं करता तो उसके साथ व्यक्तिगत बातचीत करो और उसकी बातचीत को व्याख्यान के रूप में उतार लाने के लिए प्रयत्न करो। इस प्रकार कुछ दिनों में एक-दो-तीन कर, उपस्थित लोगों की संख्या बढ़ा दो। पहले केवल परिचित लोग ही; फिर धीरे-धीरे मित्रों को उस बातचीत में शामिल होने के लिये कहो। दो-चार महीनों में जब वह संख्या धीरे-धीरे बढ़ती हुई २०-३० तक पहुँच जायगी तो उस व्यक्ति को स्वयं अपने स्रोत का पता चल जायगा; उसमें आत्म-विश्वास की ज्योति निखरने लगेगी। किन्तु बातचीत करते समय उसका खण्डन न करो। भले ही वह कभी अयुक्त बात कह दे, चुप ही रहो।

कपट या कुटिलता

यह दुर्गुण है। यह प्रायः सभी व्यक्तियों में वर्तमान रहती है। निष्कपट व्यक्ति बिरले ही होते हैं। कपट, कुटिलता, व्यभिचार या धूर्तता लगभग एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। कुटिलता लोभ और लालसा की दासी है। जहाँ कुटिलता हुई, कपट हुआ, वहाँ दोहरी नीति, कूटनीति, ठगपन्थी, धोखा, जालसाजी, खुशामद आदि पनपते हैं। इन्हें कपट का सैन्यदल कहना चाहिये। लोभ कामवासना का मुख्य कार्यवाहक है। कामवासना की तृप्ति के लिये सभी प्रकार की कुटिल नीतियों का सहारा लिया जाता है। यदि काम और लोभ का निराकरण कर दिया जाय तो मनुष्य निष्कपट हो जाता है। कपटी व्यक्ति जीवन में सफल नहीं बन सकता। कभी-न-कभी उसकी कुटिल नीति और बेईमानी का पता दूसरों को चल

जायगा। समाज द्वारा तिरस्कृत और प्रतिप्रवासियों द्वारा निन्दित मनुष्य किस प्रकार सफलता प्राप्त कर सकता है।

कुटिल व्यक्ति झूठ बोलने और घूस स्वीकार करने में तनिक भी नहीं झिझकता। एक झूठ को ढँकने के लिए दस झूठ और दस झूठों पर मिट्टी डालने के लिए पचास झूठ बोलना उसके स्वभाव का लक्षण ही हो जाता है।

इसलिए पवित्र बनो, निष्कपट बनो, ईमानदार बनो। ईमानदारी नीति नहीं, सद्गुण है। जो कुछ भाग्य में मिलना बदा है, उसी पर सन्तुष्ट रहो; अपवित्र आचरण द्वारा धनार्जन की चेष्टा न करो। तृष्णा का परित्याग करो। साधारण जीवन, जिसमें सन्तोष भी हो, व्यतीत करो।

घूसखोरी का अभिशाप

भारत में घूसखोरी की प्रथा-सी चल पड़ी है। घूसखोरी को रोकने वाले ही इस प्रथा के संरक्षक और सञ्चालक हो चुके हैं। उनके ही तत्त्वावधान में यह प्रथा जोर पकड़ती जा रही है। पद-पद पर उसका मार्ग साफ हो रहा है। मालिक घूस खाना चाहता है, बाबू घूस लेना चाहता है, चपरासी घूस की ही आशा करता है। सौदागर घूस देना चाहता है, अपराधी घूस देना चाहता है, नियमोल्लङ्घी घूस देना चाहता है। इस प्रकार घूसखोरी का बाजार निरन्तर गरम होता जा रहा है।

किसी के पास जा कर पूछिए, "भाई, तुम्हारी आय कितनी है?" उत्तर मिलेगा, "वेतन तो ५० रूपये हैं, पर कुल आय ७५ तक-हो जाती है।" यह आय कहाँ से? यही घूसखोरी की आय है।

आज समाज अन्धा हो चला है, पद-पद पर ठोकर लग रही है, पर उठाने वाले को ही कोसता है। इन शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्तियों को कर्म और उनके प्रतिफल, संस्कार और उनकी क्रियात्मकता पर विश्वास नहीं है। यदि तुम घूस लोगे तो तुम्हें कठोर दण्ड का भागी बनना पड़ेगा और तुम्हारे चित्त में जिस संस्कार का बीज पड़ जायगा, वह दूसरे जन्मों में भी तुम्हें घूसखोर बनाएगा।

मनुष्य जो कुछ करता है, उसका प्रतिविम्ब उसके अधिमानस पर प्रत्यङ्कित हो जाता है। उसके विचार भी अमिट रूप धारण कर उसके अधिमानस पर अङ्कित हो जाते हैं, जैसे बाहरी दृश्य फिल्म की निगेटिव् प्लेट् पर और वही संस्कार, यदि उनके क्षय का आयोजन नहीं किया गया तो, जन्म-जन्मान्तर मनुष्य के साथ-साथ चलते हैं। जिस प्रकार निगेटिव् प्लेट् को डेवेलप् कर प्रिन्टिङ्ग पेपर पर छापा जाता है, उसी प्रकार यह संस्कार भी दूसरा शरीर प्राप्त करते ही अपना विशेष स्वरूप धारण कर प्रत्यक्ष हो जाते हैं तथा उस शरीर के विचार, वचन और कर्मों को प्रभावित करते रहते हैं; या यों कहिए कि उनका निर्धारण करते रहते हैं। इस प्रकार यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध न किया जाय और संस्कारों को समूल नष्ट न कर दिया जाय।

इसके लिए अपनी जरूरतों को कम कर देना चाहिए। जरूरतों को कम कर देने से निष्कपट जीवन व्यतीत करने में सरलता होती है। निष्कपट जीवन वही बिता सकता है, जिसकी जरूरतें कम हों। जिसकी जरूरतें ज्यादा होंगी, वह

अवश्य ही प्रतिकूल और अनुपयुक्त नीति का अवलम्बन करेगा। शक्ति के अनुसार अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करो। चादर के अनुसार पैर फैलाओ और वस्त्र के अनुपात से कोट का कपड़ा काटो; तभी निष्कपटता की सम्भावना रहती है। व्यक्ति की बुद्धि पवित्र हो जाती है; वह चिन्ता, आकुलता और व्याकुलताओं से विमुक्त हो जाता है और शान्तिपूर्वक प्राण छोड़ता है।

यह प्रकृति का नियम है। इस नियम की वञ्चना नहीं की जा सकती। इस नियम के अनुसार चलोगे तो प्रकृति का सहयोग पा सकोगे। यदि नहीं तो प्रकृति विरोध अवश्य करेगी। अतः जिस क्षण तुम इन पंक्तियों को पढ़ रहे हो, उसी क्षण से निष्कपट और सत्यशील वन जाओ। जिन-जिन व्यापारों से तुम्हारे अन्दर इन दुर्गुणों का समावेश होता है, उनसे दूर ही रहो। न तो उनको अपने पास आने दो और न तुम ही उनके पास जाओ। ऐसा कार्य ही क्यों किया जाय, जिससे दुर्गुणों को प्रोत्साहन मिले। संसार में क्या अच्छे व्यापारों की कमी है?

मैं तो सब से यही कहूँगा कि संसार में कोई भी व्यापार बुरा नहीं। बुराई तो इन दुर्गुणों में है, जिनको अपने चरित्र के साथ एक कर देने से हम व्यापार को प्रभावित कर देते हैं। सच्चा व्यक्ति कोई भी व्यापार करे, अच्छी तरह ही करेगा और बुरा व्यक्ति साधुता का ही व्यापार क्यों न करे, वहाँ भी दुर्गुणों का ही प्रदर्शन करेगा। इसलिए अपने दृष्टिकोण और अपने जीवन की व्यवहार-धारा को ही वदल डालो। आध्यात्मिक मार्ग की क्या पूछते हो, सांसारिक मार्ग में सफल पथिक वनने के लिए

भी तुम्हें इस दुर्गुण से छुटकारा पाना होगा और अन्य सद्-गुणों को अपने अन्दर भरना होगा।

निष्कपट बनने के लिए पहिले कुछ-न-कुछ बलिदान अवश्य करना पड़ता है। पर वह बलिदान भी एक प्रकार की उपार्जना है, जिसका शुभ उपयोग बाद में सिद्ध होता है। इस बलिदान का अर्थ 'अपने अन्दर जो नहीं होना चाहिए, उसको हटा देना' है। बलिदान देने से यह अर्थ होता है कि व्यक्ति अपने बुरे चरित्र का बलिदान करे।

जीवन तो तभी सफल हो सकता है, जब व्यक्ति साफ और निष्कपट हो।

घृणा

घृणा को भी चारित्रिक दुर्गुण जानना चाहिए। संसार में आज सर्वत्र घृणा का ही प्रभाव छा रहा है। घृणा के अभाव में युद्ध और द्वन्द्व नहीं होते; केवल प्रेम ही होता है। वैसे तो पिता पुत्र को स्नेह की दृष्टि से देखता है, स्त्री पति को और इसी प्रकार मित्र मित्र को। किन्तु उनमें सच्चे प्रेम का अभाव है; इसी कारण स्नेह रहते हुए भी एक-दूसरे से मन ही मन में घृणा करते हैं। पुत्र पिता से घृणा करता है, अतः विष का प्रयोग कर पिता का प्राणान्त कर देता है। स्त्री अपने पति को विष दे कर मार डालती है और दूसरे नवयुवक से शादी कर लेती है। भाई-भाई अदालतों में मुकद्दमा लड़ रहे हैं; एक दूसरे का गला काटने पर उतारू हैं। मुसलमान हिन्दू से घृणा करते हैं और हिन्दू मुसलमान से। घृणा के फलस्वरूप पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का विभाजन हुआ। पाकिस्तान में

ग्रल्पसंख्यक हिन्दुग्रों को सदा भयभीत रहना पड़ता है। इधर मुसलमानों को भी सदा यही शङ्का बनी रहती है। यदि दोनों सम्प्रदायों में घृणा न होती तो क्या विभाजन सम्भव होता?

'घृणा' शब्द व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक ग्रौर सार्वभौम है ग्रौर तदनुसार ही इसका प्रभाव भी। सामाजिक घृणा से समाज में फूट का जन्म होता है। राजनीतिक घृणा से युद्ध होते हैं ग्रौर सार्वभौम घृणा से ग्रशान्ति ग्रौर रक्त-प्लावन। घृणा न होने पर सर्वत्र प्रेम रहता है; व्यक्ति, समाज, राष्ट्र ग्रौर विश्व के सभी प्राणी शान्तिपूर्वक रहते हैं।

गुरु नानक ग्रौर कबीर तथा महात्मा गान्धी जी ने भरसक प्रयत्न किया कि दोनों जातियाँ परस्पर घृणा-भाव का त्याग करें। पर वे विफल हुए। जो सफलता मिली वह विफलता का छद्मवेष है।

घृणा के निवारण के लिये वेदान्त का ग्रवलम्बन लेना होगा; क्योंकि जो व्यक्ति प्राणीमात्र तथा ग्रणु-ग्रणु में ग्रात्मा को ही देखता है, वह किस प्रकार किसी से घृणा करेगा? स्कूलों ग्रौर उच्चतम विद्यालयों में वेदान्त के सिद्धान्तों की विधिपूर्वक शिक्षा दी जानी चाहिये, जो व्यावहारिक हो। जितनी जल्दी यह कार्य हाथों में लिया जायगा, उतनी ही सफलता से हमारा उद्देश्य भी पूरा हो सकेगा। बाल्यकाल से ही बच्चों में ग्रच्छे ग्रौर स्वस्थ संस्कार बो देने चाहिये। बालकों को स्कूली शिक्षा के साथ-साथ मानव-सेवा-भाव की भी शिक्षा दी जानी चाहिये। स्कूली शिक्षा उतनी ग्रावश्यक नहीं, जितनी सेवा-भाव की शिक्षा है। इससे ही विश्व का सच्चा कल्याण हो सकेगा। विश्व-प्रेम के सिद्धान्तों को बक देने मात्र से राज-

नेताओं का कर्त्तव्य पूरा नहीं होता, न केवल अपने जीवन में व्यवहृत करने से यह कार्य पूरा हो सकता है; बल्कि शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपना लक्ष्य बना कर सफल योजनाओं को जन्म देना होगा जिससे कार्य की सम्पूर्ति हो सके।

यदि अधिकारीवर्ग समय पर चेत गया तो प्रेम की शिक्षा स्कूलों में भी दी जा सकती है। प्राचीन काल के गुरुकुल इसी शिक्षा के प्रचारक थे।

योग-दर्शन के अनुसार घृणा का निवारण प्रेम के अभ्यास से किया जा सकता है। घृणा उस व्यक्ति में रह ही नहीं सकती, जो प्रेम का अभ्यास कर रहा हो। परोपकारी, सन्त पुरुष और उदार-हृदय व्यक्ति में घृणा का अभाव रहता है। सद्गुणों के उपार्जन से घृणा का निराकरण किया जा सकता है।

अपने मित्रों से तो प्रेम-व्यवहार करो ही, अनजान व्यक्ति से भी अवश्य ही करो। प्रेम का प्रदर्शन, जब अवसर मिले जरूर करो। किसी से कटु वचन न बोलो, किसी को गाली न दो और किसी का बुरा न सोचो। निन्दा का भी प्रतिकार न करो। प्रतिहिंसा की भावना तक का परित्याग करो।

ईर्ष्या, घमण्ड और पाखण्ड

ईर्ष्यालु न तो स्वयं शान्त रहता है और न दूसरों को ही शान्त रहने देता है। ईर्ष्या नीच वृत्ति है। साधारण व्यक्तियों की क्या पूछते हो, संन्यासी और सुशिक्षित समाज भी इससे मुक्त नहीं है। सम्प्रदायों और मनुष्य-समाज में अशान्ति और युद्ध केवल इसी पिशाच-वृत्ति के कारण हुआ करता है।

ईर्ष्यालु व्यक्ति जब अपने पड़ोसी को समृद्ध देखता है तो उसका दिल जलने लगता है। यही अवस्था राष्ट्रों और विभिन्न जातियों की है।

ईर्ष्या का परिहार महानता और विशाल-चरित्र से किया जाता है। निर्द्वन्द्ववृत्ति भी इसके परिहार में अपना सहयोग देती है।

नम्रता का अभ्यास करो। बड़ों का आदर करो और छोटों से प्रेम। योग्य व्यक्तियों को उचित स्थान दो। उनके आते ही खड़े हो जाओ। इस अभ्यास से घमण्ड का परिहार किया जाता है। अपने गुणों और धन का घमण्ड न करो।

पाखण्ड का खण्डन तुरन्त कर देना चाहिये। दिल साफ रखने से पाखण्ड को स्थान नहीं मिलता। सात्त्विक जीवन और सात्त्विक विचार हों तो पाखण्ड को सिर उठाने का अवसर नहीं मिलता।

अन्दर कुछ और तथा बाहर कुछ और—ऐसा ठीक नहीं। दम्भ से तो अपनी ही हानि होती है। बनावटी चरित्र किस काम का और बनावटी बातें किस काम की। छलपूर्ण व्यवहार से जब कुछ लाभ नहीं मिल सकता, तो क्यों नकली आचरण करना? सच्चे बने रहने में क्या हानि है? 'घर के अन्दर सब कुछ और बाहर चोटी-जनेऊ'—से ब्राह्मणत्व सिद्ध नहीं होता। 'कुटिया के अन्दर काश्मीरी शाल और बाहर केवल लँगोटी बाबा'—यह भी उचित व्यवहार नहीं है। तुम जो अन्दर से हो, उसे ही बाहर प्रकट होने दो, ताकि लोग तुम्हारा चुनाव करें, तुम्हें अपनी कसौटी पर कसें।

क्रोध पर विजय

मानस-सरोवर में क्रोध एक वृत्ति के समान लहराती है। जब रजस् और तमस् दोनों गुणों की क्रीड़ा होती है, तब मानस-सरोवर में यह लहर जागती है। कुछ लोग इसे केवल रजोगुणसमुद्भव मानते हैं और दूसरे रज-तमोगुणसमुद्भव मानते हैं। जब एक व्यक्ति दूसरे के प्रति असद्भावना से भर जाता है, तब अन्तःकरण से क्रोध की धूम्रकालिमा जागती है। दूसरे शब्दों में यह इच्छा या कामवासना का ही रूपान्तर है। जिस प्रकार दूध का रूपान्तर दही में हो जाता है, उसी प्रकार इच्छा ही क्रोध का रूप धारण कर लेती है। शान्ति, ज्ञान और भक्ति से इसका जन्मजात ही नहीं पूर्वजन्मान्तरीय वैर भी है।

अर्जुन ने श्री कृष्ण से पूछा था कि 'वह कौन शक्ति है जो मनुष्य को अपराध या पाप करने पर विवश करती है?' तब भगवान् कहते हैं कि 'कामना और क्रोध, जो रजोगुण से उत्पन्न हुए हैं, समस्त पापों के मूल हैं।' अन्यत्र भगवान् कहते हैं कि नरक के तीन मुख्य द्वार हैं, काम, क्रोध और लोभ। इन तीनों का त्याग करने से नरक के द्वार को बन्द किया जा सकता है।

क्रोध का निवास स्थूल शरीर में नहीं, लिङ्ग शरीर में है; किन्तु जैसे पानी घड़े के छेदों से निकलता है, उसी प्रकार यह भी स्थूल शरीर में प्रकट होता है।

क्रोध से आठ दुर्गुणों का जन्म होता है। अतः क्रोध का दमन किया जा सका तो अन्याय, ईर्ष्या, परधनहरण, हत्या,

कठोर शब्द, निर्दयता, उतावलापन और उपद्रव—इन आठों का दमन अवश्य हो जाता है।

जब व्यक्ति की इच्छा पूरी नहीं होती और जब कोई उस इच्छा की पूर्ति के मार्ग पर रोड़ा बन कर खड़ा हो जाता है तो क्रोध का आवेश व्यक्ति की रग-रग को प्रभावित कर देता है। इच्छा क्रोध के रूप में बदल जाती है। क्रोधावेश द्वारा प्रभावित हो जाने पर वह हर प्रकार के नृशंसात्मक कार्य करता है। उसकी स्मृति का विलोप हो जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और प्रतिभा कुण्ठित। कहा है—

"क्रोध से होता है सम्मोह और सम्मोह से स्मृति का विभ्रम। स्मृति विभ्रमित हुई तो बुद्धि का नाश निश्चय है, बुद्धि के नाश से हरि ॐ तत्सत्।"

क्रोधावेश में मनुष्य हत्या करता है। भावुकता और उद्रेक से वह पागल-सा हो जाता है। क्रोध आ जाने पर व्यक्ति मुँह से क्या-क्या बातें नहीं निकालता, क्या-क्या अशब्द नहीं बोलता? एक कटु शब्द, तीखा और चरपरा--अन्त में युद्ध और मारपीट की नौबत ले आता है।

जल-भुन जाना, आग-बबूला हो जाना, आवेश, रोष, उत्पात, चिढ़ जाना, दिमाग का चढ़ जाना, दिमाग का गरम हो जाना—यह सब क्रोध के रूप-रूपान्तर हैं। प्रत्येक की तीव्रता विशेष अनुपात को ले कर होती है।

जब एक व्यक्ति दूसरे को सुधारने के लिए और उसकी गलतियों को रोकने के लिए क्रोध प्रकट करता है तो उसमें

स्वार्थ का पुट नहीं होता; अतः उसे उचित क्रोध कहा जाता है। मान लो कोई व्यक्ति किसी स्त्री के साथ दुर्व्यवहार करते हुए, लोगों द्वारा रोका जाता है, उस समय उन लोगों को जो क्रोध आता है, उसे रोष कहा जाता है। केवल स्वार्थसहित और लालचजन्य क्रोध अनुचित है। कभी-कभी गुरु को शिष्य पर क्रोध प्रकट करना पड़ता है, जब वह गलत रास्ते पर जा रहा हो। अन्दर तो वह शान्त रहता है, पर बाहर से वह केवल शिष्य के कल्याणार्थ क्रोधित; अतः उसके अन्तःकरण पर प्रभाव नहीं पड़ता। पर यह सावधानी रखनी चाहिए कि वह क्रोध देर तक न रहे, अन्यथा उसका अङ्कुर अन्तःकरण में जम जायगा। जिस प्रकार समुद्र की लहरें आती और दब जाती हैं, उसी प्रकार सुधार-साधन के रूप में क्रोध आ भी जाय तो उसको तुरन्त रोक देना चाहिए।

थोड़ी-थोड़ी सी बातों के लिए यदि क्रोध आ जाता है तो मानसिक निर्बलता के लक्षण तुरन्त जान लो। जब कोई व्यक्ति तुम्हारा अपमान करता है, तुम्हें गालियाँ सुनाता है और तुम्हारे वस्त्र भी खोल लेता है और यदि तुम तब भी शान्त और निर्लिप्त रह सको तो जान लो कि तुम्हारी आन्तरिक शक्ति प्रबल है; क्योंकि आत्म-नियन्त्रण और आत्म-संयम मानसिक सफलता का सूचक है। जो जल्दी-जल्दी आपे से बाहर हो जाता है, वह अन्याय-चरित्र से प्रभावित रहता और उद्वेगों तथा भावनाओं की धारा में बहने लगता है।

बार-बार दुहराने से क्रोध को बल मिलता है। यदि तत्क्षण ही उसका दमन कर दिया जाय तो व्यक्ति को मानसिक शक्ति उपलब्ध होती है। जब क्रोध-वासना को वश में कर

लिया जाता है तो वह आध्यात्मिक शक्ति के रूप में त्रिलोक-विजयिनी शक्ति बन जाती है। जैसे उष्णता और ज्योति को विद्युत् बना दिया जाता है, उसी प्रकार क्रोध का परिमार्जन कर ओज-शक्ति प्रकट की जा सकती है।

क्रोध करने से शक्ति का अपव्यय होता है। क्रोध से स्नायविक केन्द्र व्यथित हो जाते हैं। आँखें लाल, शरीर सङ्कुचित, हाथ और पाँव काँपने लगते हैं। क्रोध से भरे हुए को वश में करना अति दुस्तर है। तत्काल के लिये उसमें शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है, ततः वह बहुत तेजस्वी हो जाता है। किन्तु बाद में उसकी प्रतिक्रिया होती है और वह निराश-सा हो जाता है।

कई उदाहरण सुनने में आते हैं कि दूध पिलाती हुई माता को जब क्रोध का आवेग आया तो बालक की मृत्यु हो गई। इससे यह सिद्ध होता है कि क्रोध के आने पर शरीर में विष की-सी क्रिया होती है। क्रोध के समय शरीर के सभी भागों में एक विशेष प्रकार की लहर लहराती है; वह विष की लहर होती है। लिङ्ग शरीर से काले तीर छूट कर बाहर आते हैं। अदृष्ट-दर्शन की शक्ति से इन तीरों को देखा जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान इस पर हामी भरता है कि सभी रोग क्रोध के ही रूप-रूपान्तर हैं। गठिया, हृदय रोग और स्नायविक दौर्बल्य आदि रोग क्रोध की ही प्रतिक्रिया के परिणाम हैं। एक बार क्रोध आ जाने से उसकी प्रतिक्रिया के टलने में कुछ महीने लग जाते हैं।

वीर्य-क्षय की अतिशयता क्रोध का कारण होती है। कामवासना जड़ है तो क्रोध उसका तना। अतः मूल का उन्मूलन

ही पहले करना होगा। कामोन्मूलन करने से क्रोध का तना अपने आप गिर जायगा। अक्सर देखा गया है कि कामी व्यक्ति ही जल्दी-जल्दी आपे से बाहर हो जाता है। वीर्य-क्षय होने से व्यक्ति बात-बात में दिमाग गरम कर लेता है, इसे चिढ़ जाना कहते हैं। ब्रह्मचारी को क्रोध पीड़ित नहीं कर सकता।

इसका मूल कारण खोजने पर तह में केवल अज्ञान और अहङ्कार ही मिलेगा। विचार से अहङ्कार का दमन और विचारपूर्वक कर्म करने से अज्ञान का आवरण भी लुप्त हो जाता है। प्रतिपक्ष भावना से यह सम्भव है कि क्रोध पर पूर्ण विजय पाई जा सके। अतः क्षमा, प्रेम, शान्ति, करुणा और मित्र भाव आदि से क्रोध को सिर न उठाने दो। इन व्यवहारिणीय भावनाओं द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है और इनका प्रयोग करते ही क्रोध का वेग कम होने लगता है अर्थात् वह पहले के समान उत्पीड़क नहीं रहता। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो गई तो क्या कहना; क्रोध कपूर के समान काफूर और वाष्प-समूह के समान विलुप्त हो जाता है।

यदि क्रोध पर विजय पा ली गई तो आधी साधना सम्पन्न हो जाती है। क्रोध पर विजय पाने से मन पर विजय हुई मानी जाती है। जिसने क्रोध पर विजय स्थापित कर ली, वह कभी भी अयोग्य और बुरे कर्म नहीं करेगा। वह सदा न्याय-प्रिय रहेगा।

जब क्रोध गम्भीर रूप धारण करता है तो उसका दमन दुःसाध्य हो जाता है; इसलिये हमें चाहिये कि आरम्भ में ही,

जब क्रोध चित्त में बीज के रूप में हो, उसका दमन कर दिया जाय; मन की गति पर सतत पहरा रहना चाहिये; सावधानी से मन की प्रगति पर नियन्त्रण किया जाना चाहिये। ज्यों ही मन में क्रोध के आविर्भाव का लक्षण प्रकट हो, त्यों ही उसे रोक देना चाहिये। प्रारम्भ में तो नहीं, परन्तु कुछ समय के बाद अभ्यास हो जाने पर क्रोध का दमन आसानी से किया जा सकता है।

जब कभी यह प्रतीत होने लगे कि क्रोध आने वाला है, त्यों ही बोलना बन्द कर दो। मौन के निरन्तर अभ्यास से क्रोध पर विजय पाई जा सकती है। सदा मधुर और अच्छे शब्दों का प्रयोग करो। यदि शब्दों का चयन अच्छा नहीं किया गया तो कभी भी झगड़े की सम्भावना रहती है।

यदि देखो कि क्रोध पर विजय पाने की सम्भावना नहीं है तो तुरन्त स्थान से हट जाओ। खूब दूर तक घूम आओ। कुछ ठण्डा जल भी पी लो। इससे शरीर और मन को शीतलता पहुँचती है। दस मिनट तक दीर्घस्वरेण 'ॐ' या 'ॐ शान्ति' का पाठ करो। अपने इष्ट-देवता के चित्र की ओर देखने लग जाओ। प्रार्थना करो और दस-पाँच मिनट तक अपने मन्त्र का जप भी। धीरे-धीरे क्रोध चला जायगा।

सब से अच्छा तो यही है कि अपने क्रोध का कारण खोजो। कभी कोई व्यक्ति गाली देता है तो तुम क्रोधित हो जाते हो। तुमको क्यों क्रोध आता है, जब वह तुम्हें 'कुत्ता' कह कर सम्बोधित करता है? उसके कहने से क्या तुम्हारी पूँछ निकल आई या चार पाँव निकल आये? तब एक छोटी-सी बात के

लिये क्यों दिमाग गरम करते हो ? सोचो तो सही उस गाली का असली स्वरूप है ही क्या ? क्या वह वातावरण में एक लहर-विशेषमात्र नहीं है? मैं शरीर हूँ या आत्मा? तब आत्मा को कौन गाली दे सकता है ? क्या सचमुच क्रोध का प्रतिकार करना चाहिये ? क्रोध का प्रतिकार करने से शक्ति का अपव्यय होता है। यदि कोई गाली भी दे तो चुप ही रहना चाहिये। उसका प्रतिकार कर विचारों की दुनियाँ को कलुषित न कर देना चाहिये। घृणा की लहर जब बाहर भेजी जाती है तो बाधाओं का कारण बनती है। दो दिन तक इस दुनियाँ में रहना है। उस छोटी-सी अवधि के लिये यह सब बखेड़ा क्यों ? बोलने दो दूसरों को, जो उनके मन में आवे; तुम उनको क्षमा करते जाओ। इस प्रकार तुम अपने क्रोधी स्वभाव का परिष्कार कर सकते हो। एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब तुम किसी प्रकार के वातावरण से प्रभावित नहीं होने पाओगे और किसी प्रकार का कठोर या अश्लील सम्बोधन तुम्हें प्रभावित नहीं कर पाएगा। तुम केवल हँस कर ही उसका प्रतिकार कर दोगे।

कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब क्रोध को जल्दी उत्साह मिलता है। ऐसे अवसरों पर भी शान्त रहना चाहिये। भूख तथा रोगग्रस्त अवस्था में क्रोध का आना आसान होता है। कुछ दुःख आ जाने, व्यापार में हानि पहुँचने या किसी चीज के खो जाने से क्रोध को प्रेरणा मिलती है। गुहावासी विरक्त यदि कहे कि उसने क्रोध पर विजय पा ली है तो विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसके संस्कार कुछ समय के लिये दबे पड़े हैं और अवसर न मिलने से सिर नहीं उठा पाते। यदि उसे समाज में व्यवहार करना पड़े अथवा किसी ने गाली दे

दी तो वह भी आपे से बाहर हो जायगा। इसलिये मैं अपने शिष्यों को सदा व्यवहार-जगत् में रख कर शिक्षा देने के पक्ष में हूँ। दुनियाँ अनुभवों के लिये विशाल आगार है और सच्ची शिक्षा दुनियाँ में ही पाई जाती है। सोना कसौटी पर चढ़ कर ही खरा उतरता है, व्यक्ति भी व्यवहार-जगत् में सफल हो कर ही महान् पुरुष बनता है।

प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि इस शक्तिशाली शत्रु के दमन के लिए पूर्ण प्रयत्न करे। सात्त्विक भोजन, जप, विचार, ध्यान, प्रार्थना, सत्सङ्ग, सेवा, कीर्तन, आत्मचिन्तन, प्राणायाम और ब्रह्मचर्य आदि कुछ साधन हैं, जिनके द्वारा इस शक्तिशाली शत्रु पर सामूहिक वार कर विजय पाई जा सकती है। अकेले आक्र-मण करने से इसका दमन नहीं किया जा सकता। धूम्रपान, मांसाहार और मद्यपान व्यक्ति को चिड़चिड़ा बना देते हैं। इनका परित्याग ही श्रेयस्कर है। अपनी सङ्गति का ध्यान भी अवश्य रखो। कम बोलो और कम मिलो। क्षमा, विश्वप्रेम, करुणा और निरभिमानिता का अभ्यास करो।

हर रोज प्रातःकाल चार बजे उठ कर दस मिनट तक विचार करो कि आज से तुम क्रोध को प्रकट नहीं होने दोगे और कल्पना करो, यदि कुछ कार्य ऐसा हो जाय, जिससे क्रोध का आना स्वाभाविक हो तो तुम कैसे उसका दमन करोगे। अनेकों युक्तियाँ और विधियाँ सोच कर उपयुक्त करो।

देह त्यागने से पहले जिस व्यक्ति ने कामना और क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली, वह धन्य है। जो कामना और क्रोध-वासना से विमुक्त है, जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, ऐसे व्यक्ति को परमात्म-निकेतन मिलता है।

क्रोध भी एक वृत्ति है, जो वहिष्करणीय है। जब मन में कोई वृत्ति जागे, तो तुम साक्षी के समान उसका निरीक्षण करो, अपने को उसमें लिप्त न होने दो। वृत्तियों के प्रति उदासीन रहने से तुम उनकी कार्यवाहियों से तनिक भी प्रभावित न होने पाओगे। जब-जब तुम वृत्तियों के विषय में विशेष रुचि लेते हो, तब-तब सारा झमेला खड़ा होता है। साँप रास्ते पर चल रहा है तो तुम रास्ते से हट कर खड़े हो जाओ, वह चुपचाप चला जायगा। यदि तुमने ही छेड़खानी करनी आरम्भ कर दी या रास्ता न छोड़ा तो फिर जो कुछ होगा, स्वयं समझ सकते हो। प्रत्येक कार्य, जो इस जगत् में होता है, चाहे तुम्हारे अन्दर हो या कहीं वाहर, उसके द्रष्टा मात्र बने रहो। यदि उस कार्य के साथ अपने को संयोजित करोगे तो तत्कार्य के बुरे-भले का फल चखना ही पड़ेगा। फूल के लिए गुलाब के पेड़ के साथ सम्पर्क रखने से काँटे भी तो लगते ही हैं। इसी प्रकार जितने भी स्पर्शजनित भोग या वृत्तियाँ या गुण या सम्पत्तियाँ हैं, उनमें काँटे भी हैं ही। अतः प्रत्येक कार्य सँभल कर, सोच और विचार कर किया जाना चाहिये।

मैं गुहा मार्क (कन्दरा ब्राण्ड) संन्यास के पक्ष में नहीं हूँ। मैं अपने सिद्धान्तों में स्वतन्त्र हूँ। मैंने एक सिद्धान्त को ही सत्य समझा है, उसको जताने के लिये मैं पुस्तकों पर पुस्तकें लिख मार रहा हूँ। मैं न तो दाढ़ी या जटा का पक्षपाती हूँ, न दण्ड या कमण्डलु का, न केवल जपमाला या मृगचर्म या बाघम्बर का। मैं इन्हें केवल बाहरी उपाङ्ग समझता हूँ। यदि इन्हें उपाधि का नाम दिया जाय तो उचित होगा। किन्तु यहाँ पर यह समझने की भूल न करना कि मैं इनका सर्वथा तिरस्कार करना

चाहता हूँ, कभी नहीं। जिस प्रकार रूप-विशेष से किसी व्यक्ति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार यह भी एक रूप-विशेष है, जिससे हम आध्यात्मिकता या आत्म-साक्षात्कार के अस्तित्व का परिचय पाते हैं।

किन्तु यही सब कुछ है, ऐसा कहना भी गलत है। मेरी दृष्टि में आध्यात्मिकता का प्रदर्शन ही सच्चा संन्यास है। व्यवहारों के साथ आध्यात्मिकता का प्रदर्शन किया किया जा सका तो मैं समझता हूँ कि संन्यास-साधना सिद्ध हो चुकी है।

इसलिये आज से ही साधना आरम्भ कर दो। यह न कहो कि समय नहीं मिलता। मैं वैसी साधना ही नहीं बतलाता, जिसके लिए तुम्हें अलग समय चाहिये। अपना काम इस प्रकार करते रहो कि वही साधना का प्रतिरूप बन जाय। जप करो या न करो, मैं तुम पर जोर नहीं डालूँगा; पूजा करो या न करो, मैं तुम्हें मजबूर नहीं करूँगा—क्या जाने तुम हिन्दू हो या मुसलमान या बौद्ध या ईसाई-धर्म पर विश्वास करने वाले; किन्तु तुम जो कोई भी हो, मैं सद्गुणों के सञ्चय के लिये तुम्हें बाध्य करूँगा। सद्गुणों का सञ्चय किसी जाति-विशेष की साधना नहीं, दुर्गुणों का निराकरण किसी जाति-विशेष के लिए ही आवश्यक नहीं और आध्यात्मिक वृत्ति भारतीयों की ही सम्पत्ति नहीं है— बल्कि प्रत्येक जाति, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति का इस पर समान अधिकार है। देश, काल और नियमों के अनुसार एक देश में इसकी प्राप्ति के लिये एक प्रकार की साधना की जाती है तो दूसरे देश में दूसरे प्रकार की। साधनाओं के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, पर लक्ष्य एक ही है।

चिन्ता, शोच और व्याकुलता

इन तीनों का आदि उद्‌गम अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ 'ज्ञान के अभाव' से होता है। 'जरा भी ज्ञान नहीं है इसे'—'निरा अज्ञानी है'—'कुछ नहीं समझता'—इस प्रकार के वाक्यों से ज्ञान के अभाव का सङ्केत मिलता है।

प्रगाढ़ निद्रा में जब मन ब्रह्म-स्थिति में समाश्रित होता है अथवा क्लोरोफार्म दे कर उसे शरीर-चेतना से पृथक् कर दिया जाता है तो वह दुःख, चिन्ता, शोच, आकुलता और व्याकुलता का अनुभव नहीं कर सकता। इससे यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह तीनों मन की कल्पनायें हैं। आनन्दमय आत्मा में इनका अस्तित्वमात्र भी नहीं है। यदि अज्ञान का उन्मूलन कर दिया गया तो इनका उन्मूलन भी बिना प्रयास के हो सकता है। अज्ञान का उन्मूलन ज्ञान प्राप्त करने पर ही होगा।

चिन्ता, शोच और व्याकुलता—तीनों रूपों में वृत्ति की एकता है। जैसे जल, पानी, नीर आदि कह कर जल को विशेष रूपों में सम्बोधित किया जाता है, उसी प्रकार चिन्ता, शोच और व्याकुलता के विषय में भी जानना चाहिये। यह तीनों साथ-साथ रहते हैं।

एक व्यक्ति कहता है—"मुझे अपने वृद्ध माता-पिता और छोटे बच्चों की फिक्र करनी है। घर-बार और स्त्री की चिन्ता करनी है। गाय आदि पशुओं की चिन्ता भी करनी ही है। अपने शरीर की देखभाल भी करनी ही है।" इस प्रकार की उक्तियों को देहाभिमान कहा जाता है। अभिमान जो देह या देह से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति है, अज्ञान का द्वितीय रूप है,

छद्मवेष है। इस नश्वर शरीर को अविनश्वर समझ कर यह बेचारा जीव जब अज्ञान में फँस जाता है, तभी इन बुराइयों का उद्भव होता है। दुःख का पहिला कारण शरीर है। अतः इस पर गर्व न करो; इसके विषय में जो अभिमान कर रहे हो, उसका त्याग कर दो। देहोपाधि से विलग्न हो जाओ। जिस प्रकार अपनी सेवा के लिए कुत्ते के साथ व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार इस शरीर से भी व्यवहार करो। जब भूख लगे, भोजन दो, प्यास लगे तो पानी, शीत लगे तो वस्त्र और इच्छा हो तो स्नान। बस इतना ही। इसके अतिरिक्त और सभी विषयों में उदासीनता का आचरण करो।

दिन में पचास बार दर्पण में अपनी सूरत देखना, साबुन लगा कर त्वचा को सुन्दर बनाने की साधना करना, पाउडर आदि प्रसाधनों से सौन्दर्य-वृद्धि के प्रयोग करना और चकमक-चकमक वेष-भूषा में शरीर को सुन्दर दिखलाने का प्रयत्न करना—यही तो चिन्ता के मूल कारण हैं। स्त्री, पुत्र, घरबार, जमीन, जायदाद, माता-पिता और बहिन-भाई आदि के साथ अभिमानग्रस्त रहने से चिन्ताओं का रूप कई गुना उग्र हो जाता है। चिन्ताओं का अन्त नहीं होता। वे बढ़ती ही जाती हैं। इस वृद्धि के लिए मनुष्य ही उत्तरदायी है।

जिस प्रकार रेशम का कीड़ा या मकड़ी अपने ही जाले में स्वयं फँस जाती है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण ही अपने आप इन चिन्ताओं और व्याकुलताओं की सृष्टि कर मनुष्य अपने नाश का साधन स्वयं ही बन जाता है। सूर्य की गरमी जो सागर से उठ कर बादल का रूप धारण कर लेती है, सूर्य को आच्छन्न कर देती है। अपनी गरमी से अपने आप ही सूर्य छिप

जाता है। इसी प्रकार चिन्ताओं का जन्म मनुष्य से ही हुआ है, जिनसे वह ग्रस्त हो चुका है। देहाभिमान का परित्याग कर दो तो एक ही क्षण में चिन्ताओं का निराकरण कर दिया जा सकता है।

किसी व्यवसायी को ही देखिए, वह सदा चिन्तित रहता है, "किस प्रकार अपने ऋण को चुकाऊँ? व्यापार में मन्दी उतर रही है। व्यवसाय गिरता जा रहा है।"

कालेज के विद्यार्थी की भी चिन्ता सुन लीजिए, "एम० एस-सी० की परीक्षा देनी होगी, न जाने सफल भी हो सकूँगा। सफल भी हो गया तो जीविका के लिए क्या किया जाय? आज-कल सर्वत्र प्रतियोगिताओं का बाजार गरम है; अतः कहीं नौकरी मिलने की सम्भावना भी नहीं है। चीनी के कारखानों में अधिक से अधिक पचास-साठ रूपये मिलेंगे, वह भी स्वीकार करें तो। मेरी तालीम के लिए मेरे पिता ने अपनी जायदाद और माँ ने अपने गहने तक गिरवी रख दिए। अब तो भूखों मरने की नौबत आ पहुँची है। सोचता हूँ कि हेयर-ड्रेसिङ्ग सैलून् क्यों न खोल दूँ। जूते की दुकान, मेरी समझ में लाभ-दायक रहेगी। परिश्रम में महत्व है। स्व-श्रम में मर्यादा है। गान्धी जी भी यही कहा करते थे। सिनेमा में भी भरती नहीं हो सकता, स्वर और सौन्दर्य कुछ भी नहीं है। उस पर भी अपने माँ-बाप का एक ही पुत्र हूँ।"

पति की चिन्ता सदा यही है—"दो वार उसे गर्भपात हो गया। अब के छठा महीना है, क्या करूँ? डाक्टर की चिकित्सा के लिए धन नहीं, जो आगामी सम्भावी गर्भपात का

निदान करवा सकूँ। धन होता तो कुछ न कुछ जरूर करता। पिछले मास का वेतन भी चुक गया और दीखता है कि अगले माह का वेतन तो बनिए के लिए ही पर्याप्त होगा।"

जागीरदार सदा यही चिन्ताग्रस्त रहेगा, "आसामियों ने किराया नहीं दिया है। ओहो, इस साल के लगान का भुगतान भी तो नहीं हुआ है। कहते हैं फसल बरबाद हो गई, दाना भी न निकला। मेरा भी खजाना खाली है। प्रादेशिक यात्रा में कम से कम दो लाख रूपये खर्च हो गए, अब क्या किया जाय? पाँच लाख रूपये भूकम्पपीड़ितों की सहायता के लिए दिए। क्या करूँ समझ में नहीं आता।"

इस प्रकार तुम देखते हो कि संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जो चिन्ता, सन्ताप और शोच से विमुक्त हो। किन्तु एक व्यक्ति इस संसार में ऐसा भी है, जो चिन्ताओं से कोसों दूर रहता है और चिन्ताएं जिसके पास फटकने भी नहीं पातीं। वह व्यक्ति योगी या ज्ञानी या भक्त है।

चिन्ता करने से केशों का रङ्ग सफेद हो जाता है। चिन्ता का प्रभाव मस्तिष्क, तन्तुओं, स्नायु और रक्तवाहिनियों पर बुरी तरह पड़ता है। चिन्ता पाचन-क्रिया को निर्बल कर देती है, थकावट लाती और शरीर-ओज को चूस लेती है। चिन्ता से मनुष्य रक्तहीन हो जाता है। अधिक चिन्ता करने से मानसिक शक्तियाँ विखर कर निःशक्त हो जाती हैं। चिन्ता मनुष्य की आयु के परिमाण को कम कर देती है। बहुत से रोगों का मूल कारण चिन्ता है। चिन्ता से सङ्कल्प-शक्ति का ह्रास हो जाता है। चिन्तित व्यक्ति पूर्ण एकाग्र हो कर किसी भी कार्य

को नहीं कर सकता। वह लापरवाह होता है। जीवित शरीर में यदि व्यक्ति को मरा माना जाय तो केवल चिन्तित व्यक्ति को ही। वह अपने परिवार का बोझ है और है पृथ्वी माता के लिए अभिशाप।

कुछ लोग रात-दिन चिन्तामग्न रहते हैं। उनके चेहरों पर दृष्टि फेरिए, प्रसन्नता और आह्लाद पूर्णतः लुप्त—दस्त होने के बाद रोगी की जैसी आकृति होती है, कुनैन खा कर मलेरिया मरीज का जैसा चेहरा होता है, वैसा ही फीकापन चिन्तित व्यक्ति के चेहरे पर उतरा रहता है।

ऐसे व्यक्तियों को कमरे से बाहर ला कर समाज में रखना, समाज में इस रोग को फैलाना है। वे वातावरण को कुप्रभावित कर, दूसरे व्यक्तियों और उनके विचारों को भी अछूता नहीं छोड़ते। ऐसे लोगों के साथ रहने से तुमको प्रभावित हो जाना पड़ेगा। ऐसे लोग जब घर से बाहर निकलें, उन पर बुरका डाल देना चाहिए।

किसी विषय को ले कर व्यर्थ चिन्तित नहीं होना चाहिए। सदा प्रसन्न और हँसमुख रहो। प्रतिपक्ष भावना से चिन्ता का प्रतिकार करो। अपनी विवेक-शक्ति और समझ से काम लो। गम्भीर और पवित्र बनो। दूरदर्शी बनना चाहिए, तभी चिन्ता को दूर भगाया जा सकता है। सावधान और जागृत रहने, पवित्र और सरल वृत्तिपूर्ण होने, सन्ध्या-वन्दन, ध्यान, प्रार्थना तथा दैनिक उत्तरदायित्वों की सम्पूर्ति करने तथा सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का पालन करने से चिन्ता तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। मन को सदा सन्तुलित रखो। मुस्कराओ और

हँसो। प्रसन्न रहने की आदत का विकास करो। बीच-बीच में यदि कोई कठिनाई आ कर रास्ता रोक ले तो मन को चिन्तित न होने दो, शान्ति से कठिनाई का सामना करो। इस सिद्धान्त-सूत्र को सदा याद रखो कि 'हर एक बात बीतती जाती है, शाश्वत नहीं रहती।' सोचो और विचारो, "क्यों मैं चिन्तित हो रहा हूँ, क्या इसका कोई अर्थ भी है? चिन्ता अनावश्यक है। मैं निश्चिन्त आत्मा हूँ, निर्विकार और निर्लिप्त हूँ।"

भय पर विजय

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार के भय से भयभीत रहता है। केवल ज्ञानी, पूर्ण योगी और भक्त ही निर्भय हो कर विचरते हैं। आत्मा में ही समस्त जगत् को देखने वाले सन्त के लिए भय का कारण हो ही क्या सकता है? जिस प्रकार क्रोध को जीत लेने से आधी साधना पूर्ण हो जाती है, उसी प्रकार भय पर विजय पाने से शेष आधी साधना भी पूर्ण हो जाती है।

भय अनेकों रूप धारण कर प्रकट होता है। नैपाली सिपाही तलवार, भाले, बरछी या गोलियों से नहीं डरते, किन्तु बिच्छू से बहुत डरते हैं। शिकारी शेर या व्याघ्र से भय नहीं खाता, किन्तु शल्य-चिकित्सक के छोटे-से अस्त्र से कराह जाता है। सीमान्त के रहने वाले चाकू से नहीं डरते, शल्य-चिकित्सा करने वाला बिना क्लोरोफार्म के उनकी चिकित्सा कर सकता है; किन्तु साँप से बेहद डरते हैं। कुछ लोग भूतों से भय खाते हैं। अधिकांश जनता सामाजिक आलोचनाओं से भय खाती है।

कुछ लोगों को रोग का भय बना रहता है। स्वस्थतम व्यक्ति को भी किसी न किसी रोग की आशङ्का बनी रहती है।

राजा को शत्रुओं का, पण्डित को वादी का, सुन्दरी को वृद्धावस्था का, वकील को न्यायाधीश और आसामी का, स्त्री को पति का, विद्यार्थी को अपने शिक्षक का, पुलिस इन्स्पेक्टर को सुपरिन्टेन्डेन्ट् का, मेंढक को सर्प का और कोबरा सर्प को नेवले का डर सदा बना रहता है।

भय की मात्रा होती है; जैसे साधारण भय, बुजदिल स्वभाव, लज्जा, खतरे की सूचना, आशङ्का और तीव्र भय। भय तीव्र हुआ तो शरीर से पसीना चूने लगता है, मल-मूत्र का स्खलन तीव्रता से होता है। मन की अवस्था काष्ठवत् हो जाती है। हार्दिक अवस्था शोचनीय हो जाती है। चेहरा पीला पड़ जाता है और आँखों में कालापन आ जाता है।

बचपन से ही बालकों में निर्भयता के संस्कार डालने चाहिये। माता-पिता और शिक्षकों को इस उत्तरदायित्व की पूर्ति करनी होगी। चूँकि बच्चों का मन लचकदार होता है, इच्छानुसार बनाने का प्रयत्न बचपन में ही करना चाहिए।

भय का एक कारण देह के प्रति आसक्ति है।

जब तक देह से आसक्ति बनी रहेगी, तब तक भय भी बना रहेगा। आत्म-चिन्तन करने से निर्भयता की प्राप्ति होती है। आन्तरिक निर्भयता बाहरी निर्भयता से अधिक जरूरी है। बाहरी निर्भयता की प्राप्ति हो जाय तो मनुष्य संसार के प्रत्येक कार्य निर्भयतापूर्वक कर सकता है। यदि आन्तरिक

निर्भयता की प्राप्ति की जा सकी तो व्यक्ति के विचार सात्त्विक और परिशुद्ध हो जाते हैं। निर्भयता की प्राप्ति हुई तो पारस्परिक सम्बन्ध अविच्छिन्न हो जाता है। निर्भय व्यक्ति भयावह जङ्गलों, भीषण प्रदेशों तथाशत्रुओं के शिविरों में भी निडर हो कर घूमा करता है। न तो वह किसी से डरता है और न किसी को उससे हानि की आशङ्का ही रहती है। ऐसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं।

धूम्रपान

धूम्रपान पारिवारिक-कुख्याति प्राप्त दुर्व्यसन है, जिसने हमारी जनता के गालों को अन्दर खींच लिया है और नित्य बड़े आदर और सत्कार के साथ उनकी जेब भी खाली करता रहता है। धूम्रपान करने से फेफड़ों की हानि और नयनों की ज्योति क्षीण होती है; वीर्य द्रवीभूत होने लगता है और सन्तान निर्बल और रोगी हो जाती है; स्मरण-शक्ति का ह्रास हो जाता है और कफ के आधिक्य होने के कारण कोई भी भोजन अपना उचित प्रभाव नहीं देता।

भारत में तो यह एक प्रणाली ही हो गई है कि आये हुए मेहमान को 'फरमाइये' कह कर सिगरेट देवें। विद्यार्थियों को देखिये, न जाने किस प्रकार ऐसी व्यवस्था कर लेते हैं कि दो-चार चुस्कियाँ तो मिल जाँय। माता-पिता भी कहते हैं कि होली में सिगरेट पीना तो रस्म-रिवाज है। धिक्कार है, ऐसे रस्म-रिवाजों को और उनके बनाने वालों को भी। कालान्तर में वे ही माता और पिता रोते हुए रस्म-रिवाज की दुहाई देते हैं। कितना विनाशकारी परिणाम है, केवल मात्र एक डिबिया का!

मद्यपान

विनाशकारी लक्षण लिए अनाज का सड़ा हुआ यह आसव है, जिसे मद्य कहते हैं। शायद ही कोई भारतीय ग्राम ऐसा हो, जहाँ के लोग इस इल्लत से बचे हों। जो भारतीय दाने-दाने के लिए मुहताज हो कर गलियों में भिक्षा माँगता है, वही रात को मदिरालय में कहकहे मार कर हँसता है। विज्ञ नेताओं ने मद्यपान की हानियों का जनता को दिग्दर्शन कराया, परन्तु हम विकासवादी जो ठहरे, अपने पूर्वजों के आदेश क्यों मानने लगे। मनुस्मृति ने स्पष्ट कह दिया है, कि जो मद्यपान करता है, वह महापातकी है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ऐसा मनुष्य दुःख ही भोगता है।

तुम अपने दुर्व्यसनों का त्याग कर ही वह निधि सुरक्षित कर सकते हो जो केवलमात्र तुम्हारे परिवार के लिए ही शिक्षादि का पर्याप्त साधन नहीं होगी, अपि च तुम सहस्रों निर्धनों की सहायता कर सकते हो।

मैंने श्रमिक समुदाय को देखा है, जो दिन भर अपने शरीर के रक्त को पसीने की तरह बहाते हैं, परन्तु रात होते ही उस गाढ़ी कमाई को गङ्गा की नाईं बहा भी देते हैं। उनके परि-वार को देखिए, वही बाबा आदम के जमाने के चिथड़े पहने हुए। क्या उनके बालक भी उन्हीं का आदर्श नहीं ग्रहण करेंगे? कहाँ रही सभ्यता, कहाँ रही संस्कृति—जैसा हम रात और दिन चिल्लाते रहते हैं। हमारे ही भाई अपने को दुराचार की ओर बहा रहे हैं और उसी को सच्चा आनन्द कहते हैं। देखते-देखते हमारे कितने सुन्दर घर बर्बाद हो गए, कितने बच्चे इसके परिणाम-

स्वरूप अभी भी गलियों में मारे-मारे फिरते हैं। मैं अपने भाइयों से विनय करता हूँ कि वे इस महान् कार्य में सहयोग दें; अपनी-अपनी ओर से घर-घर जा कर निम्न-श्रेणी के लोगों को सदाचार और सत्य-धर्म का उपदेश दें; जिससे हमारे देश का सांस्कृतिक उद्धार हो और हम विश्व के लिए आदर्श की शिक्षा प्रस्तुत करें।

जुआ

दीवाली इस महाविनाशकारी नाटक का रङ्गमञ्च है। जिस दिन हमारा वित्तवर्ष प्रारम्भ होता है, उसी दिन इस विनाश का सूत्रपात भी होता है। प्रचलित दुर्गुणों में यह एक प्रमुख शैतान है, जो भाई-भाई की मर्यादा को नष्ट करा देता है। कितना आनन्ददायक है यह, परन्तु इसका परिणाम आप लोग जानते हैं? हमारा इतिहास इसका साक्षी है। न होती द्यूत-क्रीड़ा और न होता महाभारत का प्रलयङ्कर संग्राम, और न होती हमारे देश की सांस्कृतिक हानि।

इसका कोई-न-कोई उपाय होना चाहिये। यह कोई सरकार का ही काम नहीं। जनता के नेताओं को इसका वहिष्कार करना चाहिए। ग्राम-पञ्चायतों को इसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए, जिससे ग्रामों से इस बीमारी का प्रयाण हो। विद्यालयों में इस विषय की शिक्षा देनी चाहिए और साथ-साथ सच्चरित्रता का उपदेश भी बालकों को देना चाहिए। जुए के दुष्परिणामों का वर्णन कभी-कभी हमारे लिए लज्जास्पद भी होता है। काम, क्रोध, हत्या, चोरी और न जाने कितने विनाशकारी पाप इसमें अन्तर्हित हैं। यह इन सबकी जननी है।

जुआ खेलने से न तो कोई किसी प्रकार के लाभ का अधिकारी हुआ है और न होगा। जुआरी का जीवन विषादमय हो जाता है। उसे सदा कोई-न-कोई चिन्ता सन्तप्त किए रहती है, सत् और असत् का विचार करने वाली बुद्धि नौ-दो-ग्यारह हो जाती है, उसे कर्म और कुकर्म का ज्ञान ही नहीं रहता। वह न तो जानता है माँ, बहिनों को और न देखता है अपने पिता और भाई को, और न उसे अपनी ही चेतना रहती है। वह दो नेत्रों का अन्धा और दो कानों का बहरा है। बुद्धि होने पर भी वह पशु से भी गया बीता है।

अन्य दुर्व्यसन

पान खाने की आदत भी खराब है। आजकल इसका प्रचलन बहुत हो गया है। पान खाने वाले अपनी आदत को उचित सिद्ध करने के लिए कहा करते हैं—'पान पेट को यथास्थिति में रखता है, भूख लाता तथा भोजन पचाता है।' पान खाने वालों के मुँह पर देखिए, बहुत बुरा मालूम देता है। उनकी जीभ मोटी हो जाती है। पान खाते हुए बोलने से शब्द अस्पष्ट निकलते हैं और उनका एक ढङ्ग हो जाता है। बाद में वह व्यक्ति हर समय अस्पष्ट शब्द ही निकालता है।

पान खाने वाले को सदा थूकने की जरूरत होती रहती है; अतः एक पीकदान भी चाहिए ही। थूकदान के अभाव में कहीं-न-कहीं पर तो थूकना पड़ेगा ही। इससे रोग का उद्भव होता है। आदत छोटी-सी भी होने पर भी विनाशकारिणी होती है। जितना पैसा बुरी आदतों में खर्च किया जाता है, उसका उपयोग आरोग्य साधन में किया जाय तो जीवन में कितना आनन्द आ सकता है।

पान खाने वाले सदा मुँह को ठूँस कर रखते हैं, इससे सूक्ष्म तन्तुओं को श्रम पहुँचता है और वे जीर्णत्व को प्राप्त हो जाते हैं। कुछ लोग पान के साथ तम्बाकू और कुछ कोकेन खाया करते हैं। यह आदत और भी खराब है। कोकेन का उपयोग करने वालों के शरीर से बुरी गन्ध निकलती है। वस्त्र कितने ही साफ क्यों न रहें, पर उनको छूने का साहस नहीं किया जा सकता। जब उनके पास कोकेन नहीं रहती तो वे मर्यादा का उल्लङ्घन करने में नहीं चूकते। राह चलते-चलते एक चुटकी के लिए भीख माँगना उनको नागवार नहीं जँचता। उनका नैतिक पतन हो जाता है। धन की हानि, शरीर की हानि और सबसे बढ़ कर चरित्र की हानि। अभिप्राय यह कि उनका जीवन बेकार हो जाता है।

जो लोग दिन में कई बार चाय पीने के आदी हैं, वे आदत के दास बन जाते हैं। मान लिया कि चाय श्रमिकों को कार्य-क्षमता देती है, किन्तु यह भी तो मानना ही होगा कि उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही खराब होती है। पहिले-पहल तो केवल कार्यक्षमता के दृष्टिकोण से चाय पी, बाद में आदत से मजबूर हो कर और बाद में उसका चस्का भी लग जाता है।

उपन्यासों की बुरी आदत आजकल समाज में बड़ी तेजी से फैलती जा रही है। जो लोग उपन्यास पढ़ने के आदी हैं, उनका मन सदा कामपूर्ण विचारों से भरा रहता है। उनकी ब्रह्मचर्य-शक्ति का ह्रास हो जाता है। मन इतना चञ्चल हो जाता है कि किसी भी कार्य में स्थिरता की प्राप्ति नहीं हो पाती। उपन्यास पढ़ने का चस्का पाठक के मन को बेकार कर छोड़ता है।

उपन्यास पढ़ने से सिनेमा देखने की वृत्ति प्रबल होती है। इससे चरित्र का पतन होता है। कितना धन नित्यप्रति स्वाहा होता जा रहा है ? कितने नवयुवकों के भविष्यपट पर कालिमा पोती जा रही है ? कितनी नवयुवतियों की पवित्रता सन्देहपूर्ण होती जा रही है? समाज में कितनी पापिष्ठ वृत्ति और कितना अन्धकार फैलने लग गया है ? सिनेमा के नेताओं को इसके लिए धर्म के सामने जवाब देना होगा और अपने कार्यों की भूल पर पश्चात्ताप भी करना होगा।

जो लोग अपनी सन्तानों को नैतिक पतन से बचाना चाहते हैं, वे उन्हें सिनेमा न जाने दें; क्योंकि कोई भी सिनेमा शिक्षाप्रद नहीं हुआ करता। शिक्षाप्रद सिनेमा के नाम का प्रचार कर जनता की आँखों में धूल ही झोंकी जा रही है। जो अपने जीवन को शान्तिमय, मन को पवित्र, परिवार को निष्कलङ्क और धन को सुरक्षित रखना चाहते हैं, वे समाज के इस भूत से अवश्य बचें और अपने मित्रों को भी बचने की सलाह दें।

कुछ चित्र-निर्माता धर्म की आड़ में शिकार खेलने लग गए हैं। धर्म इतना सरल, क्षुद्र, छोटा, क्षीणकाय एवं संकीर्ण नहीं कि उसका प्रदर्शन चलचित्रों द्वारा किया जा सके। धर्म का प्रदर्शन न तो चित्रों द्वारा किया जा सकता है और न व्याख्यानों से, बल्कि अपने जीवन में व्यवहार द्वारा ही धर्म का प्रदर्शन होना सम्भव है।

धन कमाने के लिए ही धार्मिक चित्रों का निर्माण होना आरम्भ हुआ है। भारत की जनता धर्मप्रिय है ; अतः निर्माताओं की यह योजना अत्यन्त सफल उतरी है। भीड़ की भीड़

धार्मिक चित्रों को देखने के लिए अपने पूरे परिवार के साथ सिनेमा-हाल में उतरती है।

अब मैं एक छोटी-सी बुरी आदत पर विचार प्रकट करूँगा। वह दिन में सोने की है। दिन में सोने से जीवन का परिमाण घटता है और समय का अवव्यय होता है। दिन में सोने से आलस्य और तामसिकता का आविर्भाव होता है। वायु-विकार और अजीर्ण-सदृश कुछ ऐसे रोग हैं, जिनसे अधिकांश जनता ग्रस्त है, उन रोगों का एकमात्र कारण दिन में सोना है। अतः सावधान हो जाइए। एक दिन दिन में नहीं सोने से तीन-चार घण्टे बच जाते हैं और रोग भी नहीं होते। जीवन थोड़ा है, समय पूरी तेजी से भाग रहा है, मृत्यु वहाँ पर मुँह खोले खड़ी है। अतः वह व्यक्ति धन्य है जो अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग कर रहा है और एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं करता।

बहुत से लोग ऐसे हैं जो असामाजिक और अश्लील शब्दों को प्रयुक्त करने में नहीं शरमाते। बात करते-करते अश्लील शब्दों का प्रयोग करना उनका स्वभाव ही हो गया है। कारण-वश उन्हें क्रोध आ गया तो फिर क्या पूछिए, लगातार गालियों की बौछार उनके मुँह से बरसनी आरम्भ हो जानी है। क्षण-क्षण में 'साला कहीं का' यही शब्द उनके मुँह से निकला करता है। इसके अतिरिक्त और भी कई शब्द ऐसे निकलते रहते हैं, जिनको सुन कर कोई भी सभ्य मनुष्य दाँतों तले अङ्गुली तथा कानों में रुई कर लेगा।

पहले पहल अङ्गरेज लोग जब भारत में आए तो हिन्दी सीखने के लिए यहाँ के अश्लील शब्दों को ही याद करते थे।

मनुष्य की प्रकृति की अपवित्रता पर ध्यान दीजिए। भगवान् के नाम सीखना उसे पसन्द नहीं; सीखने चला अश्लील और अभद्र प्रयोग। गाड़ी चलाते-चलाते गाड़ीवान को देखा है और सुना है कि वह किन-किन सम्बोधनों का प्रयोग करता है तथा बैल के किन-किन रिश्तेदारों के नाम लेता है? यह मनुष्य का क्षुद्र स्वभाव!

बच्चों को इस प्रकार शिक्षित करो कि उनसे मिलने वाले लोग उनकी भद्र वाणी की सराहना ही करें। जिन लोगों के साथ रह कर बालकों के अभद्र व्यवहारशील बन जाने की आशङ्का है, उनके साथ उन्हें न जाने दो। ऐसा कर तुम अपने परिवार का कल्याण करोगे।

बुरी आदतों का परित्याग उतना कठिन नहीं, जितना तुम सोचा करते हो। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि बुरी आदतों का निवारण बड़ा ही आसान है। एक वकील जो १५ सालों से धूम्रपान करता था, एक ही दिन में उसे छोड़ने में कृतकार्य हो सका। जहाँ चाह है, वहाँ राह है—यह पुरानी कहावत है। इससे प्रकट होता है कि सङ्कल्पशक्ति कितनी महत्वपूर्ण है। यदि किसी बुरी आदत को छोड़ना चाहते हो तो उसे अभी से त्याग दो। बुरी आदत को एक ही झोंके के साथ छोड़ना अच्छा है। धीरे-धीरे छोड़ने का विचार कभी भी सफल नहीं हो सकता। यदि बुरी आदत को छोड़ने का सङ्कल्प किया है तो तत्क्षण ही छोड़ दो। अपने को किसी काम में व्यस्त कर दो ताकि मन उस व्यसन का विचार न कर सके। इस प्रकार सङ्कल्प और युक्ति से तुम किसी भी बुरी आदत को छोड़ सकने में सफल बन सकोगे।

जब किसी दुर्व्यसन का परित्याग करना है तो चित्त की सहायता भी प्राप्त करो। चित्त या अधीन सचेतन मन व्यक्ति का सब से घनिष्ठ मित्र है। अपनी सङ्कल्पशक्ति को मजबूत बना लो। सत्सङ्ग में रहने से बुरी आदतों को छोड़ने के लिए आत्म-बल मिलता है। सत्सङ्ग में जो शक्तिमती लहरें उत्पन्न होती हैं वे तुम्हारे मन की बुरी आदत को धो डालेंगी।

काम पर विजय

काम-वासना का अर्थ किसी तीव्र लालसा से लगाया जाता है। देश-सेवा के लिए मन में एक प्रकार की लालसा रहती है। उत्तम कोटि के साधकों में आत्म-दर्शन की लालसा बनी रहती है। कुछ लोगों में उपन्यास पढ़ने की लालसा रहती है। किन्तु काम-वासना का साधारण अर्थ अधिकतर कामुक वृत्ति अथवा तीव्रतर स्त्री-पुरुष-भोगेच्छा से लिया जाता है। सम्भोग-कामना की पूर्ति के लिए जो लालसा रहती है, उसे ही काम-वासना कहते हैं।

काम-वासना प्रत्येक में मौजूद रहती है। पर छोटे बालक और बालिकाओं में इसका स्वरूप बीज समान रहता है। इस-लिए इस वृत्ति से उन्हें कोई कष्ट नहीं प्राप्त होता। जिस प्रकार बीज में वृक्ष अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार बच्चों के मन में भी काम-वृत्ति अन्तर्निहित रहती है। वृद्ध पुरुषों और स्त्रियों में यह वृत्ति दब जाती है।

राजसिक भोजन, आचार-विचार और राजसिक रहन-सहन से काम-वासना को बल मिलता है। शिक्षित कहे जाने वाले

व्यक्ति भी इस बात को नहीं समझते कि इस लोकानन्द से परे और भी कोई आनन्दमय परम रमणीय सत्ता है, जिसमें भोग-विलास का रञ्चमात्र भी पुट नहीं।

कुछ लोग कहा करते हैं—"काम-लालसा को रोकना उचित नहीं; यह तो प्रकृति का विरोध करना है। परमात्मा ने स्त्री और पुरुष का सर्जन क्यों किया और क्योंकर एक को सौन्दर्य और दूसरे को वीर्य दिया? परमात्मा की इस सृष्टि का कुछ-न-कुछ अर्थ तो अवश्य होना चाहिए। यदि सभी लोग संन्यासी बन कर जङ्गल में चले जावें तो इस दुनियाँ का क्या हाल हो जावेगा?"

कुछ लोग कहा करते हैं—"काम-शक्ति पर नियन्त्रण रखने से व्याधियाँ शरीर को ग्रस्त कर लेती हैं। काम-शक्ति को छूट देने से परिवार बढ़ता है। जिस घर में बच्चों का शोरगुल ही न हो, वह घर कैसा और वह परिवार कैसा? विवाहित जीवन के आनन्द के समान भी क्या कोई और आनन्द है? वैराग्य, त्याग, संन्यास और निवृत्ति आदि सब बेकार की बातें हैं, जिनका मनुष्य-जीवन में कुछ भी मूल्य नहीं है।"

संसार में आज ऐसे विचारकों की कमी नहीं। सच कहा जाय तो संसार में आजकल इन्हीं विचारवादियों का बहुमत है; तभी तो सभी राष्ट्र युद्ध और हिंसा, भूख और बेकारी, अन्याय और व्यभिचार में प्रविष्ट होते जा रहे हैं। हमारे शास्त्रों में नास्तिकवाद का प्रसङ्ग आता है, क्या ये लोग उस परम्परा के अनुयायी नहीं हैं? इनके जीवन का दर्शन मनुष्य-जीवन के दर्शन से नहीं, पशुओं के दर्शन से (यदि कुछ है तो) अवश्य मिलता है।

काम-लालसा का दमन करना चाहिये। इसका दमन करने से न तो किसी प्रकार का रोग होता है और न किसी प्रकार का मानसिक कष्ट ही; वल्कि शक्ति, प्रसन्नता, आनन्द और शान्ति से मन परिपूर्ण हो उठेगा।

काम-लालसा पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कई प्रभावशाली साधन हैं। साधक जब प्रकृति का विरोध करेगा, तभी वह आत्मा के आनन्दमय निकेतन तक पहुँच सकेगा। जिस प्रकार मछली नदी की धारा के प्रतिकूल तैरती है, उसी प्रकार साधक को भी वासना-प्रवाह के प्रतिकूल चलना होगा; तभी सफलता की प्राप्ति सम्भव है। आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये कामुक प्रवृति को पराभूत करना ही होगा। सम्भोगजन्य आनन्द में क्या आनन्द है? यह मन के अन्दर छाया हुआ भ्रम-मात्र ही है। यदि इसमें रञ्च भर आनन्द की अनुभूति हो जाती है तो ढेरों के परिमाण में खतरे, दुःख, भय, श्रम और घृणा की प्राप्ति भी होती है। आत्मविज्ञान या योगविज्ञान की प्रणाली का ज्ञान होने से तुम इस शत्रु का दमन कर सकते हो। सच्चा आनन्द सम्भोग-लालसा के त्याग में ही है। यह धन और संसार मनुष्य को बाँधने के लिये माया का बनाया हुआ जाल है। यदि अब भी इस जाल में फँसने की इच्छा हो तो जाओ कोई तुम्हें रोकने वाला नहीं है। किन्तु कुछ ही दिनों में यह अवश्य ज्ञात हो जायगा कि यह संसार तुमको सच्चा आनन्द नहीं दे सकता; क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु काल, स्थान और परिच्छेद तक सीमित है। मृत्यु, व्याधियाँ, वृद्धावस्था, चिन्ता, उद्विग्नता, आकुलता, व्याकुलता, भय, हानि, निराशा, विफलता, अपमान, उष्णता, शीत, सर्प-दंश, वृश्चिक-दंश,

भूकम्प, आकस्मिक घटनापात इत्यादिक दुःखों से यह संसार क्षण भर के लिये भी मुक्त नहीं है।

काम-वासना पर अवश्यमेव विजय पाई जा सकती है। विजय पाने के लिए अनेकों अचूक मार्ग हैं। विश्वास कर लो कि काम-उद्वेग पर विजय पा कर ही सच्चे आनन्द की प्राप्ति की जा सकेगी। यह सच है कि सब लोग संन्यासी नहीं बन सकते; क्योंकि प्रत्येक का जीवन अपने पूर्व कर्मों के वश में हो कर विविध बन्धनों में पड़ा हुआ है और विविध प्रकार की ममता उसे एक ओर समेटे हुए है। कोई स्त्री के साथ चिपके हैं तो कोई सन्तान और सम्पत्ति वैभव के साथ। सारी दुनियाँ संन्यास ले ले, यह तो असम्भव बात है। किन्तु जितने लोग इस विचार और इस दृष्टिकोण के हैं, उनको इस दावानल से क्यों न बचाया जाय ?

दुनियाँ की आवादी मौसमी मच्छरों के समान बढ़ती जा रही है। उस पर यह हाय-तोबा कि लोग धर्मप्रिय नहीं हैं। दुनियाँ के किसी भी हिस्से में चले जाइए, वहीं काम-वासना का साम्राज्य फैला हुआ है। न परमात्मा का ध्यान, न बातें और न कुछ आध्यात्मिक निश्चय ही। केवल फैशनपरस्ती, होटल-बाजी, नृत्य-समारोह, घुड़दौड़ और सिनेमा का ही बोलबाला है। प्रत्येक का जीवन खाने, पीने और सन्ततिप्रजनन में बीत रहा है।

सरकारें प्रजनन-नियन्त्रण पर बहस कर रही हैं और कई गन्दे उपकरण प्रचलित होने लग गए हैं, जिनसे प्रजनन नियन्त्रण हुआ या न हुआ, यह दूसरी बात है; किन्तु कामुकता की हद हो

चुकी है। सफलता के बदले विफलता दूर रही, मुँह तक की खानी पड़ रही है। प्रजनन-नियन्त्रण की योजना सफल भी हो गई तो क्या हुआ; शक्ति का अपव्यय तो होता ही जा रहा है। यदि प्रजनन-नियन्त्रण के साथ-साथ शक्ति का नियन्त्रण भी कर लिया जाय तो फिर कहना ही क्या है? पर मनुष्य इतना बुद्धिमान् क्योंकर होने लगा? मनुष्य तो निश्चय कर चुका है कि वह धन और जीवन को कामुकता की ज्वाला में भस्म कर के ही रहेगा। ध्यानपूर्वक बाजार के कोने में बैठ कर देखिए तो प्रतीत होगा, जैसे सब के सब विपरीत बुद्धि के हो गए हैं। प्रत्येक व्यक्ति गलत रास्ते पर चल रहा है। मानवता का शोचनीय उदाहरण यह मनुष्य, हे राम! कब करोगे इसका उद्धार? कब सिखलाओगे इसको ब्रह्मचर्य का वह पहिला पाठ, जिसको भारत में प्राचीन काल का बच्चा-बच्चा भी अच्छी तरह समझता था? कब सिखलाओगे इसको आत्म-संयम, जिसको सीख कर प्राचीन भारत का नागरिक अपने समाज को सुदृढ़ और यशस्वी बना गया?

बाल-विवाह ने समाज की कमर तोड़ डाली है। बङ्गाल और मद्रास में बालविधवाएं अधिक संख्या में दिखलाई देंगी। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के नवयुवक पत्रों में लिखा करते हैं—"स्वामी जी! मेरा हृदय आध्यात्मिक ज्ञान के लिए तरस रहा है। सांसारिक व्यवहारों में मेरी जरा भी रुचि नहीं। मैं विवाह-बन्धन में बँध चुका हूँ। मेरे माता-पिता ने मुझे इसके लिए बाध्य किया; केवल उनको प्रसन्न करने के लिए मैंने यह बन्धन स्वीकार किया है। अब मुझे रोना आता है। क्या करूँ, आप ही मार्ग बतलाइए।"

वेचारे नवयुवक, जिनको इस संसार का रत्ती भर पता नहीं है, बचपन में ही विवाह-पाश में आबद्ध कर दिए जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चे ही बच्चे पैदा कर रहे हैं। छोटी-सी आयु में ही लड़की को माँ बन जाना पड़ता है। तभी तो आज के समाज का मानसिक और शारीरिक पतन हो रहा है। दीर्घायु का तो केवल शब्द मात्र ही रह गया है। बार-बार बच्चा जनने से स्त्रियों का स्वास्थ्य गिर जाता है, व्याधियों के साथ-साथ वे मृत्यु की ग्रास भी बन जाती हैं।

फैशनपरस्ती आदि कई आदतें तुमने पश्चिम से सीखी हैं। तुमने अपनी दिशाओं में उनका वानरीकरण किया है। पश्चिम में लोग तब तक विवाह नहीं करते, जब तक उनमें परिवार-पालन की योग्यता और शक्ति नहीं आ जाती। पहिले वे अपने जीवन के लिए निर्वाह-साधन खोज निकालते हैं, तब धन-संग्रह करते हैं बाद में जा कर ही विवाह करते हैं। धनाभाव हुआ तथा परिवार-सँभालने की अयोग्यता हुई तो वे आजन्म अविवाहित ही रहते हैं। हम लोगों की तरह वे संसार के भिखारियों की संख्या को बढ़ाना नहीं चाहते। जिसने संसार की परिस्थिति का अच्छी तरह अवलोकन कर लिया है और जो जीवन के दुःख का जरा भी अनुभव कर चुका है, वह किसी भी स्त्री के गर्भ में प्रजनन-विन्दु के लिए सन्नध नहीं होगा।

कम वेतन वाले व्यक्ति को बड़े परिवार का पालन करने के लिए घूस आदि अवैधानिक व्यवसायों का सहारा लेना पड़ता है। उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह धन जमा करने के लिए हर प्रकार के बुरे काम करने पर उतारू हो जाता

है। कामवासना की भयङ्कर लहर उसे वहा ले जाती है। वह स्त्री का दास बन जाता है। जब वह उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता या जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता तो तीखे व्यंग्यों और कटु शब्दों को सुनता रहता है। रिश्वत लेना, दूसरों को ठगना, असत्य भाषण करना तथा अन्य दुर्गुण उसके चित्त में अङ्कित हो जाते हैं तथा जन्म-जन्मान्तर उसके साथ चलते हैं। अतः दूसरे जन्मों में भी वह अपने पूर्व-संस्कारों के वशीभूत हो पुनः वही ठगपन्थी और असत्यभाषण आदि कुकर्म आरम्भ करता है। अपने कुकर्मों के वश में हो कर व्यक्ति अपने मानसिक जगत् को इतना कलुषित कर देता है कि आगामी जन्मों में पुनः पुनः उन्हीं कर्मों को दुहराता है। अपने साथ-साथ वह उन्हीं पुराने विचार और अनुभवों को लाता है, जिनमें नारकीयत्व की प्रचुरता रहती है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने विचारों और अनुभवों के चुनाव में सावधान रहे। दिव्य विचार, आदर्श, अनुभव तथा महान् कर्म कर अपने जीवन को उच्च बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। कर्म और प्रतिफल की गति समान और विपरीत हुआ करती है। यदि व्यक्ति इस नियम को जान ले तो वह कभी पापकर्म में रत नहीं होगा।

जिस व्यक्ति ने अपने कामुक स्वभाव को शान्त कर लिया है, वह संसार में सबसे अधिक सुखी है। यदि तुम इस विषय पर विवेकपूर्ण विचार करो तथा एकाग्रता और एकनिष्ठ भक्ति-सहित आध्यात्मिक साधना आरम्भ कर दो तो काम-रूप-शत्रु पर विजय पा सकते हो।

आहार-विहार में सावधानी बरती जानी चाहिए। दूध, फल, मूँग की दाल तथा जौ की रोटी का सेवन करो। चटनी, आचार, मिर्च तथा अन्य चरपरे पदार्थ त्याग दो। सात्त्विक भोजन करो। जब-जब मन में काम का वेग प्रबल हो, जोर से प्रणव का उच्चारण करो। हर रोज प्रातःकाल ४ बजे ध्यान करो। विचार करो कि तुम कौन हो। हर समय अपने मन में यह सिद्धान्त दृढ़ रखो कि आत्मा में वासना नहीं रहती है; कामवासना मन की उपाधि है।

नित्यप्रति ४ बजे सुबह उठ कर अपने इष्ट-मन्त्र का जप करना चाहिए। भगवान् के पवित्र स्वरूप का ध्यान करो। हर रोज गीता का एक अध्याय अवश्य पढ़ो। जिन दिनों काम का वेग प्रबल हो रहा हो, उन दिनों उपवास करो। उपन्यास न पढ़ो और न सिनेमा ही देखने जाओ।

जब कभी किसी स्त्री को देखते हो तो कामपूर्ण विचारों को मन में न उतरने दो। अपने पाँवों के अङ्गूठों की ओर देखो तथा इस अभ्यास का विचार करते हुए बाजारों में चलो। चलते-चलते अपना गुरुमन्त्र भी जपते जाओ। प्रत्येक वस्तु में परमात्मा को देखने का अभ्यास करो। अपना गुरुमन्त्र भी एक पुस्तक में लिखा करो, इससे मन शान्त हो जाता है।

यदि उपरि-लिखित आदेशों का अक्षरशः पालन करोगे तो कामुक प्रवृत्ति पर विजय पाने में सफल बन सकोगे। धन्य है वह व्यक्ति, जिसने अपने मन पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया है तथा जो निष्काम हो कर इस पृथ्वी पर विचरता है।

शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, सिद्धासन तथा प्राणायाम का अभ्यास करो। काम-प्रवृत्ति का दमन करने के लिए इनका बड़ा महत्व है। रात को पेट ठूँस कर भोजन न करो। रात का अन्तिम भोजन हल्का और स्निग्ध होना चाहिए। मैं तो यह कहता हूँ कि रात को केवल दूध और फल ही क्यों न लिए जाएं ? दूध मिलने में कठिनाई हो तो रोटी और मूँग की दाल काफी है। यह सिद्धान्त अपने जीवन में सदा व्यवहृत करो ; साधारण जीवन और असाधारण चिन्तन। यदि इस सिद्धान्त को अपने चित्त में लिख सको तो तुम्हें बड़ी प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी।

अध्ययन के लिए भी अच्छी पुस्तकें चुन लो। शङ्कराचार्य-रचित कुछ स्तोत्र, विवेक चूड़ामणि, वैराग्य-शतक (भर्तृहरि-कृत) को अपने दैनिक अध्ययन से संयोजित कर सकते हो। इनसे तुमको आन्तरिक प्रेरणा मिलेगी। जहाँ कहीं सत्सङ्ग हो रहा हो, अवश्य जाओ। कथा, संकीर्तन तथा धार्मिक उपदेश सुनने के अवसरों को खोजते रहो। स्त्रियों के साथ मित्रता-सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न न करो। स्त्रियों के साथ मित्रता अन्ततः पतन का ही कारण बनती है। इस आदेश को कभी न भूलना।

किसी भी स्त्री की ओर कामुक दृष्टि से न देखो। आत्म-भाव, दैवी-भाव, मातृभाव अथवा अनुजा-भाव का प्रयोग करो। हो सकता है, पहिले-पहल तुम विफल हो जाओ। पर बार-बार प्रयोग करते रहने से एक-न-एक दिन सफल बन सकते हो। मन जब-जब उस ओर दौड़े तो शरीर के अन्दर के मांसादि तत्त्वों पर विचार करो, जिनसे नारी-शरीर का (पुरुष शरीर का भी) निर्माण हुआ है। यह विचार आते ही वैराग्य की

भावना तीव्र होगी और तुम फिर कभी भी अपवित्र दृष्टि से किसी स्त्री की ओर नहीं देखोगे और न उनके प्रति किसी प्रकार का बुरा भाव रखोगे। इस अभ्यास में कुछ समय लग ही जाता है। कितना समय लगता है, यह तुम्हारे अभ्यास की सच्चाई के ऊपर निर्भर है। यही अभ्यास स्त्रियों के लिए भी उचित है। वे भी अपने मन में उपरोक्त विचारों को भरती रहें। वे भी कामुक लालसा को रोकने में सफल हो सकेंगी।

जब-जब मन बहकता है, उसे दण्ड दिया करो। एक बार मन में बुरा विचार आने पर एक दिन के लिए भोजन न करो। तदनुसार २० माला जप अधिक करो। वास्तव में स्त्री घृणा के योग्य नहीं, बल्कि उसके प्रति जागृत हुई काम-लालसा ही घृणास्पद है। इसी प्रकार पुरुष घृणास्पद नहीं, बल्कि पुरुष के साथ सम्भोग करने की इच्छा घृणित है।

कुछ दिनों के लिये नमक और इमली छोड़ दो। नमक से काम-वासना उद्दीप्त होती है, उद्रेक-स्वभाव को सहारा मिलता है। नमक से इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं तथा उनकी वासनात्मक प्रवृत्ति शक्तिसम्पन्न होती है। नमक का त्याग करने से मन शान्त होता है तथा स्नायुमण्डल सात्त्विक। इससे ध्यान में सहायता पहुँचती है और विचारों में भी पवित्रता आती है। आरम्भ में कुछ कष्ट की प्रतीति होती है, किन्तु उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। छः महीनों तक नमक रहित भोजन करो तो फिर नमक का नाम सुनते ही मिचली आने लगेगी। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्य पहिचाने और सच्चे दिल से उस कर्त्तव्य की पूर्ति करने में तैयार हो जाए।

आसक्ति

विचार के तीन अङ्ग हैं; आसक्ति, कामना और अनुराग। आसक्ति के अभाव में कामना का अभाव स्वतः सिद्ध है; पर वस्तु के प्रति अनुराग किसी-न-किसी अवस्था में वर्त्तमान रहता ही है। यदि रोटी और चावल में किसी को चुनने के लिये कहा जाय तो प्रत्येक वङ्गाली और मद्रासी चावल को ही चुनेगा; क्योंकि चावल के प्रति उसका अनुराग है। अतः कामना का दमन करना है तो अनुराग का अन्त कर देना चाहिये।

आसक्ति के कारण जीव संसार से जकड़ा हुआ रहता है। यह दृढ़तम पाश है। आसक्ति न होती तो तुम्हारा जन्म ही क्यों होता? स्थूल शरीर आसक्ति का प्रथम केन्द्र है। इसके बाद अन्य आसक्ति-वर्ग का नम्बर आता है। तदनन्तर माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री आदि सम्बन्धी आसक्ति है। आसक्ति किसी स्थान, व्यक्ति या पदार्थ के प्रति भी हो सकती है। आसक्ति के साथ-साथ अहंत्व और ममत्व का विचार भी रहता है। आसक्ति की परिभाषा की जाय तो यह गोंद के समान चिपकने वाली चीज है, जो व्यक्ति को पदार्थ के साथ आसक्तिभूत कर देती है। किसी पदार्थ या व्यक्ति के प्रति आसक्ति क्यों होती है? इसलिये कि वह उस वस्तु या व्यक्ति में अपने सुख की खोज करता है अथवा अपने सुख को देखता है। जहाँ सुख की भावना है, वहीं आसक्ति भी है। मन स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदि पदार्थों में सुख की प्रतीति करता है, तभी तो उसके प्रति आसक्त रहता है।

आसक्ति सभी मानव-व्याधियों की जड़ है। यदि आसक्ति न होती तो मनुष्य कदापि दुःखी न होता। अविद्या के कारण आसक्ति होती है अथवा अविद्या का रूपान्तर ही आसक्ति है। पति पत्नी की मृत्यु हो जाने पर रोता है; क्योंकि उसका अपनी पत्नी के प्रति अनुराग रहा। पत्नी पति की मृत्यु पर इसलिये रोती है कि उसकी पति के प्रति आसक्ति थी। यह आसक्ति इसलिये कि एक-दूसरे से रति-आनन्द की प्राप्ति कर पाते थे, जो दोनों में से एक की मृत्यु पर सम्भव नहीं। आसक्ति के साथ-साथ मोह और भय रहता है। मोह अपवित्र प्रेम है। मोह और भय तथा आसक्ति सदा से साथ-साथ रहते आ रहे हैं। शरीर से आसक्ति हो जाने पर देहपात् का भय रहता है। सम्पत्ति में आसक्ति हुई तो सम्पत्ति विनाश का भय बना रहता है। आसक्ति और भय को अलग नहीं किया जा सकता। अग्नि और तज्जन्य उष्णता के समान दोनों का अभेद सम्बन्ध है।

आसक्ति अनेकों रूप धारण करती है। इसके सूक्ष्म कार्यों का अन्वेषण करने के लिये साधक को सदा सावधान रहना पड़ता है। संन्यासी, जिसने सभी प्रकार का त्याग कर दिया, आसक्ति से मुक्त नहीं रह पाता। लोक-व्यवहारों तथा वस्तुओं का त्याग कर देने पर भी वह आश्रम और शिष्यों के प्रति आसक्त रहता है। संन्यासी की आसक्ति साधारण व्यक्ति की आसक्ति से कहीं अधिक सबल और प्रभावशाली है।

बङ्गाल और मद्रास से सहस्रों विधवायें बनारस में केवल एक विचार रख कर जीवन बिता रही हैं कि उनको मुक्ति मिलेगी। किन्तु उनका मन अपने पूर्व परिवार तथा नाती-पोतों के प्रति आसक्त रहता है। आग जलाने के लिये उन्होंने जो

उपले तैयार किये हैं, उनके प्रति भी उनकी ग्रासक्ति रहती है। तब बताइये कि बनारस में रहने पर भी मुक्ति कैसे मिल सकती है?

मन का यह स्वभाव है कि वह किसी-न-किसी पदार्थ की ग्रोर ग्रासक्त होता रहता है। जब तक वह किसी पदार्थ के साथ ग्रपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, तब तक उसे शान्ति का ग्रनुभव नहीं होता है। यदि मन को एक पदार्थ की ग्रासक्ति से दूर भी रखो तो वह दूसरे पदार्थ से चिपक जाता है। यह इसका स्वभाव है। मन के इस स्वभाव का कारण रजोगुणी वृत्ति ही है। यदि रजोगुण का निराकरण कर दिया जाय तो ग्रासक्ति का लोप हो जाता है।

कितने ही व्यक्ति ऐसे है जो छोटी-छोटी वस्तुग्रों में ग्रासक्त रहते हैं; जैसे फाउन्टेन् पेन्, छड़ी, तस्वीरें, रुमाल ग्रादि ग्रादि। दो मित्र, दो वर्षों से एक दूसरे के साथ रहते थे, सहसा ही एक दूसरे से ग्रलग हो जाते हैं। केवल इसलिये कि एक व्यक्ति का किसी वस्तु के प्रति ग्रनुराग था, उसे दूसरे व्यक्ति ने ग्रसावधानी से खो दिया। स्त्रियाँ घर में कलहपात् करती रहती हैं, इसका कारण भी ग्रासक्ति है। ग्रौर तो रहे ग्रौर, संन्यासी तक ग्रपने दण्ड ग्रौर कमण्डल के प्रति इतने ग्रासक्त रहते हैं कि पूछिए मत; मरते दम तक इन छोटी सी वस्तुग्रों में उनकी ग्रासक्ति रहती है। मन सदा उसी पुरानी चाल से चलता है; मन का सुधार करने के लिए सच्ची साधना ग्रौर तीव्र तपस्या की ग्रावश्यकता है। निरन्तर सङ्घर्ष ग्रौर विचार द्वारा मन की इस प्रवृत्ति का दमन करना होगा। मन को निरन्तर शिक्षित

करने की आवश्यकता है; जब तक वह शिक्षित नहीं हो जाता, तब तक उसी पुरानी पगडण्डी पर ही चलते रहेगा।

"घर जल गया" इस वाक्य का तुम्हारे मन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना प्रभाव "तुम्हारा घर जल रहा है" इस वाक्य का पड़ता है; क्योंकि तुम्हारी अपने घर के प्रति आसक्ति थी। इसीलिये तुम अपने घर जलने का समाचार सुन कर दुःखी हो जाते हो।

आसक्ति के कारण मनुष्य बारम्बार इस मृत्युलोक में आता है। प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में आसक्ति का बीज छिपा है। जब तक विचार और आत्म-ज्ञान द्वारा इस बीज को भस्म नहीं कर दिया, तब तक पुनर्जन्म की सम्भावना बनी रहती है। इस आसक्ति-रूप बन्धन को वैराग्य की तीव्र धारा से काट देना होगा।

परमहंस सदा विचरते रहते हैं। तीन दिन से अधिक एक स्थान पर उन्हें नहीं ठहरना चाहिये। इस नियम का उद्देश्य यह है कि उनकी किसी वस्तु के प्रति आसक्ति न हो। एक ही स्थान पर कुछ दिन ठहरने से राग-द्वेष की सम्भावना रहती है।

त्याग वस्तु-त्याग में नहीं, वस्तु-विचार के त्याग में है। इस शरीर के लिये भोग के जितने साधन हैं, उन सब का त्याग करने से सच्चा त्याग सिद्ध होता है। यह नहीं कि त्याग को सिद्ध करने के लिए जङ्गलों की राह पकड़ लेनी चाहिए। राजा शिखिध्वज भले ही जङ्गलों में रहते थे, परन्तु उनकी आसक्ति वैसी ही थी, जब कि उनकी रानी चूड़ालाई राज्य का प्रति-पालन करते हुए भी निरासक्त रही।

इसलिये प्रतिदिन मन को शिक्षित करना चाहिये। अपनी स्त्री, अपने पुत्र तथा धन के प्रति इतनी आसक्ति क्यों? यह दुनियाँ, हम सुनते आ रहे हैं, सराय के समान है, जहाँ हमने एक-दो रातें गुजारनी हैं। कुछ समय के लिये हम इस सराय में एक दूसरे से मिलते हैं; तो क्या एक दूसरे के प्रति आसक्त हो जाना किसी प्रकार उचित सिद्ध होता है?

अपना मन परमात्मा में लगा देना चाहिए। नित्यप्रति स्वाध्याय, जप तथा विचार करने से मन को शक्ति मिलेगी। मन के सामने यह अनुभूति रखो कि आत्मा में सतत आनन्द है, दुःख का लेशमात्र भी नहीं। इस अनुभूति को सिद्ध करने के लिए सन्तों और योगियों के चरित्रों का अध्ययन करो, जिन्होंने आत्मा में निरत रह कर सच्चा आनन्द और सच्ची शान्ति पाई थी। धीरे-धीरे तुम्हारा मन यथानुरूप चलने लगेगा, उसकी पुरानी चाल छूट जायगी।

शास्त्रों में कहा है कि आसक्तिमय जीवन निष्प्राण है। निरासक्ति शाश्वत जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है। आसक्ति से हृदय सङ्कुचित होता है, निरासक्ति से वह विकसित होता है। आसक्ति मनुष्य को क्षुद्र बना देती है, निरासक्ति स्वतन्त्रता, मुक्ति तथा पूर्णता को आलोकित करती है। आसक्ति से द्वेष, कलह, भेद तथा युद्ध का जन्म होता है, जबकि निरासक्ति एकता और शान्ति का अग्रदूत है। आसक्ति विष का प्याला है, निरासक्ति अमृत है। आसक्ति मनुष्य का वैरी है, निरासक्ति परम मित्र। आसक्ति मनुष्य को नीचे ढकेलती है, निरासक्ति उसे परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित कर देती है।

दक्षिण में एक व्यवसायी था। एक दिन अकस्मात् उसका लड़का तालाब में गिर पड़ा। माता की पुत्र के प्रति ममता थी, वह भी तालाब में कूद पड़ी और डूब गई। व्यवसायी को जब इस घटना का पता चला तो वह भी पुत्र-स्त्री-मोह के वशीभूत हो कर तालाब में कूद पड़ा। इस प्रकार की घटनाएं नित्यशः घटती हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो स्त्री या पुत्र की मृत्यु के कारण अपनी हृदय-गति खो बैठते हैं।

ममता सभी प्रकार की मानसिक व्यथाओं की माता है। संसार में दुःख, सन्ताप, व्यथा, आधि और व्याधियों के लिए केवलमात्र आसक्ति ही मूल कारण है। आसक्ति से सब प्रकार का अनौचित्य उत्पन्न होता है। आसक्ति से रञ्ज-ग़म और राग-द्वेष का अवतरण होता है। आसक्ति से सांसारिक कामनाएं उद्भूत होती हैं और पदार्थ के प्रति जो प्रेम होने लगता है, उसका कारण भी आसक्ति है। यदि सभी प्राणी आसक्ति से विमुक्त हो जाएं तो मृत्यु, शोक और दुःख का लोप हो जायगा। जिस प्रकार बड़वाग्नि समुद्र को, दावाग्नि जङ्गल को तथा जठराग्नि भोजन को भस्म करती है, उसी प्रकार आसक्ति भी धर्म, अर्थ तथा मोक्ष-रूप मानव-मणि को भस्म कर देती है।

जिसने अपने वैभव का त्याग कर दिया, वही सच्चा त्यागी बन सकता है; क्योंकि उसने वैभव की आसक्ति का परित्याग कर दिया है। पर जिसने संसार में रह कर भी सांसारिकता के मूल-रूप आसक्ति, ममता और राग-द्वेषादि का परित्याग कर दिया है वह सबसे महान् त्यागी है। ऐसा पुरुष काम-पाश से छूट जाता है। मृत्यु उसे मार नहीं सकती, सन्ताप उसे

सन्तप्त नहीं कर सकता और वासनायें उसे दबा नहीं सकतीं। निरासक्त मनुष्य समाज का उज्ज्वल सूर्य है, जिसके प्रकाश में जनता अपना मार्ग खोज निकालती है। ऐसे व्यक्ति को ही अवतार मान कर पूजा जाता है।

क्षुद्र-वृत्ति

संसार में नीच बुद्धि वाले व्यक्तियों की भरमार है। ९९ प्रतिशत व्यक्ति नीच स्वभाव वाले होते हैं, भले ही तुलनात्मक रूप से वे अलग-अलग श्रेणी के हों।

नीच बुद्धि वाला व्यक्ति दूसरों की उन्नति देख कर दिल ही दिल में जलने-भुनने लग जाता है। दूसरों की सच्चरित्रता अथवा सफलता की बातें सुनते ही उसके हृदय में अग्नि दहकने लग जाती है। परिणामस्वरूप वह उनको गिराने की चेष्टा करता है। 'किस प्रकार अमुक व्यक्ति के यश पर कालिमा लगाई जाय और उसकी सफलता का मार्ग अवरुद्ध किया जाय'—यह विचार नीचता के द्योतक हैं। नीच व्यक्ति में शिकायतबाजी, चुगली खाना आदि दुर्गुण अवश्य होते हैं। द्वेष और ईर्ष्या उसमें खूब डट कर खेल खेला करती है।

शिक्षित व्यक्ति इससे छूटे नहीं हैं। व्यक्ति भले ही उच्च-कोटि का साहित्यकार या कवि क्यों न हो, अच्छा लेखक या समालोचक अथवा वक्ता क्यों न हो और चाहे उसकी पुस्तकें विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम में क्यों न स्वीकृत की गई हों, पर उसमें नीचता का होना आश्चर्य नहीं है। ऊँची प्रतिष्ठा अथवा ऊँची शिक्षा प्राप्त करने पर भी व्यक्ति नीच प्रवृत्तिक हुआ

करता है। कई ऐसे साहित्यकार हैं, जिनकी रचनाओं पर शिक्षित समाज बलि-बलि जाता है, किन्तु उनकी नीचता का अनादर भी करता है।

ऐसा व्यक्ति अपने भाई की सम्पत्ति हड़पने के लिये उसे विष देने में भी नहीं झिझकता। नीच प्रवृत्ति के लोग जाली दस्तख़त करने, सफेद झूठ बोलने, किसी को धोखा देने, व्यभिचार करने तथा डाका डालने में भी नहीं चूकते। अभिप्राय यह कि धन-संग्रह करने के लिये नीच-प्रकृति के व्यक्ति बुरे काम भी कर डालते हैं।

नीच-प्रकृति और कृपणता का चोली-दामन का साथ है। उदारता, दानशीलता कौन सी बला हैं, उनको पता तक नहीं। साधारण श्रेणी के लोग ही नीच-प्रकृति के हों, यह मत शत-प्रतिशत सिद्ध नहीं। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी इस प्रकृति के होते हैं। जेब में सैकड़ों के नोट होंगे, किन्तु रेलवे स्टेशन् पर कुली के साथ दो पैसों के लिये निर्लज्जतापूर्वक आधे घण्टे बकवास करना उनका स्वभाव-सा हो जाता है। हिसाब जोड़ने पर जब एकाध पैसे का अन्तर पड़ जाता है तो नीच प्रकृति के व्यक्ति दो आने का मिट्टी का तेल जला कर उसको खोजने लगते हैं। स्वयं स्वादिष्ट पदार्थ खाते हुए, यदि नौकरों को उनका उपभोग करते हुए देख लें तो उनका हृदय जलने लगता है। नौकरों के लिए चना-सत्तू और गुड़, अपने लिये षट्-व्यञ्जन—नीचता की यही साधारण पहिचान है। अपने लिए अच्छी वस्तुयें चुन कर, बुरी वस्तुयें नौकरों के लिये छोड़ देना नीचता का द्योतक है। नीच स्वभाव वाले मरते हुए व्यक्ति को पानी तक देना नहीं चाहते।

नीच बुद्धि की पहिचान के लिये याद रखो कि वह छोटी सी बातों के लिये हाय-तोबा मचा देता है; बात-बात में झगड़ा-फसाद खड़ा कर देगा; घमण्डी, ग्रहंपूर्ण ग्रौर क्रोधी होगा; सदा सन्दिग्ध विचारों से पूर्ण रहेगा, सदा निराश ग्रौर उदास रहेगा ग्रौर सबसे साफ पहिचान है कि वह ग्रपनी नीचता की पोल खुलती देख कर ग्राग-बबूला हो जायगा।

नीच बुद्धि के लोगों का धन उनके पुत्रों द्वारा हड़प कर लिया जाता है। ऐसे लोगों का धन डाक्टरों या वकीलों के बिलों को चुकाने में व्यय हो जाता है। धनसम्पन्न होने पर भी वे जीवन में ग्रानन्द की ग्रनुभूति नहीं कर पाते। इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे उस धन-राशि के रखवाले मात्र हैं।

इस वृत्ति से छुटकारा पाने के लिए प्रतिपक्षीय गुणों का सञ्चय करना चाहिए। दानशील स्वभाव, विश्व-प्रेम का ग्रादर्श, सेवा की भावना—इन तीन गुणों का ग्रभ्यास करने से नीचता का निराकरण किया जा सकता है। प्रातःकाल उठते ही नित्यप्रति विचार करो कि ग्राज उदारता का व्यवहार करोगे, महान् स्वभाव से प्रत्येक कार्य करोगे। दिन में कई बार इस निश्चय को दुहराग्रो। रात को सोने से पूर्व विवेचन करो कि दिन भर कौन-कौन से काम ऐसे किए गए, जिनसे नीचता सिद्ध होती थी। दूसरे दिन वैसा नहीं करने के लिए प्रतिज्ञा कर लो। प्रारम्भ में कुछ ग्रसफलता जरूर मिलेगी; किन्तु ग्रभ्यास करते-करते ग्रन्ततः नीच बुद्धि का दमन किया जा सकेगा।

नीचता स्वयं तो नीच है ही, साथ-साथ दूसरों को नीचा बनाने का प्रयत्न करती है। इससे यह सिद्ध होता है कि नीच

बुद्धि वाला व्यक्ति कभी ऊँचा नहीं उठ सकता। यदि उच्च-पद की ओर उठना चाहते हो तो उदार बनो, महान् बनो, दानशील बनो, निरपेक्ष बनो, सदा सबकी सहायता करते रहो और अन्त में अपने को सबसे नम्र बनाओ। दूसरों को ऊँचा पद दो।

षष्ठ प्रयोग

योग की अभ्यास माला

निषेध वाक्य

साधना

१. परमात्मा को कभी न भूलो।

२. प्रातःकाल ४ बजे उठ कर जप तथा ध्यान करना न भूलो।

३. आध्यात्मिक दैनन्दिनी (डायरी) रखना न भूलो।

४. नित्य-कर्म करने में ढीलढाल न रखो।

५. दान देना न भूलो।

६. माता-पिता के प्रति जो तुम्हारा कर्त्तव्य है, पूरे करना न भूलो।

७. किसी भी अवसर को खोओ मत।

८. नौकरों पर निर्भर मत रहो।

९. इन्द्रियों के दास मत बनो।

१०. सांसारिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति से मिलो-जुलो मत।

११. समय बरबाद मत करो।

ब्रह्मचर्य

१. वीर्य नष्ट मत करो।

२. ज्यादा बच्चे पैदा मत करो।

३. किसी स्त्री पर कामुक दृष्टि न डालो।

४. स्त्रियों के सम्पर्क में न रहो और स्त्रियाँ पुरुषों के सम्पर्क में न रहें।

५. सिनेमा देखने न जाओ तथा उपन्यास न पढ़ो।

सदाचार

१. दूसरों की सम्पत्ति की इच्छा न करो।

२. बदला न लो।

३. न तो किसी से घृणा ही करो और न किसी का तिरस्कार।

४. न तो किसी को दोष दो और न किसी को बुरा कहो।

५. बुरे शब्दों का प्रयोग मत करो।

६. धूम्रपान, मद्यपान आदि बुरी आदतों को मत स्वीकार करो।

७. अनावश्यक तर्क न करो।

८. किसी हालत में झूठ मत बोलो।

९. नमक, मिर्च लगा कर बातें कभी न करो।

१०. बिना टिकट के सफर मत करो।

११. विनाशकारी परामर्श न दो।

१२. रहस्य की कोई भी बात अपने अन्दर न रख छोड़ो।

१३. दूसरों को देख जलो-भुनो मत।

वैराग्य

१. संसार के कष्टों को भूल न जाओ।
२. आरामतलब बनने की कोशिश मत करो।
३. मृत्यु को कभी मत भूलो।
४. कल के लिए विचार न करो।
५. पत्र-व्यवहार मत करो।
६. समाचार-पत्र मत पढ़ो।
७. अपने दुःखों के निवारण के लिए प्रयत्न मत करो।
८. अपने पास संग्रह मत करो।

अनुशासन

१. अधिक मत बोलो।
२. अधिक मत हँसो।
३. एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाओ।
४. पेट को ठूँस-ठूँस कर न भरो।
५. किसी भी समय सुस्त मत रहो।
६. सदा बीमारी का ही विचार मन में न रखो।
७. प्रकृति के नियमों की अवहेलना न करो।
८. अधिक उपवास मत करो।
९. अधिक श्रम मत करो।
१०. मौन धारण करना न भूलो।

आनन्द और शान्ति का मार्ग

१. आशा मत करो, प्रतीक्षा भी नहीं।
२. दूसरों द्वारा किए गए अन्याय को मन में न रखो।
३. दूसरों की बराबरी न करो।

४. धनी व्यक्ति के साथ न रहो।
५. कल्पनाओं के किले न बाँधो।
६. जो बीत गया, उस पर शोक न करो।
७. भविष्य की योजना मत बनाओ।
८. किसी हालत में क्रुद्ध न होना।
९. सेवा अथवा सहायता के बदले और किसी चीज की आशा न करो।
१०. अपने परिचितों की संख्या में वृद्धि न करो।
११. हर किसी से परिचय करना ठीक नहीं है।
१२. बुरी सोहबत न रखो।
१३. धन का दुरुपयोग न करो।
१४. अपने आपको बहुत बड़ा मत समझो।
१५. राई का पर्वत न बनाओ।
१६. अपव्ययी मत बनो।
१७. साधारण बातों पर हायतोबा मत मचाओ।
१८. परमात्मा को कभी न भूलो।

गृहस्थों के कर्त्तव्य—उनका धर्म

गृहस्थों का सबसे बड़ा महान् कर्त्तव्य है, उनके बच्चों को शिक्षित-दीक्षित करना। यह उनका प्रमुख उत्तरदायित्व है। यदि वे इस उत्तरदायित्व को नहीं निभाना चाहते हैं तो अच्छा था, यदि वे तभी अपने को काम के वशीभूत न होने देते (सन्तति-प्रजनन के कारण न बनते) और नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन कर लँगोट बाँध लिये होते। गृहस्थी लोग यदि अपने बच्चों को अशिक्षित छोड़ रखते हैं तो उनको समय पर जवाब अवश्य देना होगा। माता-पिता यदि अपने पुत्रों को आदर्श

बनाना चाहते हैं तो उनका कर्त्तव्य है कि वे सबसे पहले अपने को आदर्श बना लें। जब वे आदर्श विचारयुक्त और व्यवहारशाली होंगे, तभी बालक भी उनका अनुसरण कर सकेंगे। ठीक माता-पिता की खराब आदतों को भी बच्चे जल्दी स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि बच्चों में प्रधान गुण है, अनुकरण करना। इस गुण का लाभ उठाने के लिये माता-पिता को चाहिये कि वे अपने में अच्छा आचार प्रकट करें, ताकि बालक भी वैसा ही उनका अनुकरण कर सकें।

बच्चों की बुद्धि लचकदार और परिवर्तनशील होती है। उनके चरित्र का निर्माण करने के लिये कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता। जिन संस्कारों को उनके मन में बचपन में ही बो दिया गया है, उनको मिटाया नहीं जा सकता और न वे ही भूल सकते हैं।

बच्चों को सुबह चार बजे उठने की आदत डालनी चाहिये (पर माता-पिता उठें, तभी न ?); पूरी गीता, विष्णुसहस्र-नाम, शिवस्तोत्रावलि, आदित्य हृदय आदि प्रार्थनायें बच्चों को याद करवा देनी चाहिये। उन्हें संकीर्त्तन करने की शिक्षा भी मिलनी चाहिये। स्कूली खेल-कूदों के साथ-साथ बच्चों में रामायण और भागवत की कथा पढ़ने की योग्यता और बुद्धि होनी चाहिये। बच्चों को अन्य सुविधाओं के साथ-साथ नैतिक शिक्षा देनी जरूरी है। बड़ों के प्रति उचित व्यवहार करना चाहिये—इस प्रकार की शिक्षा नैतिक शिक्षा का उदाहरण है।

अपने बच्चों की चाल-ढाल का ध्यान रखते रहना चाहिये, ताकि वे बुरी सोहबत में न पड़ जांय। असत्य भाषण करने पर उनको इस प्रकार का दण्ड मिलना चाहिये, जिससे उनको

सत्य वचन बोलने में श्रद्धा हो जानी चाहिये। बाजारू अश्लील शब्द और गालियाँ बोलने से उनको रोकना चाहिये। उनकी वाणी को भी तो पवित्र बनाना होगा। धूम्रपान तो कभी नहीं करने देना चाहिए, साथ-साथ पान भी वर्जित जानना चाहिये। बच्चों को सिनेमा ले जाने की आदत अच्छी नहीं है। इससे समाज में विनाश का बीज पनपता है। उपन्यास पढ़ने से भी उनको रोकना चाहिए।

बच्चों को संस्कृत की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए। संस्कृत भाषा में दिव्य प्रभाव रहता है। वह विद्यार्थी में अनेकों सद्गुणों का सञ्चार कर देती है। लड़कियों को भी संस्कृत अवश्य पढ़ाई जानी चाहिए। गीता का अर्थ समझने के लिए तो प्रत्येक को संस्कृत अवश्य सीखनी चाहिए।

एक दक्षिणी ब्राह्मण मेरे पास आया। उसने मुझे बतलाया कि उसकी माँ ने मुझसे उपदेश लेने से उसे मना किया। लाहौर से पहिले एक वकील आया करते थे, जिनको उनके पिता गीता पढ़ने और हरिद्वार जाने से रोका करते थे। कितने शर्म की बात है यह? ऐसे माता-पिता हो जांय तो सन्तान का तो बेड़ा गर्क हो जायगा। क्या आप ऐसे परिवार में आध्यात्मिकता या सदाचार की आशा कर सकते हैं? माता-पिता का कर्त्तव्य है कि बालकों का विवाह तभी किया जाय, जब वे अपने जीवन-निर्वाह के योग्य हो चुके हों। बाल-विवाह पर रोक लगा देनी चाहिये।

हर घर में रात के समय संकीर्त्तन होना चाहिए, जिसमें घर का प्रत्येक व्यक्ति सम्मिलित होवे। घर के नौकर-चाकर भी संकीर्त्तन पर बैठा लिए जायें। रामायण, भागवत

आदि कथा सुननी चाहिए। घर का कोई भी सदस्य रामायण और भागवत पढ़ सकता है। इससे मन सात्त्विक तथा घर का वातावरण आध्यात्मिक विचारमय रहेगा।

औरतें बड़ी बाचाल होती हैं। चुगलीखाना और नुकताचीनी करना उनको खूब आता है। अतः हर रोज ४ घण्टे के लिए मौन धारण करना चाहिए। पत्रिकाएं अथवा समाचार-पत्र या उपन्यास कुछ भी नहीं पढ़ने चाहिए। जब-जब समय मिले संकीर्त्तन-ध्वनियाँ गाते रहना चाहिए। भोजन बनाते हुए, कुँए से पानी खींचते हुए—हर समय मन-ही-मन में भगवान् का नाम लेते रहना चाहिए। इसके लिए **'श्रीमन्ननारायण नारायण नारायण'** मन्त्र बहुत सुन्दर है। प्रत्येक स्त्री को पतिव्रत धर्म का पालन कठोरता के साथ करना चाहिए। मन्दिर जाने की भी उसके लिए आवश्यकता नहीं। घर में पति से बढ़कर बड़ा देवता, घर से बढ़ कर बड़ा मन्दिर और बच्चों से बढ़ कर बाल-गोपाल और कहीं नहीं। इसका साक्षात्कार पहिले से कर लेना चाहिए।

आजकल तो औरतें भी समाचार पत्रों को पढ़ने लग गई हैं। सबसे शोचनीय बात तो यह है कि उनको भी उपन्यासों का चस्का लग चुका है, जो वास्तव में समाज के पतन का स्पष्ट लक्षण है। स्त्रियाँ समाज की मेरुदण्ड हैं। उनके मन में कलुषता आ जाने से समाज की क्या अवस्था होगी, उसका अनुमान लगाना कठिन है। पुराने जमाने की बातें छोड़िए, आज भी स्त्रियाँ फैशन, गहने, वस्त्र, सौन्दर्य प्रसाधन की ही बातें करती रहती हैं। आज जब न केवल पुरुष के कन्धों पर, बल्कि स्त्री के जिम्मे भी समाज-निर्माण का भार डाला जा चुका है, जब

सभी राष्ट्र स्त्री के उत्तरदायित्व पर हामी भर रहे हैं, इस प्रकार के निरर्थक कार्य-कलापों में जीवन और समय नष्ट करना शोभा नहीं देता। पति से अकेले घर का भार नहीं सहन होगा, अतः स्त्री भी परिवार के निर्वाह के लिए कार्य करने पर तुलने लग गई है। यदि इस कार्य के श्रेय को अपने पर ले लेने से उसकी पूर्ति नहीं की गई तो भविष्य में स्त्रियों के तमाम अधिकारों को समाज अवश्य छीन लेगा। अभी तक स्त्री-समाज एक ही सीमा का उल्लङ्घन कर रहा है। यदि दूसरी सीमा का उल्लङ्घन भी कर दिया तो समाज में अशान्ति अवश्य फैल जायगी, जिसका परिणाम होगा कि स्त्री की स्वतन्त्रता मुगल-शासन-काल के समान घर के अन्दर ही सीमित रह जायगी।

कई स्त्रियाँ अपने पति से कहा करती हैं : जब तुम मेरी इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकते, मेरे लिए रेशमी साड़ी, सोने के जेवर, सौन्दर्य के आधुनिक प्रसाधन नहीं ला सकते तो क्यों मुझे ब्याह लाए। दोनों का मनमुटाव हो जाता है, कालान्तर में एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, इसे ही आधुनिक भाषा में तलाक देना कहा जाता है। क्या पतिव्रत धर्म की अवहेलना नहीं हुई? सिर से ले कर पाँवों तक उनको गहनों से लाद दिया जाय तो वे तृप्त नहीं होवेंगी ; क्योंकि यह उनका स्वभाव है। क्या रेशमी साड़ियाँ और जेवरात जीवन के सच्चे सुख को तुम्हारे लिए निश्चित कर सकेंगे ? सोचो और विचारो। मदालसा और मीरा के देश की नारी पश्चिमी नारियों के समान ही होटलों में जा कर चाय, काफी आदि पीती है। जिस देश में नारी को सभ्यता के समस्त संसार में पहिली बार माता (देवी भी) कह कर सम्बोधित किया गया, जिस देश ने नारी को सुरक्षित रखने के लिए पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य और स्त्रियों के

लिए पतिव्रत धर्म का निर्णय किया, उसी देश की नारी अपनी श्री को तिलाञ्जलि दे कर सार्वजनिक स्थानों में चौकड़ियाँ भरे, क्या यह शोचनीय बात नहीं है ? माया कितनी प्रबल है और मनुष्य कितना दीन ! धन, जन, चरित्र और सब कुछ स्वाहा हो रहा है।

प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि दिन के समय, जब घर के पुरुष लोग काम पर चले जाते हैं, बच्चों को अच्छी शिक्षाएं देती रहे, उन्हें लिखना-पढ़ना सिखलाए, उनको सदाचार की शिक्षाएं दे, पुराणों और शास्त्रों की कहानियाँ सुनाए। बच्चों को जब उनका यज्ञोपवीत हो जाय, नित्य-प्रति सन्ध्या-वन्दन करने के लिए विवश करना चाहिए। दिन में तीन बार सन्ध्या करने से बच्चे के मुँह पर तेज निखरने लगता है, बुद्धि तेज होती है, प्रतिभा उज्ज्वल, हृदय निर्मल होता है। वह विद्यार्थी बन कर सफलता प्राप्त करता है, गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने पर सफल गृहस्थी भी।

यदि माता-पिता अपने बालकों के मन में अच्छे संस्कार बो सकें तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज की वर्त्त-मान शिक्षा-प्रणाली भी समाज की व्यवस्था को नहीं बिगाड़ सकेगी। शिक्षा के ब्रह्मास्त्र से हमारे देश, हमारी जाति, धर्म और संस्कृति पर पश्चिम का जो आक्रमण हो रहा है, उसका प्रतिकार करने का केवलमात्र एक उपाय है, वह है अपने-अपने बालकों को बचपन से ही इस प्रकार की शिक्षा देना कि वे शुद्ध विचार, शुद्ध कर्म और शुद्ध व्यवहार में परायण हो सकें। यदि ऐसा सम्भव हो सका तो जान लीजिए कि हम अपनी संस्कृति को सुन्दर, जाति को उन्नत, धर्म को उज्ज्वल और

समाज को सुव्यवस्थित बना सकेंगे। गृहस्थों पर यह उत्तर-दायित्व है, जिसका वे पालन अवश्य करें।

साधकों को आदेश

निश्चय पक्का हो तथा सङ्कल्प फौलाद के समान दृढ़। एक बार निवृत्ति-पथ पर आ चुके हो तो पीछे लौटने की मत सोचो। इससे अच्छा तो यही कि कूदने से पहिले आगे अच्छी तरह देख लो। साहस, एकाग्रता, निश्चित लक्ष्य होना चाहिए इस जीवन का। सोच लो कि तुम क्या करने जा रहे हो और क्यों करने जा रहे हो, किस विधि को अपना कर सफल बनोगे। चञ्चल मत बनो। क्या तुम धन-सम्पत्ति का तो क्या, अपने शरीर का मोह भी त्याग चुके हो, त्यागने को तैयार हो? यदि हाँ तो निवृत्ति-पथ पर आ सकते हो। मार्ग प्रशस्त है यहाँ का, तुम्हारे लिए संन्यास-मार्ग खुला है। किन्तु निश्चय करने से पहिले जरूर सोच लो और अच्छी तरह विचार लो कि तुम क्या करना चाहते हो और क्यों?

आध्यात्मिक पथ (निवृत्ति-पथ) गुलाब की सेज नहीं, जैसा साधारणतः सोचा जाता है कि संन्यास ले कर शेष जीवन आनन्द से व्यतीत करेंगे, आराम से रहेंगे, निश्चिन्त हो कर। यह मार्ग सङ्कटों से भरा हुआ है। इसके रास्ते में अनेकों कठिनाइयाँ हैं। अतः विनम्र हो कर चलना पड़ता है। धैर्य और सहिष्णुता के साथ चलना पड़ता है। कुछ लोग सिद्धि और कुण्डलिनी शक्ति के पीछे पागल हो जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। उद्विग्न होने से इस मार्ग में सफलता नहीं मिलती। यदि साधक में धैर्य और साहस तथा विनम्रता है तो वह अनेकों

कठिनाइयों को पार करते हुए चलता है। भावुकता होने से भी काम नहीं चलेगा, गम्भीर होना चाहिए। कुछ भावुक नवयुवक इस मार्ग पर आते हैं, किन्तु थोड़ी-सी कठिनाई का सामना न कर पाने से भयभीत हो कर संसार में वापस लौट जाते हैं। उनमें शक्ति और साहस का अभाव रहता है। यह ठीक है कि इस मार्ग में अनेकों कठिनाइयाँ हैं, किन्तु यह भी है ही कि धैर्यशील और उद्यमी तथा साहसी व्यक्ति बड़ी सफलता से इस मार्ग पर चलता जाता है और अन्त में जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति भी कर लेता है। इस मार्ग में जो लोग चलते आए, वे समाज के वन्द्य और पूज्य बने। बिना साम्राज्य के वे महाराजा थे और बिना धन के वे परम ऐश्वर्यशाली। जिस व्यक्ति में निश्चय, धैर्य, सहिष्णुता, आत्म-समर्पण की भावना, वैराग्य तथा दृढ़ सङ्कल्प की प्रचुरता है, वह इस मार्ग पर आसानी से बढ़ता जाता है।

जो लोग एकान्त सेवन करना चाहते हैं तथा निवृत्ति-मार्ग-परायण होना चाहते हैं, उनको मौन धारण करना चाहिए, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए, मन तथा शरीर को अपने वश में करना चाहिए—भले ही वे संसार में ही क्यों न हों। निवृत्ति-मार्ग के साधक को इस प्रकार योग्य बन जाना होगा, ताकि कठिन से कठिन तथा नीरस से नीरस जीवन उन्हें हताश और निराश न कर सके। रूखा भोजन भी मिले तो उसे पचा लेने की शक्ति होनी चाहिए, सोने के लिए बिस्तरा भी न मिले तो सन्तुष्ट रहना चाहिए, नङ्गे पांवों भी चलना पड़े तो कष्ट नहीं मानना चाहिए और छाता, जूता, सुगन्धित द्रव्य आदि भोग-विलास के साधनों के अभाव में भी आनन्दित और सन्तुष्ट रहना चाहिए। तभी वे इस जीवन की तपस्या और परिव्राजक-

जीवन की कठिनाइयों को सह सकते हैं। यदि भिक्षा भी माँगनी पड़े तो शर्माना नहीं चाहिए। कायरता इस मार्ग का अभिशाप है (और मार्गों का भी) तो भी इतना अवश्य होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो इस मार्ग में आ कर एकान्त सेवन करना चाहता है, अपने पास जीवन-निर्वाह के लिए कुछ धन अवश्य रखे (कम से कम पन्दरह रूपये महीने के हिसाब से)। आज समय बदल गया है। पुराने समय के समान आध्यात्मिक पंथ के साधकों को मधुकरी (भिक्षा) मिलनी सम्भव नहीं है। जहाँ भी वे जायेंगे उनको काम ही करना होगा, अतः एकान्त सेवन में बाधा होगी। अतः आज वह समय आ गया है, जब संन्यासी को भी संन्यास-व्रत में जमे रहने के लिए धन रखना ही पड़ता है। संन्यासी को भी आर्थिक स्थिति ने बन्धन में डाल दिया है। तभी मैं प्रत्येक साधक को उसकी भलाई के लिए यह आदेश देता हूँ कि निवृत्ति-मार्ग में आने के साथ-साथ अपने पास कुछ धन अवश्य रखना चाहिए, ताकि ध्यान, जप आदि साधन में बाधा न पहुँचे।

ब्रह्मचर्य, गुरुभक्ति, लगनपूर्वक साधना करते रहने से कुछ काल में योग-मार्ग की सफलतायें पनपने लगती हैं। अधिकतर देखा गया है कि निवृत्ति-मार्ग में आने से साधक आलसी और काहिल हो जाते हैं और उनको यह निश्चय नहीं हो पाता कि कैसे मन की शक्तियों का सदुपयोग किया जाय। इसका कारण है कि वे अपनी दिनचर्या निश्चित नहीं करते हैं। उनके अपने स्वतन्त्र विचार होते हैं, गुरु की आज्ञानुसार चलना उनको उचित नहीं जान पड़ता। यह सच है कि उनमें वैराग्य की प्रचुरता होती है, किन्तु आध्यात्मिक पथ का अनुभव नहीं होने से वे आगे नहीं बढ़ सकते। यहाँ तक कि कई साल व्यतीत हो

जाने पर भी वे कोल्हू के बैल की तरह उसी चक्कर में घूमते रहते हैं, रत्ती भर भी आगे नहीं बढ़ सकते। आध्यात्मिक मार्ग में सफलता पाने के लिए जितनी आवश्यकता साधना की है, उससे अधिक गुरु की है।

योग-अभ्यासी यदि निराश, निर्बल और उद्विग्न रहता है तो जान लेना चाहिये कि उसके ध्यान की प्रक्रिया में कहीं-न-कहीं कुछ गलती है, त्रुटि है; क्योंकि साधक में शक्ति, आनन्द, प्रसन्नता, आह्लाद और आरोग्य का आविर्भाव होता है। जब साधक स्वयं ही निराश, हताश, उद्विग्न तथा अप्रसन्न रहे तो वह किस प्रकार अपने सम्पर्क में आने वाले जिज्ञासुओं में आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता और शक्ति का सञ्चार कर सकता है? योग की प्रत्येक सीढ़ी को पार करना चाहिए। जब तक योग के प्राथमिक अभ्यास में प्रवीण न हो जाओ, तब तक ऊँचे अभ्यास हाथ में न लो। पूर्ण ध्यान और समाधि की प्राप्ति के लिये यही मार्ग है।

साधक और गुरु—दोनों को साथ-साथ पिता और पुत्र के समान प्रेम से रहना चाहिये। उनका प्रेम घनिष्ठ और पवित्र होना चाहिये। गुरु प्रेम और स्नेह के साथ साधक का परिपालन करे तथा साधक आदर, भक्ति और श्रद्धा के साथ गुरु के साथ रह कर साधना करे। साधक की प्रतिभा इतनी प्रखर और ग्राहक होनी चाहिये कि गुरु का एक बार का उपदेश उसके रोम-रोम में रम जाना चाहिये। इसके लिये, गुरु के आदेश के लिये, सदा प्रतीक्षा करनी चाहिये। गुरु के आदेशों को पाने के लिये सच्चे दिल से उत्कण्ठित रहना चाहिए। यदि ऐसा हो गया तो साधक अमित लाभ का भागी हो सकता है। अन्यथा अविरत

साधना करते रहने पर भी ढाक के तीन ही पात रहेंगे, साधक के आसुरिक भाव जैसे के तैसे ही रहेंगे, वह तिल भर भी आगे नहीं बढ़ सकेगा।

यह शोचनीय है कि भारत में वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली आध्यात्मिक शिक्षा के लिए अहितकर है। विद्यार्थियों के दिल व दिमाग भौतिकवाद से भरे रहते हैं, उनके रोम-रोम में भोग-विलासिता का विष समाया हुआ रहता है। आज के विद्यार्थियों को शिक्षक और शिष्य के सम्बन्ध का न तो जरा भी ज्ञान है और न परवाह ही। पहिले तो उनको श्रुतियों के आदेशों का ज्ञान ही नहीं है, उस पर भी गुरु का समाज में अथवा गुरुकुल में क्या स्थान है, इसका भी उन्हें पता नहीं। न तो श्रद्धा और न चरित्र।

ऐसे लोग जब निवृत्ति-मार्ग के पथिक बन कर आते हैं तो उनके संस्कार पहिले के ही समान रहते हैं। समाज का दुश्चरित्र व्यक्ति निवृत्ति-मार्ग का पथिक भी बन जाये तो क्या एक ही दिन में योगी बन जायेगा? आध्यात्मिक मार्ग में गुरु के आदेशों की इतनी आवश्यकता है और उन आदेशों की शक्ति इतनी प्रभावशालिनी है कि विना उन आदेशों का पालन किए साधक या शिष्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता।

ऐसे ही साधक आजकल पाए जाते हैं। उनकी श्रद्धा चञ्चल और भक्ति कुण्ठित रहती है। इसीलिए शतप्रतिशत साधक इस पथ पर आ कर अविरत साधना करने पर भी योग-सिद्धि नहीं पा सके हैं। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पवित्र और आध्यात्मिक रहता है। शिक्षक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध

से इसका दर्जा बहुत ऊँचा और परिष्कृत है। इस सम्बन्ध का आबद्धीकरण सर्वप्रथम आत्म-समर्पण से होता है। यह सम्बन्ध परम पवित्र और मङ्गलकारक होता है, जिसमें स्वार्थ और नीचता का लेशमात्र भी नहीं। उपनिषदों के पन्नों को उलट कर देखिए तो यही पता चलेगा कि प्राचीन काल में शिष्य गुरु के पास श्रद्धा, विनम्रता, सत्यता और भावपूर्वक समिधा ले कर ही जाते थे। कितना आदर्श और उज्ज्वल था उनके जीवन का आचार !

क्या अब भी तुमने अपने निश्चय को परिष्कृत कर लिया है कि निवृत्ति-मार्ग पर जा कर तुम अपने जीवन को अपने स्वतन्त्र विचारों के प्रवाह में नहीं बहने दोगे, बल्कि उसके लिए एक स्थिर आधार अपनाओगे ? आध्यात्मिक मार्ग में आ जाने पर चाहे संसार डूब ही क्यों न जाय, निर्द्वन्द्व ही रहना होगा। भले ही तुम्हारी माता आ कर रोवे, भले ही स्त्री और अन्य सम्बन्धी आ कर तुम्हारे चरणों के पास हाय-तोबा मचाने लगें, किन्तु तुम्हें अपने निश्चय से नहीं डिगना होगा, तिल भर भी नहीं, सुई की नोंक के बराबर भी नहीं। यदि तुम अपने सम्बन्धियों से नाता तोड़ने की क्षमता रखते हो, यदि तुम उनके सम्पर्क से दूर रह सकते हो, यदि तुममें सच्चा और तीव्र वैराग्य है, साधना की सच्ची लगन है, परमात्मा और गुरु में पूर्ण भक्ति और श्रद्धा है; तो तुम संन्यास ले सकते हो। सोच लो; यदि इन सभी का अभाव है तो बेकार यहाँ आ कर क्यों अपने को दुःखित करते हो ?

वसिष्ठ जी ने राम से कहा था—पदार्थ-सम्पर्क और लोक-सम्बन्ध से जो मोह और सन्ताप होता है, उसके निवारण के

लिये गुरु-शरण का जितना महत्व है, उतना महत्व साधना—सच्ची साधना का भी है। इसका अर्थ हुआ कि गुरु-भक्ति और साधना दोनों साथ-साथ चलनी चाहिये।

कुछ लोग संन्यासी को जादूगर समझते हैं और उसके कमण्डलु या पोटली को भानुमती का चमत्कारपूर्ण पिटारा। उनका विचार है कि संन्यासी महाराज विभूति या जल दे कर जीवन्मुक्त बना देंगे, अथवा उनकी कुण्डलिनी शक्ति को सहस्रार तक जगा देंगे, अष्ट-सिद्धि तथा नव-निधि दिला देंगे। इसका मतलब यह हुआ कि वे लोग अपने आप तो साधना नहीं करना चाहते, किन्तु सोचते हैं कि गुरु किसी-न-किसी तरह जादू की तरह उनके लिए योग-सिद्धि ला कर दे दे।

इस विचार (धोखे) में न रहो। यदि अभी तक ऐसा होता सुना भी है तो अपनी साधना न छोड़ो। साधु या संन्यासी (गुरु) जादूगर नहीं, यथार्थवादी है। वह पूर्ण प्रक्रिया-सहित ही तुमको योग के अभ्यास बतलाएगा। साधना तुम्हारे मत्थे है। यदि साधना करोगे तो सफल बनोगे और यदि गुरु के भरोसे बैठे रहोगे तो बस हरि ॐ तत्सत्।

मन को पवित्र बना लो। गुरु की सेवा करो, उनके आदेशों को सुनो तथा तदनुसार व्यवहार भी करो, साथ-साथ साधना भी करते जाओ। जब मन एकाग्र हो जायगा, इन्द्रियों की उछल-कूद बन्द हो जायगी, भोग-लालसा मर जायगी, तब मन में एक ज्योति जलने लग जायगी। गुरु उस बत्ती को और उज्ज्वल बनायेगा। उसी उज्ज्वलता के आलोक में तुमको आगे का मार्ग स्पष्ट दिखलाई देने लग जायगा। यदि तुम गुरु के

आदेशानुसार साधना करते रहे तो अनन्त शान्ति तथा अमित ज्ञान के आगार को पा सकोगे।

* * * *

अपने परिवार के लिये तुम कितना श्रम करते हो? यह सोच कर, उसी लगन से गुरु की सेवा करो। निश्चयतः कुछ ही काल में परमात्मा का साक्षात्कार कर सकोगे। और कुछ नहीं चाहिए, केवल परमात्मा के लिए अखण्ड प्रेम हो, ज्वलन्त वैराग्य-भाव हो, परमात्मा के प्रेम से मदमाता हृदय हो, अभिलाषा हो—परमात्मा का साक्षात्कार नहीं तो और क्या होगा?

प्रत्येक कार्य निरासक्ति की भावना के साथ किया जाना चाहिए, कर्तृत्व की भावना का लेश भी नहीं होना चाहिये, केवल एक उद्देश्य चित्त-शुद्धि ही होना चाहिये। जो कुछ काम करते हो, परमात्मा के लिए ही करो, जिसमें ममता और अहंभावना का लेश भी न हो। जैसी इच्छा भगवान् की : इस सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक कार्य किया जाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि उस काम के त्याग के लिए तुमको किसी क्षण तैयार रहना चाहिये, चाहे कितना ही महत्वपूर्ण, उपयोगी कार्य क्यों न हो। जब आत्मा के अन्दर से त्याग देने का आदेश आता है, उसी समय उसका पालन किया जाना चाहिए। आसक्ति और ममता हो जाने से व्यक्ति उस कार्य को नहीं त्याग सकता। यही बन्धन का मूल कारण है। कर्मयोग का यह रहस्य है, इसको अच्छी तरह समझ लो और मार्ग में वीरता और धीरता के साथ चलते जाओ।

माया मन की सहायता ले कर अपनी चाल चलती है। मन कल्पना का सहारा लेता है। सौन्दर्य वस्तु में नहीं, आनन्द

पदार्थ में नहीं, मन की कल्पना में ही है। मिठास चीनी में नहीं, कल्पना में मिठास है। भोजन में रुचि नहीं, रुचि तो अपने मन में ही है, कल्पना जिसे प्रकट करती है। इसी प्रकार मनुष्य शक्तिहीन नहीं, किन्तु भावना ही उसे शक्तिहीन बना देती है। माया के इस स्वभाव को पहिचान कर बुद्धिमान् बन जाओ। विचार (सद्विचार) द्वारा इस मानसिक कल्पना का उन्मूलन कर दो, तभी तुम सत्यसङ्कल्प आत्मा में विश्राम कर सकोगे।

सोचो कि तुम क्यों नौकर-चाकर, निर्बल व्यक्ति, असहाय तथा अपने से छोटे लोगों पर अपना क्रोध प्रकट करते हो? अपने आफिसरों, मालिकों या बड़ों पर क्यों नहीं प्रकट करते अथवा कर पाते हो? केवलमात्र इसलिए कि उन बड़ लोगों के प्रति या तो तुम्हारा आदर-भाव है, या तुम उनसे भय खाते हो। क्या यही आदर-भाव नौकरों के प्रति नहीं बरता जा सकता? यदि तुम नौकरों, निर्बल व्यक्तियों तथा असहायों में भी भगवान् को व्यापक देखने की चेष्टा करो तो तुम उन पर क्रोध नहीं करोगे। क्रोध तो अपने ही नाश का कारण बनता है, तब फिर यह जान कर भी क्यों क्रोध किया जाय?

प्रत्येक व्यक्ति को धैर्य, सहनशीलता तथा दया का व्यवहार करना चाहिए। विचार करते रहना चाहिए। चिन्तन करो कि तुम कौन हो और क्या लक्ष्य है तुम्हारा? अरे भाई, क्रोधित हो कर तुमको मिलेगा क्या? आत्मा सब में एक ही है। क्या कुत्ता, क्या हाथी, क्या शूद्र और क्या राजा—सब में एक ही आत्मा विराजमान् है। वह आत्मा तुममें भी है। दूसरों के प्रति क्रोधित होना, दूसरों का अपमान करना अपना

ही अपमान करना है। दूसरों की हानि अपनी ही हानि तो है। क्या इसका विचार किया?

कुछ लोग इस मार्ग के प्रति बड़े उत्कण्ठित रहते हैं। पर उनमें मुमुक्षु-गुण का सर्वथा अभाव रहता है। वे सोचते हैं कि कुछ योगाभ्यास कर लेने पर सिद्धि प्राप्त हो जायगी। किन्तु जब ऐसा नहीं होता, उनको सिद्धि नहीं प्राप्त होती तो वे धैर्य खो देते हैं, अभ्यास छोड़ देते हैं, आध्यात्मिक पथ का त्याग कर देते हैं, यहाँ तक कि योग और योगी दोनों को कोसने लगते हैं। याद रखो कि साधारण उत्कण्ठा आध्यात्मिक मार्ग में सहायक नहीं हो सकेगी। आध्यात्मिक मार्ग में सफलता पाने के लिए मुमुक्षुत्व होना चाहिए, सत्सङ्ग का अभ्यास करना चाहिए, स्वाध्याय-निरत रहना चाहिए तथा जप और ध्यान में दत्त-चित्त हो जाना चाहिए।

कभी-कभी मन में बुरे विचार उभर आते हैं तो मन तिलमिला उठता है। यह लक्षण आध्यात्मिक उन्नति का है। बुरे विचारों के जागने पर मन का तिलमिला जाना यह सिद्ध करता है कि तुम आध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ते जा रहे हो। इस समय तुम पुराने कर्मों का विश्लेषण करो तो तुमको सन्ताप और पश्चात्ताप होने लगेगा। यह दूसरा लक्षण है। जब-जब पुराने कर्मों की याद आवे और जब-जब मन पछताने लगे, तब-तब समझना चाहिए कि मन आध्यात्मिक रङ्ग में रँगता जा रहा है। किसी भी बुरे काम को करते समय, यदि मन गवाही न दे तो समझना चाहिए कि यह मन-शुद्धि का तीसरा लक्षण है। इसके बाद यदि मन को बुरे विचार सन्तप्त भी करें तो वह उनका साथ नहीं देगा। इसलिए सदा ध्यान और विचार का अभ्यास

करते रहना चाहिए। तभी बुरे कर्मों की याद, बुरे विचारों का सम्पुट, बुरे सुझावों का उद्योग तथा शैतान का उत्पात बन्द हो सकेगा। यह हो गया तो फिर बात ही क्या है, तुम शान्ति और पवित्रता में दीक्षित हो गए हो।

काम-वासना तुममें छिपी पड़ी है। तुम सम्भवतः विश्वास नहीं करोगे। अच्छा, तो मुझे यह बतलाओ कि व्यक्ति को क्रोध क्यों आया करता है? क्रोध की वृत्ति काम-वासना का ही रूपान्तर है। जब काम-वासना की तृप्ति नहीं हो पाती, तब वह क्रोध का रूप धारण कर लेती है; अर्थात् काम-वासना की पूर्ति के अभाव में क्रोध प्रकट होता है। काम-वासना को प्रकट करने का दूसरा मार्ग क्रोध है। जब तुम अपने नौकर पर क्रोध करते हो तो समझ लो कि यह काम-वासना का ही प्रत्यक्षीकरण हो रहा है।

काम-वासना के प्राबल्य से यह भी सिद्ध होता है कि साधक ने राग-द्वेष के वेग का निराकरण नहीं कर पाया है। कामी व्यक्ति की इन्द्रियाँ उत्पात मचाती रहती हैं। वासना और तृष्णा में ही वे रमते रहना चाहती हैं। वहिर्मुख-वृत्ति होने के कारण इन्द्रियों का सन्ताप साधक के मन पर प्रतिलक्षित होता है। जब तक साधक प्रत्याहार में स्थित नहीं हो जाता और जब तक वृत्तियों का निराकरण नहीं कर दिया जाता, तब तक विवेक, वैराग्य, सङ्कल्प-शक्ति और सच्ची लगन का अवतरण भी नहीं होता; तब तक रजस् और तमोगुण अपना उत्पात मचाते रहते हैं। इस अवस्था में सत्त्वगुण रहे भी तो गौण हो जाता है, उसका महत्व नहीं होता। जब तक सद्-वृत्तियों का उपार्जन नहीं कर लिया जाता और जब तक वृत्तियों को क्षीणाङ्गी

नहीं बना दिया जाता, तब तक साधक योगसिद्ध नहीं बन सकता। पहिले चित्त को शुद्ध कर लो। एकाग्रता और ध्यान का आविर्भाव अपने आप हो जायगा।

सगुण उपासकों को सब से पहिले त्राटक का अभ्यास करना चाहिए, जब तक वे अपने आराध्य का पूरा चित्र अपने सामने आसानी से उतारने में समर्थ न हों। बाद में अभ्यास हो जाने के बाद वे आँखों को बन्द कर आराध्य का पूरा स्वरूप मन के आगे उतार सकते हैं। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि जिस चित्र पर त्राटक का अभ्यास किया जा रहा है, वह अतितर सुन्दर और आकर्षक हो, जिसमें मन आनन्दपूर्वक रम सके। त्राटक का आधार चित्ताकर्षक होना जरूरी है। जब एक बार एक स्वरूप को अपने मन में सतत ध्यान से स्थापित कर लिया गया है तो उसे बार-बार नहीं बदलना चाहिए। उसी स्वरूप पर बारम्बार त्राटक का अभ्यास करो, तभी वह स्वरूप ध्यान में तुम्हारे सामने उतर सकेगा। अभ्यास सत्कार-सेवित हो जाने पर तुम अपने आराध्य की मूर्ति को कभी अपने सामने स्थित करने में समर्थ हो सकोगे। कभी-कभी मन थक जाता है और साधक अपने मन्त्र तक को बदल दिया करता है। किन्तु यह सब ठीक नहीं है। न तो मन्त्र बदला जाना चाहिए और न आराध्य देवता का स्वरूप ही।

ध्यान की अवस्था में कभी-कभी ज्योति-दर्शन हुआ करता है। इसके धोखे में पड़ कर कहीं यह न समझना कि योगसिद्धि मिल चुकी है अथवा समाधि-लाभ हो चुका है। यह कोई बड़ी सफलता का लक्षण नहीं है। यदि यह ज्योतियाँ बारम्बार भी

तुम्हारे ध्यान में प्रकट होने लगें तो भी उन पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए।

लोग वातावरण और स्थान विशेष पर दोष मढ़ देते हैं। यह वातावरण का दोष नहीं, सारा दोष अपने मन का ही है। जब तक मन को अनुशासित नहीं कर लिया जाता, तब तक वह वातावरण के अनुकूल होने पर भी साधना नहीं करने देता। इस मन को अपने वश में करो, यदि विद्रोह करे तो इसका दमन करो। किसी भी स्थान अथवा वातावरण को दोष न दो। पहिले अपने मन को शिक्षित करो। अनुकूल स्थानों में एकाग्रता भी प्राप्ति कर ली तो क्या हुआ ? हम तो तब कहें जब तुम किसी असुविधापूर्ण स्थान में भी एकाग्रचित्तता को प्राप्त कर सको। विरोधी वातावरण में साधना करने पर सङ्कल्प-शक्ति तीव्र तो होती ही है, साथ-साथ उसकी शक्ति अनहत हो जाती है। साधारण स्थान में साधना करने से कहीं अधिक शक्ति प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक पदार्थ में राम को रमा हुआ देखो और बुरे को भी सुन्दर रूप में बदल दो। यही असली योग है। जो इसका व्यवहार करता है, वही असली योगी है।

* * * *

मैथुन करने से स्नायविक प्रणाली पर चोट पहुँचती है। शक्ति का महान् पतन होता है। निर्दोष स्वप्न-दोष अथवा सदोष-स्वप्न-दोष से उतनी क्षीणता की सम्भावना नहीं रहती। जो कुछ क्षीणता होती है, वह नगण्य ही है। पर सहवास-जन्य मैथुन से शारीरिक और मानसिक शक्ति का अकथनीय ह्रास और पतन होता है। उसके संस्कारों का जन्म भयानक है।

सहवास-जन्य मैथुन से मन में एक संस्कार का बीज पड़ जाता है, जो पुराने संस्कारों की सहायता से अन्दर ही अन्दर पनपता है और कुछ ही दिनों में पुनः सहवास के लिए लालसा को जागृत करता है। एक बार सहवास करने के बाद उसे दुहराना मानो बुझती आग में घी डाल देना है। और जब मन में एक संस्कार पर दूसरा संस्कार आ बैठता है तो उनकी शक्ति सामूहिक हो जाती है। इसलिये मैथुन मन पर अपना अमिट प्रभाव डाल देता है। मैथुन न करने से स्नायुमण्डल और स्नायविक शक्ति ओजपूर्ण रहती है। मन तो तुमको यह सुझाव देगा कि इस जीवन में नहीं तो फिर कब मैथुन किया जायगा ? इस चालाकी से सदा बच कर रहना चाहिए। सदा सावधान रहो, न जाने मन कब तुम्हें पाप की ओर खींच ले जावेगा। आरम्भ में ही क्यों, मनोनाश होने तक, मन के प्रत्येक सुझाव को ठुकराते रहो।

कठिनाइयों, विपदाओं, रोग और शोक के आ जाने पर भी उनसे दुःखित और प्रभावित न हो जाना चाहिये; क्योंकि यह सब चित्र में चलते हुए और बदलते हुए दृश्य हैं। साहसी तो बनना ही चाहिए, साथ-साथ आशावादी भी जरूर ही। एक-एक विपत्ति का सामना डट कर करना चाहिये। एक-एक चोट को हँस-हँस कर सहन करना चाहिए। एक-एक वार को सावधानी से विफल करते रहना चाहिए। प्रकृति चाहती है कि तुम्हारा दृढ़ निर्माण हो, तुममें शक्ति का सञ्चार होवे और तुम उसकी लीला के उपकरण बन सको। तुम्हारा शरीर, तुम्हारे हाथ, मन और पाँव तथा सभी अवयव उसकी लीला के उपकरण हैं। तुममें सद्गुणों को भरने के लिए साहस, वज्र-सङ्कल्प, धैर्य, सहन-शक्ति, दया प्रेम, करुणा, सद्भावना, विशाल-चेतना, स्थिरता आदि के विकास के लिए ही विपत्तियाँ और

रोग-शोकादि की कसौटी पर तुम्हें परख रही है, लोहे को सान पर चढ़ा रही है, सोने को आग पर तपा रही है। इसलिये दुःख से दुःखित, व्याधियों से उदास तथा विपत्तियों से पराजित नहीं होना चाहिए, उल्टे इन सब की अवहेलना कर दिव्य जीवन व्यतीत करना चाहिए। अपने दृष्टिकोण में परिवर्त्तन कर, जीवन के लक्ष्य को विशाल कर अनन्त की खोज करने चलो। बढ़ो और बढ़ते रहो। यदि जीवन को कुछ बनाना है तो आध्यात्मिक बनाओ।

दुःखों को सुख का आदि कारण कहा गया है। कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा का आशीर्वाद दुःख का छद्मवेष धारण कर आता है। वास्तव में दुःखों के आने से मनुष्य की आँखें खुलती हैं। दुःखों से मनुष्य अनुभव प्राप्त करता तथा शिक्षित बनता है। मन ईश्वर की ओर उन्मुख होता है। दुःखों और कठिनाइयों को एक-एक कर जीतना चाहिये; उनकी एक-एक चोट को रोकना चाहिए। कभी भी विचलित नहीं होना चाहिए। हँसते-हंसते चिन्ता और उद्विग्नता को दूर भगा देना चाहिए। अपने को आत्मा में संस्थित कर दो। मन को सन्तुलित करो। सदा खुशदिल रहो। अपने व्यक्तित्व को आध्यात्मिक, दिव्य और सुप्रभावशाली बनाओ। मुस्कराते रहो, हँसते रहो। आत्मा के आनन्द में ही आनन्द मानो।

दौड़ती हुई भावुकता तथा उद्रेकों को रोको। शरीर और मन की तमाम शक्तियों को सङ्गठित कर, उन्हें अपने लक्ष्य की खोज में लगा दो। आत्म-संयम का विकास करो। चित्त में जितने और जैसे संस्कार हैं, उन्हें अपने वशीभूत करो। विचारों पर स्वामित्व ग्रहण करो। मानसिक शान्ति कभी न खोनी

चाहिए। शक्तियों का उपार्जन और सञ्चय करते रहो। अपनी सङ्कल्प-शक्ति को उचित शिक्षा दो। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को पवित्र और मङ्गलमयी बनाये बिना स्वतन्त्र न छोड़ो। यदि यह सब कर लो तो मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकोगे तथा अजस्र गति से आध्यात्मिक शक्ति तुम्हारे अन्दर भरती जायगी। फलतः तुम आध्यात्मिक मार्ग में जल्दी-जल्दी अग्रसर होते जाओगे।

केवल मात्र प्रतिभा या किताबी ज्ञान पर्याप्त नहीं होगा। जो व्यक्ति मधुर वाणी बोलता है, दयावान् है, क्रोध को जीत चुका है, हर अवस्था में अपने को सँभाल लेता है, विनम्रता से व्यवहार करता है, दूसरे के हृदय में प्रवेश करने की कला जानता है, बस वही अपने प्रत्येक प्रयत्न को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है। वही प्रसन्न और शान्तिमय रहेगा।

जब हृदय में प्रेम की लहरें जागने लगें, उन्हें स्वतन्त्रता दे दो। सदा अनुभव करो कि कोई दिव्य शक्ति अथवा प्रेरणा तुमको अङ्क में लगा रही है। दिव्य प्रेम की धूप में अपने रोग-मय शरीर को ज्योति-स्नान कराओ। शाश्वत जीवन के आनन्द का पान करो। दिव्य प्रेम का अमृत पियो।

हृदय तो ऐसा होना चाहिए, जो परमात्मा का नाम सुनते ही आनन्दाश्रुप्लावित हो जाय।

कहा है कि प्रेम की गली अति सँकरी है, जिसमें दो व्यक्ति साथ-साथ नहीं जा सकते हैं। जब 'मैं' का अस्तित्व है तो परमात्मा नहीं और जब परमात्मा है तो 'मैं' का अस्तित्व मिट जाता है।

भोग-विलास में आसक्त रहने की अपेक्षा कर्मेन्द्रियों को अपने वश में ही करना उचित है। धीरे-धीरे विचार पवित्र होते जाएंगे, यदि तुम जप और ध्यान में नियमित रहे तो अभ्यास करते-करते अन्त में मन अपने वश में किया जा सकेगा।

गृहस्थी का पालन करते हुए जो लोग सत्य के मार्ग पर चलना चाहते हैं, उनको पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए; क्योंकि एक बार का सहवास अनेकों पुराने विचारों के सम्बन्ध को नया और दृढ़ कर देता है। सहवास करने से पुराना बन्धन, जो टूट गया था, जुड़ जाता है।

पेड़ पर पका हुआ फल मीठा होता है; पर पकने में समय भी तो लगता है। जो पेड़ कई सालों में पनपता और विकास को प्राप्त होता है, वह शक्ति-सम्पन्न और उपयोगी होगा। इसी प्रकार जो साधक दीर्घ काल तक नियमित और उचित साधना करते हैं, वे दीर्घ काल के उपरान्त पूर्ण योगी बन सकेंगे। आजकल तो साधक लोग अधैर्य से काम लेते हैं। दो-तीन साल तक थोड़ा प्राणायाम, थोड़ा आसन, जप तथा ध्यान से वे पूर्ण योगी बन जाना चाहते हैं।

भोजन के बारे में जान लेना चाहिये कि भोजन एकदम कम न हो। भोजन के परिमाण में कमी हो जाने से निर्बलता का आविर्भाव होता है और ध्यान में बाधा पहुँचती है। साथ-साथ अधिक भोजन भी नहीं करना चाहिए। इससे भी निद्रा आती है, साधना में विघ्न होता है। भोजन सात्त्विक, हल्का, पूरा और ताजा होना चाहिए। तेलदार, चरपरे, मीठे, मिर्चदार, कठोर भोज्य पदार्थ नहीं खाने चाहिए। तभी ध्यान और जप में मन लगेगा, एकाग्रता की सिद्धि होगी।

आत्म-भावपूर्वक मानवता की अथक सेवा, विशाल-चेतना, अति नम्रता, विश्व-प्रेम, अहिंसा, सत्यपरता, निरन्तर और पूर्ण उदारता, पूर्ण ब्रह्मचर्य, अव्यभिचारिणी श्रद्धा, परमा भक्ति, गुरु पर श्रद्धा, सत् और असत् में विवेक, पूर्ण वैराग्य, मुमुक्षुत्व तथा निरन्तर और शुद्ध ध्यान—इन अभ्यासों के द्वारा ज्ञान के सुन्दर और आलोकित मन्दिर की ओर जाया जाता है।

गायत्री जप अथवा प्रणव जप करते समय कृष्ण का चित्र सामने रखने से कोई हानि नहीं। गायत्री, श्रीकृष्ण और ॐ तीनों एक ही हैं। सत्य एक है, विप्रगण उसे अनेकों नामों से सम्बोधित करते हैं।

जिस प्रकार कमल का फूल तालाब में रह कर भी पानी से जरा सा भी प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी संसार में रह कर जरा भी प्रभावित नहीं होते। कमल के चारों ओर जैसे शैवाल फैले रहते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक सङ्गठन जीवन्मुक्त पुरुषों के आस-पास सदा रहता है। मधु-मक्खियाँ जिस प्रकार कमल के फूल से शहद ले जाती हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु साधक भी जीवन्मुक्त से उपदेश और आशीर्वाद ले जाते हैं।

कमल के सौरभ के समान ही ज्ञानी के दिव्य ज्ञान का सौरभ चारों ओर फैलता है। तालाब में रहने वाले मेढक उस सुगन्धि को नहीं पहिचान पाते, इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष भी ज्ञानी के ज्ञान की सुगन्धि का आनन्द नहीं ले पाते। मेढक के समान टर्र-टर्र मचाते रहते हैं। किन्तु कमल की सुगन्धि से आकर्षित हो कर मधुमक्खियों का दल जिस प्रकार उनके समीप

आता है, उसी प्रकार जिज्ञासु भी ज्ञानी के सन्निधान में आ कर शिक्षा ग्रहण करते हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष सच्चा वीर होता है। जीवन्मुक्त पुरुष वही है, जिसे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी हो और आत्म-ज्ञान की अग्नि से जिसके संस्कार भस्मसात् हो चुके हों। जिसने अपने मन को वश में कर लिया, इन्द्रियों का उत्पात बन्द कर दिया, तृष्णा, भय, भ्रम, अहङ्कार, गर्व आदि कुवृत्तियों का दमन कर लिया, वही जीवन्मुक्त है।

प्रत्येक व्यक्ति में जीवन्मुक्त बनने की योग्यता है, कला है। जीवन्मुक्त बनने के लिए जो कुछ साधन चाहिए, वह प्रत्येक व्यक्ति में वर्त्तमान है। केवलमात्र उन कला, योग्यताओं और साधनों का उपयोग करना होगा। जिस प्रकार डायनमो को परिचालित किया जाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा आत्म-शक्ति को परिचालित करना होगा। सङ्घर्ष से सफलता मिलती है। प्रयत्न करने से काम पूरा होता है। सतत लगन से कार्य की पूर्ति होती है। आत्मा के साक्षात्कार के लिए सतत चेष्टा, निरन्तर प्रयत्न तथा अविरत सङ्घर्ष की अपेक्षा है।

सदा सच बोलो। प्रत्येक स्त्री में राधा माता के और प्रत्येक पुरुष में श्रीकृष्ण के दर्शन करो। घास की पत्ती के एक तृण के समान विनम्र बनो। दयावान् बनो। अच्छे बनो, अच्छे काम करो। सदा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र का जप करो। भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करेंगे।

जीव और ब्रह्म एक है। सागर और जलकण एक ही हैं। केवलमात्र अज्ञान से दोनों अलग-अलग दिखलाई देते हैं। जिस

प्रकार जलकण समुद्र में मिल कर एक हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ब्रह्म के साथ एक हो जाता है।

स्वार्थपरता कुवृत्ति है, निःस्वार्थ को महिमावान् बनाने के लिए इसका अस्तित्व है। घृणा कुवृत्ति है, प्रेम को महिमावान् बनाने के लिए ही इसका अस्तित्व है। अहङ्कार भी कुवृत्ति है, नम्रता को महिमावान् बनाने के लिए इसका अस्तित्व है। कृपणता से उदारता की महिमा प्रदर्शित होती है। ईर्ष्या से उदार-चेतना की महिमा का प्रदर्शन होता है। असत्य का अस्तित्व सत्य की सिद्धि के लिए है।

यह द्वन्द्वात्मक संसार है। हर प्रकार की भावनाएं यहाँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति की राय अलग-अलग होती है, सुझाव अलग-अलग होते हैं। पर यह सब होते हुए भी हृदय में एकता अवश्य होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के विचार अलग-अलग होते हैं। वह भिन्न-भिन्न बातें सोचता है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि वह दूसरे के सुझावों से सहमत न हो; पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह दूसरों से लड़ता रहे। अनेकता और विविधता में भी एकता के और केवल एकता के ही दर्शन करो।

यह संसार अजीब है। यहाँ सबको जीवन-पर्यन्त रहना होगा। एक दूसरे के साथ निर्वाह करना होगा। हरएक की अलग-अलग बातें भी सुननी होंगी। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को सन्तुष्ट भी नहीं किया जा सकता। इसलिए आवश्यकता है कि अपने मन को इस प्रकार शिक्षित कर लिया जाय कि वह हर अवस्था में सन्तुलित रहे, न तो अनेकता से असन्तुष्ट हो और न एकता का ही स्वाङ्ग भरे। संसार में रहना तो सभी को है,

परन्तु रहने की कला से जो परिचित है तथा रहने की कला के अनुसार जीवन बिताता है, उसी का जीवन सच्चा जीवन माना जा सकता है।

कष्टों में एक विशेषता है। कष्टों से मन परमात्मा की ओर फिरता है, दिल में दया और सद्भावना का आलोक प्रकट होता है। कष्टों से हृदय पराये दुःखों को देख कर द्रवित हो उठता है। कष्टों से आत्म-शक्ति के द्वार खुलते हैं और वैराग्य का समुदय होता है। 'छद्मवेष में कष्ट ईश्वर की कृपा ही है'—यह लोकोक्ति एकदम सत्य है।

संसार अच्छे और बुरे का पूर्ण योग है। यहाँ सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—तीनों गुणों का सम्मिश्रण है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को खुश रखना सम्भव नहीं। दुनियाँ जो कुछ कहे कहने दो। दुनियाँ की कटु उक्तियों से दुःखाक्रान्त और प्रशंसा से फूलना नहीं चाहिए। इतना तो जरूर है कि हमें सच्चे और पवित्र बनना होगा। हमारी क्या पूछो, भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् राम तक को बुरा-भला कहा जाता है।

पहिले मन में चिड़चिड़ापन, बाद में वही क्रोध के रूप में प्रकट हो जाता है। कुछ ही देर में आवेशपूर्वक मन के अन्दर से बाहर की ओर स्खलित हो जाता है। अतः मन में चिड़चिड़ा-पन प्रकट होने ही न पावे, यह सदा ध्यान में रखना चाहिए। यदि इसका ध्यान नहीं रखा गया तो कालान्तर में इसका स्वरूप भयावह और स्वभाव क्रान्तिमय हो जायगा। मानसिक जप, प्रार्थना और 'ॐ शान्ति' को मन ही मन दुहराने से मन के क्रोध का दमन किया जा सकता है।

दूध को आग पर गरम करने से पहिले भाप उठने लगती है। कुछ बुलबुले जागने लगते हैं। कुछ ही देर में उबलना आरम्भ हो जाता है। नीचे का दूध ऊपर और ऊपर का दूध नीचे— इस प्रकार दूध खौलने लगता है। यदि दूध को आग पर ही रहने दिया जाय तो वह उबल कर बर्त्तन से बाहर गिर जाता है। यह उदाहरण दर्शाता है कि इसी प्रकार ईर्ष्या, घृणा और काम-वासना भी पहिले मन के अन्दर शान्त बन कर रहती है। उसका स्वरूप तब अति-क्षुद्र होता है। यहाँ तक कि ध्यानपूर्वक विचार करने पर भी वह स्वरूप इन्द्रिय-गोचर नहीं होता। धीरे-धीरे सजातीय दुर्विचार एक दूसरे के साथ संयुक्त हो जाते हैं, अन्य दुर्विचार और कुसंस्कार भी सदल-बल आ कर एक समूह का सङ्गठन करते हैं। अब घृणा और काम-वासना उबलने लगती है। दिमाग में उष्णता परिव्याप्त हो जाती है। सारी प्रणाली उस गर्मी से प्रभावित हो उठती है। विचार उबलने लगते हैं, उनमें से भाँति-भाँति के बुलबुले उठने लगते हैं। मनुष्य इन दुर्विचारों के उत्पात में आकुल हो उठता है। उबलती हुई दुर्वासना हो तो फिर नियन्त्रण की सम्भावना ही कैसे? यदि युक्तिपूर्वक कामाग्नि को नहीं बुझाया गया तो दुर्विचार उबल-उबल कर दुर्गन्ध फलाते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति पाशविक कर्मरत हो जाता है, नृशंस व्यवहारनिष्ठ हो जाता है, न करने योग्य कर बैठता है।

विचारशील व्यक्ति अपने प्रत्येक विचार का सावधानी से निरीक्षण करते रहें और यदि कहीं उनमें अनौचित्य की झलक पावें तो जानकार और कुशल माली के समान ही उनकी शाखाओं को छाँट कर सुन्दर बना देवें। विष के फूल को खिलने नहीं देना चाहिए, कली के निकलते ही उसे चुन लेना चाहिए।

यदि तुम भी अपने दुर्विचारों को हटाना चाहो तो आत्म-चिन्तन और विचार का सहारा लो, अथवा जप और कीर्त्तन करो।

विद्यार्थियों को शिक्षाएं

विद्यार्थी ब्रह्मचारी का ही आधुनिक रूप है। विद्यार्थी ही ब्रह्मचारी हुआ करता है। विद्यार्थी को दिन में तीन बार सन्ध्या-वन्दन अवश्य करना चाहिए—प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल। समय की सन्धि को सन्ध्याकाल कहा जाता है। सन्धिकाल में शक्ति का स्वरूप विशिष्ट और प्रभावशाली रहता है, अतः इस समय पर सन्ध्या-वन्दन करने से अनेकों लाभों की प्राप्ति की जा सकती है। सूर्योदय होते ही गायत्री मन्त्र द्वारा सूर्य को अर्घ्य देना चाहिए, इसी प्रकार दोपहर और सूर्यास्त के समय भी। सन्ध्यावन्दन और अर्घ्यदान से शारीरिक शक्ति, मानसिक ओज तथा बौद्धिक प्रतिभा की प्राप्ति होती है। विद्यार्थियों की बुद्धि, जो भौतिकवाद के विषाक्त तत्त्वों से भरी पूरी है, सन्ध्यावन्दन से दिन में तीन बार शुद्ध की जानी चाहिए। सन्ध्या का महत्व जितना धार्मिक है, उतना ही बल्कि उससे अधिक यौगिक है। इससे न केवल परमात्मा का आशीर्वाद मिलता है, बल्कि सदाचार राशि का समुदय भी होता है।

हमारे कालेज के विद्यार्थियों में खोखले अनुकरण का भूत प्रवेश कर गया है। वे पश्चिमी सभ्यता का वानरीकरण कर रहे हैं। धूम्रपान करना, पैन्ट, हैट, बूट, नेकटाई और कालर पहिनना, इत्र सेवन करना, जुल्फें बनाना—इसी प्रकार के अनेकों खोखले व्यवहारों में पश्चिम को भी मात करने लग गए

हैं। पर उन्हीं पाश्चात्यों के विशिष्ट गुणों का अनुकरण करने की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया है। आत्म-बलिदान, देशसेवा, सेवा-भावना, समय की पाबन्दी, सहनशीलता, बुद्धिमत्ता इत्यादि जितने श्लाघ्य गुण पश्चिम के लोगों में हैं, उतने हममें (हमारे विद्यार्थियों में) नहीं और न हम इन श्लाघनीय गुणों को उनसे सीखना ही चाहते हैं। कुछ धनी परिवार के नवयुवकों की अवस्था अत्यन्त शोचनीय और निराशाजनक है। वे सिनेमा के प्रतिमासिक (सीज़नल) स्थाई टिकट खरीद कर महीने में तीसों दिन चलचित्रों में जा कर अपना समय तो बरबाद करते ही हैं, साथ-साथ स्वास्थ्य और चरित्र की भी बलि दे देते हैं। इसी प्रकार ताशबाजी, व्यभिचार, अयौन सम्पर्क आदि अनेकों दोषों (पापों) से उनका जीवन घिरा हुआ रहता है। उनसे धर्म और दर्शन शास्त्र की बातें कीजिए तो वे छींक देंगे, उनको मानसिक अजीर्ण हो जायगा। यही क्यों, उनको धार्मिक प्रवृत्ति वाले विद्यार्थियों से नफरत हो जाती है। फैशन और स्टाइल उनके जीवन के आराध्य देवता बन चुके हैं और साधारण वस्त्र पहिनने वाले सहपाठियों को वे सदा गज भर दूर रखना चाहते हैं। कहाँ रहा सदाचार और कहाँ रही सादगी! वे नित्यप्रति फैशन के जादू का प्रभाव अपने सहपाठियों पर डालते रहते हैं।

भारत जैसे उष्ण-प्रधान देश के लिए पायजामे का उपयोग निरर्थक है। पश्चिमी वेष-भूषा का अनुसरण भारतीयों को महँगा पड़ता है। किन्तु वानरीकरण के भूत से सताए गए भारतीय ऋण ले कर भी भूत देवता की पूजा करते रहते हैं। फल यह होता है कि धन और जरूरतें आपस में मेल नहीं खातीं। कस कर कालर पहिनने से स्वास्थ्य को चोट पहुँचती

है, दिमाग को जाने वाला रक्तप्रवाह अवरुद्ध हो जाता है—सिरदर्द की नौबत आ जाती है।

सिर पर लम्बे बाल रखने का कुछ आशय होता है। तप्त सूर्य के देश भारत में लम्बे बालों का बड़ा ही महत्व है। वे सूर्य की गरम लपटों से सिर और दिमाग की रक्षा करते है। किन्तु कालेज के लड़कों को यह बात समझाई किस प्रकार जाय? वे तो कुसंस्कारों के फौलादी पर्दे के अन्दर बन्द जो हो चुके हैं।

मि० बिहारीलाल एम०एस-सी० का एक विद्यार्थी है; मजेदार ढङ्ग से अकड़ कर खड़ा है। उसके एक हाथ में सिगरेट है, दूसरा जेब में। अपने मित्र से कह रहा है—मुझे हिन्दू धर्म और दर्शन पर कतई विश्वास नहीं है। सन्ध्यावन्दन, वेदाध्ययन तथा पुराने ऋषियों की गाथायें हमारी कमजोरी को प्रकट करती हैं। भला बतलाओ सूर्य की ओर जल फेंकने तथा मन्त्र बक देने से क्या फल होता है? यह अन्ध-परम्परावाद और अन्ध-विश्वास है, मनुष्य जाति के अज्ञान का बोधक है। मेरा बाप भी ऐसा ही वज्र मूर्ख है। मैं तो फर्ग्युसन और ब्रन्टन् की सिद्धान्तवादिता का अनुयायी हूँ, क्योंकि वह बुद्धिवादी है, युक्तिसङ्गत बातें कहता है। मैं भी बुद्धिवाद का पुजारी हूँ।

देखिए, हमारा मित्र बिहारीलाल किस प्रकार अहंकार के मद में मदहोश है। युवावस्था है, लाल गाल हैं, खून में जोश है, नसें फड़क रही हैं और दिल-दिमाग में वासना का प्राबल्य है। बेचारे को दुनियाँ का अनुभव ही क्या? कच्चा रङ्गरूट जो ठहरा। क्या मालूम कि जीवन के निरन्तर और भयावह संग्राम में—और आगे उसकी स्कूली योग्यता उसका साथ

न दे सकेगी। देखते-देखते कितने एम०एस-सी० पास विद्यार्थी बेकारों की संख्या बढ़ा रहे हैं या किसी प्राइवेट् फर्म में क्लर्क हैं। उसे इसका रत्ती भर भी पता नहीं, या यों कहिए कि यह सोचने की परवाह नहीं कि उसकी शिक्षा के पीछे उसके पिता ने अपनी जमीन बेच दी थी और उसका कर्त्तव्य अब उस जमीन को छुड़ाने का है। बहुत प्रयत्न करने पर, यदि भाग्य चमका तो उसे किसी चीनी की मिल में ६०-७० रुपये माह पर नौकरी मिल जाती है। इस पर भी अहंकार का पारा देखिए, कितना चढ़ा हुआ है। वृथाभिमान को नापिए—ऊपर लिखी हुई बातें तक उसके मुँह से निकलती हैं।

यदि हार्वर्ड् यूनीवर्सिटी के विज्ञान-विभागाध्यक्ष प्रो० जेम्स् ब्राउन या येल् यूनीवर्सिटी के प्रो० जान् मैक्फर्सन् संध्या-विज्ञान पर एक पुस्तक लिखते हुए, उसमें मन्त्रों की स्फुरण-शक्ति, विद्युच्छक्ति, सञ्चरण-शक्ति आदि की व्याख्या करते हैं तो हमारे भाई बिहारीलाल को वह पुस्तक जँचती है। वह तुरन्त उसको खरीद कर सन्ध्यावन्दन करने लगेगा। आज हमारे कालेज के विद्यार्थियों की अवस्था का यहाँ तक पतन हो चुका है।

पितृ-लोक में रहने वाले लोगों में गुप्त शक्तियाँ होती हैं। वे मर्त्यलोकवासियों के मन्त्रोच्चारण सुन सकते हैं। रेडियो की शब्द-लहरें प्रति सेकण्ड पृथ्वी की सात परिक्रमाएं कर लेती हैं। यदि यह सच है तो क्या सन्देह है कि मन्त्रोच्चारण का स्फुरण क्षण भर में पितृ-लोक में रहने वाले से नहीं सुना जा सकेगा।

भारत की वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली समाज-निर्माण के लिए असफल और अयोग्य सिद्ध हो रही है। इस शिक्षा ने प्रत्येक

भारतीय के मन में सांघातिक विष भर दिया है, भौतिक जादू डाल दिया हैं। इसीलिए आज के विश्वविद्यालय देश के लिए सच्चे नागरिकों का निर्माण न कर, फैशनपरस्तों, आवारों, व्यभिचारियों और दुराचारियों की संख्या में वृद्धि कर रहे हैं। विश्वविद्यालयों की वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति को समूल उखाड़ फेंकना आज का पहिला शिक्षा-सुधार होगा।

विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली धर्म-निरपेक्ष शिक्षा ने विद्यार्थियों के कोमल जीवन को खोखला और निर्जीव बना दिया है। प्राचीन काल के गुरुकुलों तथा आज के कतिपय शिक्षा-स्थलों के समान वे देश के लिए सच्चे नागरिक नहीं दे पा रहे हैं। वे शिक्षक कहाँ हैं, जिनकी शिक्षा के स्मारक हमारे उपनिषद् हैं और कहाँ गए वे कोमल नयन, पवित्र हृदय ब्रह्मचारी, जिनको उपनिषदों की महान् शिक्षा दी जाती थी? प्रखर प्रतिभाशाली वह शिक्षा-शैली कहाँ चली गई है?

कालेज के विद्यार्थियों को उपनिषदों के विषय का कुछ भी ज्ञान नहीं है। शास्त्र, पुराण, नीति तथा अन्य भारतीय साहित्य के बारे में उन्होंने कुछ भी जानने की चेष्टा नहीं की। ब्रह्म-विद्या के दाता भारतीय गुरुवर्ग के जीवन-चरित्रों से वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अलबत्ता उनसे पश्चिमी उपन्यासकारों, अभिनेत्रियों, स्टूडियो-क्षेत्रों के नाम आप पूछ लीजिए—थीसिस् तक लिख मारेंगे।

पर इसमें उनका दोष नहीं, दोष तो सब से पहिले शिक्षा-पद्धति के सूत्रधारों और सञ्चालकों का है। यदि हमारे बच्चों को एक बार उपनिषद् की शिक्षाओं से परिचित करा दिया

जाय तो वे बाद में स्वयं दिलचस्पी लेने लगेंगे तथा सबसे पहिले भारतीय साहित्य की ओर ही उन्मुख होंगे। इस प्रकार भारतीय साहित्य जन-जन के जीवन के साथ ओतप्रोत हो जायगा।

अनुकरण करोगे तो गिरने का खतरा भी है। पहिले अपने दिमागों को ठीक कर लो। ऋषि और मुनियों में तुम्हारे पश्चिमी उपन्यासकारों, राजनीतिज्ञों, अभिनेत्रियों से बहुत ज्यादा अकल थी; वे ही विश्व की सभ्यता के आदि पितामह थे। यूनान ने उनसे ही सब कुछ सीखा। हमारा पड़ोसी चीन भी उनका शिष्य रहा। ईसामसीह ने यहीं आ कर ज्ञान की प्राप्ति की। संसार के विद्वानों को भारतीय साहित्य से ही प्रेरणा मिली। उनके ही शब्दों में—

"जन्म और धर्मानुसार हम ईसाई हैं, किन्तु जिस शान्ति को हमारा मन चाहता है, वह शान्ति उपनिषदों के अध्ययन से ही मिल सकती है—"

"उपनिषद् मेरे जीवन के आनन्द और सन्तोष हैं—"

"ज्ञान और परमात्ममय जीवन के लिए पुत्र, पूर्व की ओर देख—"

"भारत ही मानव सभ्यता का उद्गम है—"

"मानवोचित धर्म भारत से ही सीखना होगा—"

"और सब तो घास-पात खाते थे, पर भारतीय आयुर्वेद की खोज भी कर चुके थे, वेद पढ़ चुके थे, साहित्य और कला का चरम-निर्माण भी कर चुके थे—"

शक्ति का उपार्जन—उसकी सुरक्षा
(चूहे के छहों बिल बन्द करो)

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर शक्ति है, उसकी सुरक्षा की जानी चाहिए। अधिकांश लोगों की शक्ति बहिर्गामी होती है। इसी कारण से वे लोग प्रखर प्रतिभाशाली तथा विद्वान् नहीं हो पाते। लोगों को तो यह भी नहीं मालूम कि इस शक्ति की सुरक्षा कैसे की जाय और कैसे आवश्यकतानुसार उसका सदुपयोग किया जाय। शक्ति के स्वरूप में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन या रूपान्तर किया जा सकता है, पर अधिकांश लोगों को इस कला का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है।

यदि तुम सचमुच में महान् तथा श्लाघनीय वस्तु की प्राप्ति करना चाहते हो तो शक्ति की सुरक्षा तथा उसके सदुपयोग की कला जान लो तथा केवल उचित कार्यार्थं ही उस शक्ति का प्रदर्शन करो।

यहाँ पर एक रहस्य की बात बतलाता हूँ। भले ही व्यक्ति में सेवा-भावना कूट-कूट कर भरी हो; शास्त्रों का पूर्ण अगाध ज्ञान हो; दया, प्रेम, करुणा, उदारता, क्षमा, आत्मसंयम, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि सद्गुण हों—पर उसे सच्चा महान् व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। यदि एक व्यक्ति निर्धन हो, लोग उसकी परवाह नहीं करते हों, समाज में उसका कुछ भी महत्व न हो तथा वह अप्रसिद्ध हो कर किसी कोने में रह रहा हो; न तो उसके पास खाने के लिए सूखी रोटी और पहिनने के लिए भोज के चिथड़े ही हों पर इनसे उसकी सच्ची आध्यात्मिक महत्ता में कमी नहीं आती। वह इन सभी लौकिक कमियों के

बावजूद भी संसार के अन्दर सच्चा आदमी हो सकता है; परमात्मा का प्यारा सच्चा आदमी।

शक्ति की सुरक्षा की आवश्यकता कालेज के विद्यार्थियों, अध्यापकों, डाक्टरों, वकीलों, इन्जीनियरों, व्यवसायियों तथा सबके लिए समान रूप से अनिवार्य है। किसान को ही देखिए, बूँद-बूँद पानी को बन्द कर पुलियों से खेतों में ले आता है। इन्जीनियर भी बाँध द्वारा जल की शक्ति को सुरक्षित कर उपयोगी कार्यों में उसको लगाते हैं। जल की शक्ति को सुरक्षित करने की महिमा देखिये, शिवसमुद्र के जल-प्रपात से सारा मैसूर राज्य विजली प्राप्त कर रहा है और आशा की जाती है कि यह जल-प्रपात भारत के बड़ भारी हिस्से को बिजली दे सकेगा। जब स्थूल और भौतिक शक्ति की सुरक्षा करने से बड़े से बड़े निर्माणात्मक कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं तो आध्यात्मिक मानस-शक्ति की सुरक्षा का प्रभाव कितना व्यापक होता होगा ?

योगी और ज्ञानीजनों की यही विशेषता है कि वह शक्ति के अल्पांश को भी निरर्थक कार्यों में व्यय नहीं करते हैं। वह अपनी तमाम शक्तियों को, जो सुरक्षित हैं, आत्म-विचार और आध्यात्मिक सद्व्यवहार में प्रयुक्त करते हैं। हेनरी फोर्ड को इस कला का ज्ञान था; अतः वे संसार के बड़े धनी-मानी व्यक्तियों में हो गये हैं। जगदीश चन्द्र बोस ने इस शक्ति का सुरक्षण किया तथा उसका उपयोग अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में वैज्ञानिक अन्वेषणों तथा अनुसन्धानों में किया।

शक्ति के बहिर्गमन के छः रास्ते हैं—वे मुख्य हैं। उनके अलावा और भी अनेकों चोर-मार्ग हैं, पर वे छोटे-छोटे हैं। मुख्य मार्गों को बन्द कर लिया जाय तो चोर-मार्गों से शक्ति

का बहिर्गमन स्वभावतः ही बन्द हो जाता है। जिस प्रकार नहर-सिंचाई विभाग का अध्यक्ष ओवरसियर बाँध को नियन्त्रित कर, पानी को सिंचाई के लिए खेतों की ओर भेजता है, ठीक उसी प्रकार योगी और ज्ञानीजन भी सभी बहिर्द्वारों को बन्द कर देते हैं, जिनसे हो कर शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति बाहर की ओर उन्मुख हो रही थी और उस सुरक्षित शक्ति को ही ओज में परिणत कर देते हैं। यही ओज-शक्ति आध्यात्मिक सद्व्यवहारों, ध्यान के अभ्यास तथा आत्मान्वेषण में उन्हें सहायता पहुँचाती रहती है।

वे छः मार्ग कौन? (१) शिश्न-इन्द्रिय, (२) वाक्-इन्द्रिय, तथा मन के चार विकार, यथा (३) अनावश्यक चिन्ता, (४) अनावश्यक भय, (५) अतिक्रोध, तथा (६) तामसिक और कामुक विचार।

गप्प लगाने, निन्दा करने, चुगली खाने, शिकायत करने, गिला-शिकवा करने तथा इसी प्रकार की अन्य निरर्थक और सांसारिक बातों में शक्ति का वाक्-इन्द्रिय से क्षय होता है। पण्डितगण अपनी विद्वत्ता के मद में तर्क करने लगते हैं। पर इससे उन्हें मिलता तो कुछ नहीं, केवल शक्ति का अनावश्यक अपव्यय ही होता है।

कृपण व्यक्ति के समान ही साधकों को भी शक्ति की सुरक्षा करते रहना चाहिए। क्या मजाल कि शक्ति का अल्पांश भी व्यय हो जाय। शक्ति के लिए अल्पांशों का योग ही पूर्णता में बदल जाता है। साधकों के लिए शक्ति ही सर्वस्व है। जो इस संसार में सबसे जल्दी आगे बढ़ जाना चाहते हैं, सबसे ऊँचे उठ जाना चाहते हैं, कुछ ऐसा कार्य करना चाहते हैं, जो अपूर्व

हो—उनके लिए शक्ति ही सब कुछ है। परन्तु मूर्ख लोग ही शक्ति की महिमा से अपरिचित हैं, वे बुरी तरह इसका अपव्यय और दुरुपयोग कर रहे हैं। व्यभिचारी पुत्र के समान ही वे शक्ति के साथ अन्याय करते हैं, उसे निःसत्व बना देते हैं। यह तो मनुष्य के यौवन की कहानी है। वृद्धावस्था में पछताने और रोने-कलपने के अलावा और कुछ उनके पल्ले नहीं लगेगा। पर तब और इलाज हो ही क्या सकता है? जब शरत्काल आ ही गया, मधु-सञ्चय की तैयारी करने से क्या लाभ? जब खून गरम था, अधर लाल थे, मूँछों पर ताव चढ़ी हुई थी, दिल में जोश और हाथों में ताकत थी, तब न तो वे बड़ों की सुनते थे और न सन्त-महात्माओं की ही। अब तो बहुत देर हो गयी, समझ लो कि पछताना और बिलखना ही भाग्य में बदा है।

बेकार की बहस नहीं करनी चाहिए। बहस का अन्त द्वन्द्वात्मक हुआ करता है। जोर से हँसने से भी शक्ति का अपव्यय होता है। अट्टहास करने वाला व्यक्ति दूसरों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। लोगों के दिलों में धाक जमानी हो तो शान्ति, गाम्भीर्य और उचित व्यवहारपूर्ण आचरण करो। कुछ आलसी लोग आम सड़क के होटलों में बैठ कर जङ्गली पशुओं के समान कहकहे लगाते हैं, जिनका न तो कोई अर्थ होता है और न कारण ही। आध्यात्मिक साधक के हँसने में एक विशेषता होती है। साधक की हँसी में सौन्दर्य, गाम्भीर्य और गरमी होती है, जिसको सुन कर लोगों में आनन्द और स्फूर्ति आ जाती है। इन आलसी और काहिलों की हँसी में छिछोरापन और चरित्रभग्नता साफ-साफ झलकती है, सुनते ही दिल में भय और घृणा छा जाती है। देखा, दोनों में फर्क?

इसलिए गम्भीर बनो। जब आवश्यकता पड़े, उचित रीति से हँसो और मुस्कराओ। मुर्दे की तरह चेहरा बना लेना भी दूषण है। हँसमुख प्रकृति तुममें स्वभावतः ही आ जानी चाहिए। आत्म-ध्यान, सद्गुणोपार्जन, दया-व्यवहार, अहिंसापालन, सत्य-व्रत आदि अभ्यासों से स्वतः ही मुँह में चमक-दमक आ जाती है। हँसमुख बनने का स्वांग भी नहीं भरना चाहिए। आडम्बर सामाजिक पाप है। मिथ्याचार से आत्मा का अपहनन होता है। ज्ञानीजन तो आँखों से ही हँस देते हैं। कहकहे मारने वाले मूर्ख होते हैं। हँसी और मुस्कराहट आँखों से प्रकाशित की जाय तो लोगों पर अमोघ ब्रह्मास्त्र का-सा प्रभाव डालती है, साथ-साथ शक्ति के सुरक्षण में खतरा भी नहीं आता है। हो सकता है कि यह बात तुमको अजीब जँचती होगी, पर साधक में यह गुण अवश्य होना चाहिए। तुम्हें भी इस गुण का उपार्जन करना होगा।

•

केवल नपे-तुले (संयमित) शब्दों में ही बातें करनी चाहिए। ज्यादा बकवास नहीं करनी चाहिए। बातचीत को जल्दी से निपटाने का प्रयत्न करना चाहिए। मिलने वाले व्यक्ति के साथ आदरपूर्वक थोड़ी सी बातें करो और जल्दी ही छुट्टी दे दो। (बातों में न लगाये रहो), उसके साथ बात करने में शक्ति का दुरुपयोग न करो। सामाजिक जीव होने के कारण मनुष्य बात-चीत करने का आदी हो गया है। बातचीत के लिए, यदि उसे कोई न मिले तो उदास हो जाता है। एकान्त-सेवन के लिए कहिए, हरे राम! कान पकड़ कर उठ-बैठ भी कर देगा, पर अकेले रहने का साहस न होगा। एक दिन दो-चार घण्टे मौन-व्रत धारण करने को कहिए, ऐसा अनुभव करेगा, मानो उसे सख्त सजा दी जा रही हो।

औरतें तो और भी ज्यादा बातूनी होती हैं, घर में दिन-रात बेकार की धूमधाम मचाती रहती हैं, कभी सास और बहूरानी में वाग्युद्ध छिड़ा तो कभी ननद-भौजाई में। वाग्युद्ध न भी हो तो वे दिन भर शान्त नहीं बैठ सकतीं, कभी इधर की तो कभी उधर की—अर्थात् कुछ न कुछ कहती ही रहेंगी। उनके बातूनी स्वभाव से सारे घर का वातावरण अशान्त हो जाता है। इन सब बातों पर विचार कर, मैंने मौन-साधन को सबके लिए उपयुक्त बतलाया है; क्योंकि मौन-व्रत से शक्ति की सुरक्षा तो होती ही है, साथ-साथ सङ्कल्प दृढ़ होता तथा आनन्द खिल उठता है। एक बार अभ्यास कर देखो, अनुभव करो। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि तुम फिर मौन-व्रत के कायल हो जाओगे। इससे जल्दी तुम्हें शक्ति का अजस्र स्रोत मिलेगा। हर घर में प्रत्येक व्यक्ति के लिए दो घण्टे रोज मौन-व्रत पालन करना अनिवार्य हो जाना चाहिए; रविवार को छः घण्टे अवश्य मौन धारण करना चाहिए। इसके अलावा जब कभी दीवाली या दशहरे का अवकाश मिले तो अवश्य कुछ दिनों तक निरन्तर मौन-व्रत का पालन करना चाहिए।

कुछ लोगों में एक और बुरी आदत है। वे बैठे-बैठे शरीर के किसी अङ्ग को बेमतलब हिलाते रहेंगे। प्रकृति चेष्टापूर्ण स्वभाववाली है। कुर्सी पर बैठे-बैठे पुस्तक पढ़ते हुए भी व्यक्ति जाँघों तथा पाँवों को हिलाता रहता है। उसे इस चेष्टा की रत्ती भर पता नहीं। अतः रोक भी लगायी जाय तो कैसे? यह आदत स्वभाव के साथ-साथ अभ्यस्त हो चुकी है, इस रास्ते से भी शक्ति का क्षय होता रहता है। ध्यानपूर्वक अपने अवयवों की चेष्टाओं को जानना होगा और रोकने की चेष्टा करनी होगी। योगी में यही विशेषता है। जब आसन लगा

कर बैठता है तो काष्ठवत् हो जाता है, हिलना-डुलना सब कुछ बन्द कर देता है। मजाल क्या कि जरा भी इधर-उधर हिलने-डुलने लगे।

साधुओं में घूमने की आदत बड़ी बुरी है; इससे शक्ति का पतन होता है। ज्यों ही वे एक ग्राम में पहुँचे, त्यों ही मार्गश्रम के कारण थकावट से चूर हो जाते हैं, निद्रा आ जाती है। घुमक्कड़ साधुओं के लिए साधना की सम्भावना नहीं। निवृत्ति-मार्गपरायण साधकों को एक स्थान पर जम कर, डट कर धारणा और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। साधना-काल में अधिक चलना-फिरना बन्द कर देना चाहिए। इससे साधक को थकावट की प्रतीति होती है और वह विश्राम की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिस प्रकार बेकार की बातें करने से शक्ति का अपव्यय होता है, उसी प्रकार बेकार के विचार भी शक्ति को बहिर्गामी बना देते हैं। यदि सद्विचार और आत्म-संयम द्वारा मानस शक्ति को सुरक्षित रखा जा सका तो उसका समयानुकूल सदुपयोग किया जा सकता है। शक्ति का सुरक्षण किया गया तो तुम आत्म-स्फूर्ति का अनुभव करने लगोगे। निरन्तर काम करते रहने पर भी थकावट महसूस नहीं करोगे। तुमको पता चलेगा कि तुममें एक नये व्यक्तित्व का विकास हो रहा है, एक नयी मानसिक ज्योति प्रस्फुटित हो रही है, तुम पहले की अपेक्षा अब और अधिक कुशलता से काम कर पा रहे हो। निर्बलता, थकावट को तुमसे दूर भाग जाना होगा।

नित्यप्रति अपने विचारों का निरीक्षण करते रहो। मन में सदा अच्छे और उदार विचारों को ही प्रवेश करने दो तथा मानस-शक्ति को केन्द्रित कर आध्यात्मिक सफलता के लिए ही

उपयुक्त करो। आरम्भ में कुछ न कुछ सङ्घर्ष अवश्य करना होगा। पर अभ्यास करते-करते मन की आदत हो जायगी, वह अपने आप ही राह पर आने लग जायगा।

अनावश्यक चिन्ता शक्ति के बहिर्निस्सरण का दूसरा मार्ग है। एक व्यक्ति को अच्छी तरह मालूम रहता है कि उसका मनी-आर्डर दूसरे बुधवार को आयेगा, पर वह अनावश्यक चिन्ता करता रहता है, दिन में चार बार डाकखाने में जाता और डाकिये को भी पूछता रहता है। यह व्यर्थ की उद्विग्नता है। मनुष्य को जान लेना चाहिए कि प्रारब्ध द्वारा प्रत्येक चीज का पूर्व-निश्चय किया जा चुका है। कूप में बसने वाले मेढक को, चट्टानों में रहने वाले सर्पों को तथा गर्भ में बालक को वही तो भोजन देता है। यह बात ठीक है कि व्यक्ति इस विषय पर लम्बी-चौड़ी बातें करेगा, किन्तु फिर भी हर समय भोजन, वस्त्र आदि के लिए चिन्तित-सा रहेगा। अनावश्यक चिन्ता करने से शक्ति का कितना क्षय होता है, कल्पना नहीं की जा सकती। अनेकों कामनाओं के कारण ही चिन्ता का आगमन होता है। व्यवसायी स्थान-स्थान पर अपने व्यवसाय के उप-केन्द्र या शाखाएं खोल कर खुद ही चिन्ता मोल लेता है। वह अपने आप ही जाल में फँस गया, या यों कहिए कि मकड़ी के समान अपने बनाये हुए जाले में फँस गया।

बहुत लोग अनावश्यक चिन्ता करते रहते हैं कि वह दूसरों की अपेक्षा कम गौरवशाली हैं। गौरवहीनता का विचार उन्हें चिन्तित करते रहता है और उनकी शक्ति का अपहरण करता है। आत्म-गौरव की चिन्ता भी मनुष्य को खा जाती है। सच पूछिए तो यह दोनों चिन्ताएं

केवल मानसिक कल्पना हैं, भ्रामक और मायामय हैं। सभी भेद-भाव असत्य हैं। अपने को न तो दूसरे से नीच ही समझो और न आत्म-गौरव से फूल ही जाओ। मन से इन दोनों विचारों को निकाल दो। उनकी जड़ को जला भी दो। तभी तुम आनन्द और शान्ति पा सकोगे।

अनावश्यक भय से भी शक्ति का पतन हुआ करता है। भय कई प्रकार के होते हैं। एक व्यक्ति को डर लगता है; वह सोचता है कि उसे निमोनिया न हो जाय, क्योंकि खाँसी और शीत का ज्वर उसे कई दिनों से सता रहा है। इसी डर के कारण बहुधा उसे निमोनिया हो भी जाया करता है। व्याधि तो मनुष्य को लगी ही रहती है, परन्तु सदा व्याधि-चिन्तन करने और अनावश्यक डर के कारण वह बढ़ती जाती है। कई बार देखा गया है कि साधारण रोग से पीड़ित व्यक्ति भी रोग से डर जाने के कारण उसका बुरा शिकार बन गया।

समाज में आदमी को समालोचना का डर लगा रहता है। आलोचना का मूल्य है ही क्या ? आलोचना शब्दों का आडम्बरमात्र है। जिस प्रकार शून्य में वायु की तरङ्गें घूमा करती हैं, उसी प्रकार आलोचना भी समाज में चारों ओर चक्कर लगाया करती है।

आलोचनाओं से डरना ही क्यों चाहिए ? यदि वह आदमी तुमको कुत्ता कह कर पुकारता है तो हुआ ही क्या ? तुम्हारी पूँछ तो नहीं निकल आती ? पर ऐसा नहीं हुआ करता। ज्यों ही एक ने दूसरे को कुत्ता कहा तो दूसरा गधा बनाने लगता है। फल यह कि दोनों में युद्ध और मारपीट (यदि बीच-बचाव नहीं कर दिया गया तो)।

भाई जरा सोचो तो सही, ठण्डे दिमाग से, दूसरे के कहने से तुम्हारा बिगड़ता ही क्या है ? दूसरे जब तुम्हारी आलोचना करते हैं तो सुनने वाले उसी व्यक्ति के विषय में बुरी राय निश्चित कर देते हैं। यह सोचना भूल है कि सुनने वाले तुम्हारी बुराई पर विश्वास करेंगे। तुम भले बनो तो दुनियाँ तुम्हारे मुँह पर भी थूकती रहे, तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ने का। सोचो और विचारो। इस प्रकार ही तो समाज में एक दूसरे से शत्रुता, मन में अशान्ति और सन्ताप मोल लिये जाते हैं। आलोचना, निन्दा और अपमान का डर मन में होना नहीं चाहिए।

कुछ लोगों को रात का डर रहता है। रात को पेशाब करने के लिए भी बाहर नहीं निकल सकते हैं। कमरे के अन्दर यदि बिल्ली की छाया भी दीख पड़ी तो पसीने से तर-बतर हो जाया करते हैं। क्या यह शर्म की बात नहीं है? डर के मारे वे दूसरे जिले या ग्राम में काम करने के लिए जाने को राजी ही नहीं होते। अपने ग्राम में २०) रु० ही भले, पर डर इतना सबल है कि दूसरे ग्राम या नगर में १००)रु० वेतन पर भी नहीं जाएंगे। मूँछों वाली स्त्री और न हुई तो वे ही हुए।

इसी प्रकार संन्यासी लोग कहते तो हैं, 'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्', पर जरा सी परीक्षा कर लीजिए, बस मुँह की खा जाते हैं। खतरा सामने आते ही बगल काट जाना चाहते हैं। मैं उनको जनाना वेदान्ती कहा करता हूँ। समाज के आगे वे शोचनीय नमूने हैं।

मेरा अपना विश्वास है कि डाकू (यदि अपनी विपरीत मार्ग पर जाने वाली शक्ति को सुसञ्चालित कर दे) सफल वेदान्ती बन सकता है। उसमें निर्भयता की प्रचुरता होती है, देह का

अभ्यास नहीं होता। केवलमात्र उसकी शक्ति को आध्यात्मिक दिशा की ओर प्रवृत्त करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति में निर्भयता आ जाय तो वह संसार में बड़े से बड़े काम देखते-देखते कर सकता है।

भय का अस्तित्व नहीं होता। भय मनुष्य की अपने मन की छाया है। मन को उज्ज्वल कर दो, यह छाया जाती रहेगी। यही क्यों, केवलमात्र शान्ति से विचार करो तो भय दूर हो जायगा। सोचो कि एक शेर से तुम्हारा सामना हो गया है, तुम क्या करोगे? मन में साहस का सञ्चार करो और निश्चय करो कि तुम भी शेर पर जबरदस्त वार करोगे। युद्ध-भूमि की कल्पना करो, जहाँ मशीनगन, बन्दूकें और तोपें चल रही हैं। यदि तुम एक सिपाही बन गये तो किस प्रकार उनका सामना करोगे। साहसपूर्वक वीरता की ही बातें सोचो। वीर-गाथाओं का अध्ययन करो। गीता के दूसरे अध्याय का अर्थसहित स्वाध्याय करो। अवधूत गीता का पाठ करो। प्रयत्न करते-करते तुम निर्भयता की प्राप्ति कर सकोगे।

अधिक मैथुन करने से शक्ति का पूर्ण पतन होता है। यह सबसे बड़ा छिद्र है, जिससे हो कर मनुष्य की शक्ति का बड़ा भाग बाहर निकल जाता है। आज के नवयुवक इसके महत्व को नहीं जान रहे हैं। सहवास अथवा अप्राकृतिक विधियों द्वारा वे इस अमूल्य शक्ति का कितना अपव्यय कर रहे हैं, किसी से छिपा नहीं है। कामवासना के मद में मस्त होने के कारण उनको जो क्षणिक आनन्द मिलता है, उसी से वे अन्दाज लगा लेते हैं कि जीवन में प्राप्त हो सकने वाला यही सुख सबसे महान् है। इस अन्दाज ने उनके जीवन को बेकार करना

आरम्भ कर दिया है। एक बार जो शक्ति इस रास्ते से बाहर निकल जाती है, उसका पुनर्निर्माण करना कितना कठिन है, किसी बुद्धिमान् अनुभवी व्यक्ति से पूछिए अथवा गरमी रोग से पीड़ित किसी पुराने रोगी से पूछिए अथवा अपने पाप-कर्म पर पश्चात्ताप करते हुए किसी (वर्तमान) ब्रह्मचारी से पूछिए। वह स्पष्ट शब्दों में बतलाएगा कि किस प्रकार गयी हुई शक्ति पुनः वापस नहीं लौटायी जा सकती और न उसके अभाव की पूर्ति ही की जा सकती है। चाहे कितना ही आसव लो, टानिक् लो, बहुमूल्य आयुर्वेदिक भस्में लो, मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि गयी शक्ति वापस नहीं लौटने की और न उस अभाव की ही पूर्त्ति होने की।

अतिसङ्गम से दिमाग थकने लगता है, स्नायुशक्ति हार खाने लगती है, शरीरतन्तुओं को पर्याप्त पोषण नहीं मिलता और शुक्रमार्ग में गड़बड़ (पेचीदापन) होने लगती है। मकर-ध्वज खाने, दूध पीने और फल, घी आदि का सेवन करने पर केवल पैसे ही खर्च होते हैं, शक्ति वापस नहीं लौटती।

अतः इन सब व्यर्थ के व्यवहारों को बन्द कर ब्रह्मचर्य अथवा संयम का पालन करना चाहिए। इसके पालन से अवश्य अभाव की पूर्त्ति कुछ समय के अन्दर की जा सकती है। आत्म-साक्षात्कार मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। परिवार-परम्परा का सवाल तो पौराणिक है। देखिए न, श्रुतियाँ क्या कहती हैं: ज्यों ही वैराग्य का समुदय हो, त्यों ही सांसारिकता का त्याग कर देना चाहिए। दक्षिण भारत के महान् योगी श्री सदाशिव ब्रह्मेन्द्र ने ज्यों ही सुना कि उनकी पत्नी गर्भवती हो चुकी है, घर त्याग दिया और जङ्गलों की ओर चले गये। आज कोई

यह नहीं कह सकता कि वे अपने कर्त्तव्य से विचलित हुए थे। यह भी भला कोई कर्त्तव्य है कि बच्चों पर बच्चा पैदा करना—यह तो समाज पर किया जाने वाला अन्याय और अत्याचार ही तो है। जीवन का एकमात्र कर्त्तव्य आत्मा का साक्षात्कार करना है। दूसरी बातें तो केवल हमारे स्वार्थ को साधने वाली हैं। जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया, वह अपने १०८ पितरों (पूर्वजों) को तार देता है। अपने पूर्वजों के प्रति यदि किसी कर्त्तव्य का प्रकाशन करना है तो वह है आत्मा का साक्षात्कार। धन सञ्चय कर, पाँव मल कर अपने पिता की सेवा करना अज्ञानी बालक की चेष्टाएँ हैं। इसका लक्ष्य स्वार्थ में सन्निहित रहता है।

हो सकता है कि मेरी बातों को सुन कर, दक्षिण भारत का कोई शास्त्री उद्भट विद्वान् और सनातन मतावलम्बी तथा वैदिक धर्म का अनुयायी भरी सभा में उठ कर मेरा विरोध करने लगेगा—स्वामी को (मुझे) कुछ मालूम नहीं है। इसने न तो मनुस्मृति का अध्ययन किया है और न याज्ञवल्क्य स्मृति ही देखी है। मेरे पिता जी अच्छी तरह इस विषय को जानते हैं, वे स्मृति-धुरन्धर हैं। उनके कथनानुसार हम पचहत्तर साल तक गृहस्थ धर्म का पालन करेंगे और बाद में वानप्रस्थ-धर्म स्वीकार करेंगे। संन्यास ८० वर्ष की आयु के अनन्तर ही है।

यह शास्त्री जी सनातनी पिता के पुत्र हैं। इनके पिता किताबी कीड़े और यह कुएँ के मेढक। इनका दिल बहुत ही संकुचित है। इनका परिवार केवल ३ बच्चों और बच्चियों तक ही सीमित है। ऐसा व्यक्ति भले ही बात-बात में शास्त्रों का उदाहरण और उद्धरण ही क्यों नहीं देता

हो, दर्शन-शास्त्र की बातें ही क्यों न छाँटता हो, सदा वासनाओं से भरा रहता है। उसका सारा ज्ञान रसोई घर में ही रहता है। अधिकांश लोग ब्रह्मचर्य पालन करने में असमर्थ रहते हैं, काम-वासना पर विजय नहीं पा सकते, इसीलिए प्राचीनकाल के स्मृतिकारों ने गृहस्थ धर्म की व्यवस्था की थी। यदि व्यक्ति के मन में बाल्यकाल से वैराग्य की भावना पनप चुकी है; यदि उसका मन आध्यात्मिक वृत्ति की ओर उन्मुख हो चुका है तो वह कैसे एक क्षण भी गृहस्थ-आश्रम में रह सकता है ? वह अवश्य संन्यास धारण कर लेगा और अपना सारा समय श्रवण, मनन और निदिध्यासन में उपयुक्त करेगा। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश होने के बजाय वह सीधे संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट हो जायगा।

जिस व्यक्ति ने वीर्य-पतन के साधनों का निराकरण कर दिया है और वीर्य-शक्ति को ओज के रूप में परिणत कर दिया है, वह सचमुच इस पृथ्वी पर सबसे सुखी व्यक्ति है। यदि कहा जाय कि ऐसा व्यक्ति सभी तत्त्वों पर विजय की स्थापना कर सकता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रकृति सदा उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए सदा तत्पर रहती है। दुनियाँ के तूफानों और बवण्डरों के सामने वह अचल पर्वत के समान खड़ा रह सकता है। अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में वह सफलता प्राप्त करता है। उसका चित्त एकाग्र रहता है तथा आत्मा पवित्र।

छोटी-छोटी बातों के लिए क्रोधित होना भी अच्छा नहीं, इससे आन्तरिक शक्ति का बड़े वेग से बहिर्गमन होता है। मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानकारों ने सिद्ध कर दिखाया है कि

क्रोधित होने से शरीर-प्रणाली पर बुरा धक्का लगता है। यहाँ पर यह भी जानना ही चाहिए कि यदि क्रोध पर ब्रह्मचर्य, प्रेम, क्षमा से विजय प्राप्त कर ली गयी तो संसार पर भी विजय की स्थापना हो ही जाती है। क्रोध का आविर्भाव आकस्मिक हुआ करता है; पता नहीं चलता कि कब आने वाला है। मनुष्य उद्रेक-प्रधान जीव है; वे उसे अपनी दिशा में खींच ले जाते हैं। यदि मनुष्य सावधान है, वीर्य की सतत रक्षा कर रहा है, क्षमा का पालन और विचारों का प्रक्षालन कर रहा है तो वह क्रोध पर विजय पाने में सफल हो सकता है। मनुष्य के लिए एक शत्रु बड़ा कष्टकर सिद्ध हुआ है, ऐसा हमारे पूर्वजों का मत है; वह शत्रु क्रोध-रूप-वासना है। यदि क्रोध का दमन कर दिया गया तो मन की बुरी वृत्ति का दमन किया हुआ समझो। तीन-चौथाई साधना क्रोध को दमन करने पर ही सम्पन्न हो जाती है। क्रोध-दमन साधना का प्रमुख अङ्ग समझा जाना चाहिए।

पिछले पृष्ठों में मैंने शक्ति के बहिर्गमन के रास्तों का दिग्दर्शन करा दिया है और यह भी बतला दिया है कि किस प्रकार उन रास्तों को बन्द कर शक्ति की सुरक्षा की जा सकती है। अब आप लोगों का काम है कि उन नियमों को व्यवहार में परिणत कर दो। आज से अपनी शक्ति को सुरक्षित करना होगा और उसका उपयोग ऐसे कामों में करना होगा, जो जीवन की सच्ची सफलता को सिद्ध करने वाले हों, जिनमें स्वार्थ और पाप का लेशमात्र भी न हो। साथ-साथ यह भी जानना ही होगा कि किस प्रकार शक्ति को नियन्त्रित अथवा सञ्चालित किया जाय। कुछ लोग यह नहीं जानते कि शक्ति का व्यय किस प्रकार किया जाय। प्रारम्भ में निरर्थक कार्यों

के लिए उसे खर्च कर देते हैं और जब उसकी जरूरत पड़ती है तो हाथ मल कर रह जाते हैं। इसलिए दूरदर्शी होना चाहिए और विचारशील भी। शक्ति का उपयोग सदा नहीं किया जाना चाहिए। शक्ति के उपयोग का समय जीवन में कभी-कभी आता है। कब? जब काम-वासना सता रही हो, उसे हटाने के लिए; जब क्रोध शरीर में घर कर बैठा हो, उसे मिटाने के लिए और जब मन में बुरी वासनाएं खेल खेल रही हों, उनको पराभूत करने के लिए। शक्ति के उपयोग का समय तभी है, जब मन में सात्त्विक विचार जाग रहे हों, उस समय ध्यान में बैठने के लिए।

जीवन के अर्थ को अच्छी तरह समझ लो। संसार में माया का राज्य है, उसके वशीभूत हो कर नहीं रहना चाहिए। माया बड़ी प्रबल है। इसलिए सदा महात्माओं की सङ्गति में रहने का अभ्यास डालना चाहिए। आरम्भिक जीवन में तो सत्सङ्ग को सुरक्षित दुर्ग के समान ही समझना चाहिए। अपनी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करो, ज्ञान का विकास करो और गुणों का समुदय। आत्मा में नित्य-तृप्ति रहती है। आत्मा आप्तकाम है। आत्मा में रमने से प्रत्येक अभिलाषा की पूर्ति हो जाती है। इसलिए आत्मा में ही रमण करना सीखो। सद्-गुणों का उपार्जन करो। मनुष्य जीवन का आधार खोजो और उस जीवन को आगे ले जाने वाला मार्ग भी। अपने सामने एक लक्ष्य और एक ही आदर्श का साक्षात्कार करना चाहिए।

सांसारिकता से जरूर ऊपर उठ कर अपना जीवन सफल बनाना चाहिए। अपने मन को निष्पाप बना लो तथा आत्मा को महान् और उदार; और सदा अपने मन में यही निश्चय

करते रहो कि किस प्रकार आत्मा का साक्षात्कार कर सकोगे तथा किस प्रकार अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति करने में सफल बनोगे। श्रद्धा और रुचि के साथ-साथ लगन भी होनी चाहिए। कोई कारण नहीं कि सफलता न मिले। मैं सदा तुम्हारे आनन्द, तुम्हारी प्रसन्नता तथा सफलता के लिए ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना करता हूँ।

मौन-साधना का महत्व

मौन का अर्थ है कुछ भी न बोलना, अर्थात् वाणी का संयम (ब्रह्मचर्य)। मौनव्रत के कई प्रकार हैं। शरीर को एक स्थान पर स्थित कर देने तथा प्रतिमा की तरह अचल होकर बैठ जाने से, जिस मौन-व्रत की सिद्धि होती है, उसे काष्ठ-मौन कहते हैं। यदि अपनी इन्द्रियों के व्यवहारों को मौन (संयमित) कर दिया तो इन्द्रिय-मौन के नाम से जाना जाता है। वाणी का मौन ही साधारणतः मौन-व्रत के नाम से जाना जाता है। यदि मन को शान्त कर दिया जाय और उसकी वृत्तियों पर संयम की स्थापना कर दी जाय तो सुषुप्ति-मौन सम्पन्न होता है। इसे ही महामौन भी कहा जाता है। यह मौन-व्रत सब में श्रेष्ठ है। ब्रह्म का लक्षण परम शान्ति है, अतः उसे महामौनी कहा जाता है। 'अयमात्मा शान्तः' से महामौनी का भी बोध होता है।

वाक्-इन्द्रिय से मन की चञ्चलता की प्रतीति होती है। बातूनी लोग मानसिक शान्ति नहीं पा सकते। जो व्यक्ति अधिक बातें करता है, उसे राजसिक प्रकृति वाला समझना चाहिए। बातें करने से मन बहिर्मुख होता है। सांसारिक

प्रकृति के व्यक्ति से मौन धारण करने को कहिए, ऐसा पता चलेगा, मानो वह सचमुच मृत्यु को सौंप दिया गया हो। पर जो लोग साधना में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं और जिनके जीवन का लक्ष्य खाने, पीने और सोने से कहीं अधिक और महान् तथा आदर्श है, उनको मौन-व्रत के पालन में सुख की अनुभूति होती है, आनन्द की प्राप्ति होती है। मौन-व्रत धारण करने में जो कुछ कठिनाई प्रतीत होती है, आरम्भ में ही। अभ्यास करते-करते मौन धारण करने से जो तृप्ति और जो सन्तोष मिलता है, वह अन्यत्र (बातचीत करने में) नहीं मिल सकता। लौकिक प्रकृति वाले व्यक्ति सदा किसी न किसी से बातें करना चाहते हैं। यह उनका स्वभाव है।

अन्यत्र बतलाया जा चुका है कि व्यक्ति अपनी शक्ति बातचीत करने, गपशप लगाने और चुगली खाने में व्यय कर देता है। सांसारिक प्रवृत्ति के व्यक्ति इस अपव्यय से प्रभावित नहीं होते; क्योंकि उन्हें इस अपव्यय का पता नहीं चलता। जो शक्ति बातचीत करने से बाहर की ओर बहने लगती है, उसे मौन-व्रत के अभ्यास से अन्दर की ओर किया जा सकता है। मौन-व्रत के सम्पालन से शक्ति की सुरक्षा की जा सकती है। जब कभी सम्भव हो और समय मिले एकाध महीने मौन धारण कर देखो, स्वयं ही लाभ की अनुभूति करोगे। एक बार मौन धारण करने का अनुभव और अभ्यास हो गया तो उसे छोड़ना असम्भव हो जाता है। यदि वाक् इन्द्रिय पर नियन्त्रण कायम कर दिया गया तो आँखें और कान अपने-आप ही वश में आ जाते हैं।

मौन-व्रत से सङ्कल्प-शक्ति का विकास होता है। मौन-व्रती वाणी पर अपना संयम और नियन्त्रण स्थापित कर लेता है।

मौन धारण करने से न केवल सत्य-पालन में सहायता मिलती है, बल्कि साथ-साथ क्रोध के दमन में भी सहयोग मिलता है। भावुकता पर रोक लग ई जाती है और चिड़चिड़ापन दूर कर दिया जाता है। मौनी बात भी करेंगे तो नपे-तुले शब्दों में ही और जो कुछ बातें उनके मुँह से निकलेंगी, वह सुनने वालों पर अपना प्रभाव कर जायेंगी।

साधारण लोगों में इस नियन्त्रण का अभाव ही पाया जाता है। अधिकतर देखा जाता है कि व्यक्ति मनचाही बातें बिना सोचे समझे बोलता जाता है। वाणी पर किस प्रकार ताला लगाया जाना चाहिए, उन लोगों को जरा भी मालूम नहीं और न परवाह ही है। परन्तु मौनी सदा बोलने से पहले यह सोच लेता है कि वह जो कुछ कह रहा है, वह दूसरों पर कैसा प्रभाव कर जायगा; क्या उसके वचनों से दूसरों के दिलों में ठेस तो नहीं पहुँचेगी। अभिप्राय यह कि वह अपनी बातचीत में इतना सावधान रहता है कि लोग उसके एक-एक शब्द को आदर की रीति से सुनते हैं और उसकी एक-एक बात का विश्वास करते हैं। वह इसलिए कि बातचीत का संयम दूसरों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है।

जिन लोगों को इस प्रपञ्च के अनेकों व्यवहार करने पड़ते हों, उनको भी दिन में एक घण्टे मौन का अभ्यास करना चाहिए और प्रति-रविवार को दो-चार घण्टे जरूर। दो-चार दिन अभ्यास करते रहने से आसानी भी मालूम होगी तथा दूसरे भी बाधा डालने नहीं आयेंगे। इस प्रकार मौन का अभ्यास प्रतिदिन और प्रति-रविवार को करते जाओ। दिन भर बक-झक करते रहने से जिस परिमाण में शक्ति का व्यय

हुआ है, वह दिन में दो घण्टे के मौनाभ्यास से पुनः प्राप्त हो जायगी। मौन धारण का अभ्यास आरम्भ कर लेने पर एक बात और अच्छी है, वह है मित्रों के आवागमन में कमी। ज्यों ही मित्रों को तुम्हारे मौन-व्रत का पता चलेगा, त्यों ही वे तुम्हारे पास आना बन्द कर देंगे। मित्र ही क्यों, परिवार के लोग भी तुम्हें उस समय अधिक कष्ट नहीं देंगे।

पर एक बात ध्यान में रखिए। वह यह कि मौन का समय केवल जप, कीर्त्तन, ध्यान अथवा स्वाध्याय में बिताया जाना चाहिए। मौन धारण का अभ्यास उसी समय करना चाहिए, जब अनेकों लोग तुम्हारे पास आ कर तुमको दिक करते हों। इससे दोनों लाभ साथ-साथ होंगे।

कुछ लोग ४० दिनों तक अनुष्ठान करते हैं। मेरी राय यह है कि वे लोग ४० दिनों तक मौन भी अवश्य रहें। इससे मन को अपूर्व शान्ति मिलेगी। पर याद रखो कि घर में रहने से अनुष्ठान ठीक प्रकार नहीं चल सकता। घर की औरतें बड़ी बातूनी होती हैं, कुछ न कुछ बातें अवश्य करती रहेंगी, इसलिए अनुष्ठान और मौन-व्रत के अभ्यास के लिए कहीं एकान्त में, पवित्र नदियों के तट पर, तीर्थों में चला जाना चाहिए, जैसे ऋषिकेश, हरिद्वार, प्रयाग आदि।

घर की औरतों को भी व्यर्थ की बातें नहीं करनी चाहिए। जो लोग इन पंक्तियों को पढ़ रहे हैं, वे अवश्य मेरी ओर से अपने-अपने घर में मौन-व्रत धारण करने के लिए आदेश दे दें। घर की औरतें यदि मौन धारण का अभ्यास करती रहेंगी, तो घर में शान्तिमय वातावरण उत्पन्न हो जायगा। औरतों में

बातचीत करने से ही मानसिक अशान्ति का आविर्भाव होता है, यदि वे बातचीत करना बन्द कर दें तो जल्दी आत्म-साक्षात्कार कर सकती हैं।

कुछ लोग मौन धारण तो कर लेते हैं, पर इशारे करना नहीं छोड़ते। हा-हू तथा हाथ हिला कर अपने भाव प्रकट करते रहते हैं। यह अभ्यास बातचीत से बदतर है। यदि बहुत ही जरूरी बात करनी हो तो कागज पर लिख देना चाहिए, किन्तु इशारों से समझाने का प्रयत्न करना कदापि वाञ्छनीय नहीं है।

समाधि की प्राप्ति करने के लिए जो लोग ध्यान का अभ्यास करना चाहते हों, वे पाँच बातों को ध्यान में रख लें: मौन, मिताहार, एकान्तवास, गुरु-सन्निधि और शीतल प्रदेश।

वाणी से अनेकों कलहों और उत्पातों का जन्म होता है। मौन धारण कर उस प्रकाशन पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए। वाणी पर मौन द्वारा रोक लगाने का अर्थ मन पर रोक लगाने से होता है।

वाक् इन्द्रिय पर नियन्त्रण करने को कारण मौन कहा जाता है। शारीरिक चेष्टाओं पर रोक-थाम करने को काष्ठ-मौन कहते हैं। वाक्-मौन और काष्ठ-मौन में मानसिक वृत्तियों का अभाव नहीं रहता। काष्ठ-मौन में न तो सिर हिलाना चाहिए और न अन्य सङ्केत ही किये जाने चाहिए। अपने विचारों को प्रकाशित करने के लिए कागज और स्लेट में कुछ भी नहीं लिखा जाना चाहिए।

वाक्-मौन से महामौन की सिद्धि में सहायता मिलती है। महामौन में मन सच्चिदानन्द आत्मा में विश्राम करता है। मन से विचारों का लय हो जाता है। मौन धारण करने से शक्ति सुरक्षित रहती, सङ्कल्प को बल मिलता तथा वाणी पवित्र हो जाती है। सत्य-पालन और क्रोध-दमन में इससे बड़ी सहायता मिलती है।

ब्रह्मानन्द में जब मन सो जाता है, उसे सुषुप्ति मौन कहते हैं। जब मन से सभी संशयों की निवृत्ति हो जाती है, तब सुषुप्ति मौन सिद्ध होता है। जब मन में यह निश्चय दृढ़ हो जाता है कि संसार ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं, तब सुषुप्ति मौन का अवतरण होता है। जब दृष्टि में समता का आविर्भाव होता है, सत् और असत् में भेद निश्चित करने वाली बुद्धि जागती है तथा जब मन पवित्रता में रम जाता है तब सुषुप्ति मौन की पूर्ति होती है। साधक किसी प्रकार की साधना करे, पर वाणी-संयम (मौन) अवश्य धारण करे। ब्रह्मवादियों को भी मौन का अभ्यास करना चाहिए। मिथ्याऽभिमान और गर्व से फूल नहीं जाना चाहिए। यह नहीं कि हम बड़े वेदान्ती हो गये, हमें मौन धारण की आवश्यकता नहीं; वेदान्ती के लिए भी मौन-व्रत का अभ्यास लाभदायक है। यदि काष्ठ-मौन के लिए वातावरण अनुकूल न हो तथा सुविधाएं प्राप्त न हों तो वाक्-मौन अवश्य धारण करना चाहिए।

मौन अभ्यास काल में घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए। बाहर क्यों, आसन से विचलित भी नहीं होना चाहिए। किसी से मिलना भी नहीं चाहिए। मौन धारण करने का मतलब

केवलमात्र चुपचाप रहना नहीं, बल्कि अपनी शक्ति को आध्यात्मिक ओज में परिवर्तित कर देना है। यदि मौन का अभ्यास करते समय इन बातों का ध्यान रखा गया तो अवश्य शान्ति, पवित्रता और आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति हो सकेगी।

मौन का अभ्यास विवश हो कर करने से कुछ लाभ नहीं मिलेगा। मौन धारण करने में स्वयं ही रुचि लेनी चाहिए। यह सोचना चाहिए कि मौन-व्रत के पालन से तुमको शान्ति और आनन्द के साथ-साथ आन्तरिक शक्ति भी मिलती जा रही है। तभी तुम मौन धारण करने में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करोगे। विवश हो कर पालन किया गया मौन का अभ्यास तुमको निराश और दुःखी बना देगा।

मौन धारण के समय आत्म-चिन्तन भी किया जा सकता है। इस समय विचारों की प्रगति पर ध्यान दिया जा सकता है। मन किस प्रकार और क्या काम कर रहा है—यह सब मौन-काल में आसानी से समझा जा सकता है। बारीकी से देखोगे तो पता चलेगा कि मन किस प्रकार प्रति-क्षण एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर कूदता जा रहा है। मौन धारण करने से मन को शान्ति मिलनी चाहिए, यह अच्छी तरह समझ लो। शारीरिक मौन तो साधनमात्र है, किन्तु मानसिक शान्ति ही ध्येय है।

मौन में सफलता मिलते जाने से सङ्कल्प-शक्ति का विकास होता है, सङ्कल्पों की तेजी पर रोक-थाम होती है, वाणी का उद्रेक स्तब्ध हो जाता है तथा मन को शान्ति प्राप्त होती है।

साथ-साथ सहनशक्ति बढ़ती है, असत्यभाषण के अवसर कम होते जाते हैं। वाणी पर संयम तो सिद्ध होता ही है।

कुछ लोग संस्कृत पढ़ कर बड़े बातूनी हो जाते हैं। बात-बात में बहस करने लगते हैं और अनावश्यक बातों में जूझ पड़ते हैं। संस्कृत-शिक्षित विद्यार्थियों में यही दुर्बलता है कि वे जरा सी संस्कृत पढ़ लेने पर अपनी विद्वत्ता की डींग हाँकने लगते हैं। बेमतलब बहस में न जाने कितनी शक्ति का अपव्यय होता है। यदि इस शक्ति को सुरक्षित कर दिव्य विचारों और आत्म-चिन्तन में लगाया जाय तो कितनी शान्ति और कितनी प्रसन्नता तथा सफलता की प्राप्ति होगी।

जब व्यक्ति रोग से ग्रस्त हो तो उसे मौन रहने का आदेश देना चाहिये। रोगी को मौन का अभ्यास करने से आनन्द और आराम मिलता है। मानसिक अशान्ति का निराकरण करने से जो शक्ति सञ्चित होगी, वह शरीर और मन दोनों को शक्ति देती रहेगी। यदि ऐसा नहीं किया गया तो रोगी की शक्ति का ह्रास होता जायगा। दिन में दो घण्टे मौन का अभ्यास कर देखिए, मन और बुद्धि को कितनी शक्ति प्राप्त होती है। प्रतिभा में प्रखरता तथा बुद्धि कुशाग्र होती जाती है।

मौन इसलिए धारण किया जाना चाहिए कि आपको लाभ प्राप्त हो, अर्थात् आपकी आन्तरिक शक्ति की सुरक्षा हो सके तथा मन की प्रवृत्तियों को पवित्र किया जा सके—इसलिए नहीं कि लोग तुम्हें देख कर योगीराज कहें। अतः जब कभी मौन धारण करते हो तो अपना लक्ष्य भी अच्छी तरह निश्चित कर लो।

भोजन करते समय मौन धारण करना चाहिए। मौन धारण किया जा रहा है तो सङ्केत तथा हा-हा, हू-हू द्वारा भावों का प्रकाशन नहीं किया जाना चाहिए। हू-हू करने से अच्छा तो बात ही कर ली जाय। मैं तो समझता हूँ कि इस प्रकार के भाव-प्रकाशन से शक्ति का अधिक व्यय होता है।

यदि वातावरण और समाज-सङ्गति ऐसी है कि तुम मौन का अभ्यास न कर सको तो इतना तो जरूर ही करो; अपने को जहाँ तक हो सके बातचीतों, गिला-शिकवों, पर-निन्दा, शिकायतों, आलोचनाओं तथा बड़ी-बड़ी लम्बी बातों से दूर ही रक्खो। जहाँ गरम-गरम बहस हो रही हो, वहाँ जाने से अपने को बचाना चाहिए।

जहाँ तुम रह रहे हो, वहाँ मौन का अभ्यास न कर सको तो कहीं एकान्त में चले जाओ और रोजाना दो घण्टे मौन अवश्य रखो।

अच्छा तो यह कि मौन धारण करने का समय निश्चितहोना चाहिए और मौन धारण काल में तुम जिस कमरे में बैठते हो, वह निश्चित होना चाहिए। मौन धारण काल में जप, विचार, ध्यान आदि जो कुछ करते हो, वह भी निश्चित होना चाहिए।

अनुष्ठान के दिनों में मौन का अभ्यास भी साथ-साथ किया जाय तो अतुलित लाभ की सम्भावना रहती है। इस विषय में अन्यत्र कुछ और बातें बतलाई गई हैं।

दीर्घ काल के लिये मौन या दीर्घ काल के काष्ठ-मौन की आवश्यकता नहीं। नये साधकों के लिए तथा जो लोग मौन

से अनभ्यस्त हैं, दीर्घ मौन अथवा अनिश्चित काल के लिए काष्ठ मौन से हानि भी पहुँच सकती है। जो लोग अधिक काल के लिए मौन धारण करना चाहते हैं, वे पहले-पहल ३० दिन तक मौन धारण करें। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाते जायें। यदि आरम्भ में ही अनिश्चित काल के लिए मौन धारण करना आरम्भ कर दिया तो मन पर भयावह चोट पहुँचती है, उसके व्यापार शिथिल ही नहीं, पूर्णतया प्रतिक्रियात्मक रूप से चोट खाए हुए सर्प के समान बन जाते हैं। यदि मौन का अभ्यास समझ-बूझ कर कुछ दिनों के लिए किया गया तो वाणी, इन्द्रियों और मन के संयम में सहायता मिलती है। अधिकाधिक परिमाण में शक्ति की सुरक्षा की जा सकती है। साधक अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति करने लगता है।

यदि तुम दीर्घ या अनिश्चित काल के लिए मौन धारण नहीं कर सकते तो उस पर प्रयोग मत करो। यदि तुम मौन धारण काल में जप, कीर्त्तन और साधना तथा विचार नहीं कर पा रहे हो तो मौन धारण से कुछ लाभ नहीं होगा, अच्छा तो यह कि मौन तुरन्त भङ्ग कर दिया जाय। मैं तो स्वर्ण-मार्ग का पक्षपाती हूँ। अनिश्चित काल के लिए मौन धारण करने की अपेक्षा मैं नपे-तुले शब्दों को ही पसन्द करता हूँ। यदि शब्दों का चुनाव बुद्धिपूर्वक किया गया तो मौन-साधना बहुत अंशों तक अपने लक्ष्य में सिद्ध हो जाती है। क्या लाभ यदि छः महीने काष्ठ-मौन धारण किया और शेष छः महीनों में खूब बातचीत कर उसकी कोर-कसर निकाल दी? नित्यप्रति एक घण्टे जरूर मौन धारण करो और वह समय अच्छी तरह उपयुक्त करो। रविवार को कुछ समय बढ़ा कर मौन का अभ्यास करो। इसके अतिरिक्त अपनी बातचीत में सावधान

रहो, अपने विचारों को तौल कर प्रकट करो और अपने व्यवहारों को कसौटी पर कस कर ही व्यवहृत करो। क्या मौन-साधना का लक्ष्य इससे सिद्ध नहीं हो सकता ?

इतना जरूर है कि तुम अनुष्ठान में लगे हो तो ४० दिन तक अवश्य मौन धारण करो। परन्तु अभ्यास में यह कष्टकर और प्रतिक्रियात्मक प्रतीत होगा। इसके लिए पूर्व-अभ्यास अवश्य चाहिए। अतः अनुष्ठान करने से पहले बीच-बीच में दस-पन्द्रह दिनों तक मौन धारण का अभ्यास करते जाओ, इससे अनुष्ठानकालीन मौन में प्रचुर सहायता मिलेगी। जो लोग नित्यप्रति तथा साप्ताहिक नियम से मौन का अभ्यास करते आ रहे हैं, उनके लिए पन्दरह-बीस दिन तक मौन धारण करने में सरलता होगी, ऐसे लोगों को तीर्थ यात्रा के अवसर पर पूर्ण मौन धारण कर लेना चाहिए। यदि तीर्थ यात्रा न कर सकें तो साल में जब अवकाश मिले, एक बार अवश्य दीर्घ मौन (तीस-चालीस दिन तक) धारण करना चाहिए।

जप, ध्यान, आत्म-विचार विश्लेषण, पवित्र निश्चय आदि में जब वाचिक शक्ति को नियन्त्रित कर दिया जाता है तो वह अजस्र गति से अन्दर को ओर अधिमानसिक प्रदेश में (चित्त में) बहने लगती है, जो विचार बहिर्मुख हो रहे थे, वे अन्तर्मुख हो जाते हैं—फलतः साधक आन्तरिक शान्ति और तृप्ति का अनुभव करने लगता है। पर यदि ऐसा न हुआ, शक्ति को नियन्त्रित नहीं किया गया और आध्यात्मिक व्यवहारों में उसका सदुपयोग भी नहीं किया गया तो वह बुरे रास्ते पर जाने लगती है, उत्पात मचाती है, फलतः साधक हू-हू तथा

अन्य सङ्केतों का दास बन जाता है और इस प्रकार शक्ति साधारण बातचीत की अपेक्षा अधिक स्खलित होती है।

मौन धारण करते समय यदि सङ्केतों का प्रदर्शन किया गया अथवा हू-हू, हा-हा की ध्वनियों से भावों को प्रकाशित किया गया तो मौन का लक्ष्य ही कहाँ सिद्ध हुआ? इससे तो मौन न रखना ही अच्छा।

मौन धारण काल में बिना चीनी मिलाये दूध पियो और दाल तथा सब्जी को बिना नमक के। इससे रसना-वृत्ति पर नियन्त्रण की स्थापना होती है। दूध में चीनी मिलाने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि प्राकृतिक शर्करा इसमें वर्त्तमान रहती है। चीनी मिलाने से लाभ कम और हानि ज्यादा होती है। यदि चीनी का अभ्यास छोड़ कर रसना पर नियन्त्रण स्थापित कर दिया जाय तो साधना में बहुत कुछ सफलता की स्थापना हो ही जाती है। रसना-वृत्ति पर नियन्त्रण हो जाने से मन पर नियन्त्रण हुआ समझना चाहिए। वासना पर जब विजय पायी जाती है तो सङ्कल्प-शक्ति के विकास में बहुत सहायता मिलती है और एक वासना पर विजय पाने से दूसरी वासना पर स्वभावतः विजय पायी जा सकती है।

मौन-साधना काल में संन्यासी के समान पवित्र जीवन व्यतीत करो। सोचो कि तुम भी संन्यासी ही हो। मन अक्सर सुझाव दिया करता है : मैं तो गृहस्थी हूँ; अभी संन्यासी नहीं। इन विचारों से मन की वासनाओं को सिर उठाने में सहायता मिलती है। पर मन में संन्यास-भावना जम गई तो वासनाओं को दबा दिया जाता है। तपस्या काल में मन की सभी वास-

नाओं का निराकरण करना ही साधक का उद्देश्य रहता है, चाहे वह ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ अथवा संन्यासी।

मौन धारण काल में समाचार पत्र आदि लोक-साहित्य नहीं पढ़े जाने चाहिए, क्योंकि इनसे संस्कारों को (जिनका दमन करना है) नव बल मिलता है और मानसिक शक्ति और शान्ति में विघ्न पहुँचता है। समाचारपत्रादि द्वारा, भले ही तुम हिमालय में ही क्यों न हो, अनेकों नगरों से अपना सम्पर्क स्थापित किये रहते हो, तब हिमालय में रहने का फायदा ही क्या हुआ ? समाचारपत्रादि से मन की शान्ति चली जाती है, ध्यान की शक्ति नहीं रहती, चित्त एकाग्र नहीं होने पाता।

मौन धारण काल में अपने विचार, व्यवहार, सङ्कल्प तथा पूर्ण चरित्र को शुद्ध और परिमार्जित करने की कोशिश करो। सामाजिक सदाचार को कुछ समय के लिये अलग रख कर, व्यक्तिगत सदाचार का स्थिर चित्त से पालन करो। मानसिक पवित्रता, विचारों की पवित्रता तथा व्यवहारों की आदेशपरायणता का विकास मौन धारण काल में ही किया जाना चाहिए। भले ही तुम गृहस्थी हो तो भी मौन-साधना काल में सब कुछ भूल जाओ और तपस्या का अभ्यास कर अपने चरित्र को शुद्ध कर लो, अपने को प्रपञ्च के इस योग्य बना लो, ताकि जल में कमल के पत्ते के समान निष्कलङ्क और निर्विकार रह सको।

यदि यह अभ्यास कर चुके तो अवश्य जीवन में एक महान् सफलता की प्राप्ति कर सकोगे। तुम्हारी आन्तरिक शक्ति के स्रोत उचित मार्ग पर बहने लगेंगे और मानस-खेती को सीचेंगे और उनमें पवित्रता के फूलों, फलों और अनाजों का खिलना आरम्भ हो जायगा।

साधना की दैनन्दिनी क्यों रखी जाय ?

साधना की डायरी या आध्यात्मिक दैनन्दिनी को रखने के महत्व पर अवश्य कुछ कहना चाहिए। दैनन्दिनी का तो अपना महत्व है ही, साधक की दैनन्दिनी का और भी अधिक महत्व है। जो लोग डायरी रखा करते हैं, वे जानते हैं कि इससे क्या-क्या लाभ हैं ? साधक की दैनन्दिनी मन के लिए चाबुक के समान है, जो उसे ठीक रास्ते से अलग नहीं फिरने देती। साधक के लिए डायरी शिक्षक और गुरु के समान है। जो लोग आध्यात्मिक मार्ग पर जल्दी अग्रसर होना चाहते हों, चारित्रिक और सामाजिक गुणों का सञ्चय करना चाहते हों, वे यह बात अवश्य समझ लें कि उन्हें अपने प्रतिदिन के कार्य का विवरण अपने पास रखना ही होगा।

महात्मा गान्धी जी डायरी रखने को कहा करते थे। जिन लोगों ने महात्मा गान्धी जी से डायरी रखने का उपदेश पाया, वे आज भी उसका पालन करते आ रहे हैं। मैं भी डायरी रखने का पक्षपाती हूँ और जो लोग मेरे सम्पर्क में आते हैं, मैं उन्हें पहले पहल डायरी की एक प्रति ही भेंट करता हूँ (जिस पर वे अपने पूरे दिन का विवरण नोट कर सकें, आगामी पृष्ठों में उसकी प्रतिलिपि दी जा रही है)।

मेरे विद्यार्थी प्रतिमास उस दैनन्दिनी को मेरे पास समालोचना के लिए भेजते हैं। डायरी के साथ-साथ मन्त्र-लेखन पुस्तिका भी रहती है, जिसमें अपने-अपने इष्टदेव का मन्त्र सुन्दरतापूर्वक लिखा हुआ रहता है।

मन्त्र-लेखन पर भी दो शब्द : मन्त्र लेखन एक ऐसी कला है, जिसका प्रभाव साधक के चित्त पर सीधा जा कर पड़ता है। मन्त्र-लेखन से सहज एकाग्रता आती है, जो जप और ध्यान में यत्न करने पर भी नहीं आ सकती। जिस मन्त्र का जप किया जा रहा है, उसी मन्त्र को एक पुस्तिका में लिखने का नाम मन्त्र-लेखन है। मन्त्र-लेखन शुद्ध होना चाहिए, दर्शनीय होना चाहिए।

पुनः डायरी पर : संसार के महापुरुष डायरी रखा करते थे। बेंजामिन् फ्रैंकलिन् के जीवन चरित्र से तो सभी परिचित हैं, वह भी डायरी रखने के व्यावहारिक पक्षपाती थे। अपने जीवन की कमियों और दुर्बलताओं तथा सभी प्रकार की दैनिक घटनाओं का विवरण वह अपनी डायरी में नोट करते गये। आज वह संसार के महापुरुषों में गिने जाते हैं। डायरी का उद्देश्य मन को सङ्कल्प-शक्ति प्रदान करना है। मन को भी कुछ न कुछ आधार अवश्य चाहिए, जिसके द्वारा उसे सङ्कल्प-प्रेरणा मिल सके। डायरी एक ऐसा उपकरण है, जिसके द्वारा मन को नित्यप्रति अपने कर्मों की पुनरावृत्ति करने का अवसर मिलता है, उनकी जाँच का मौका मिलता और दुर्बलताओं तथा कमियों का ज्ञान भी होता ही है। डायरी के अभाव में, हो सकता है कि व्यक्ति को इन सब पर विचार करने का समय न मिले। किन्तु डायरी रखने से यह जरूरी हो जाता है कि डायरी भरने वाला (भरते समय) अपने प्रत्येक कार्य पर पुनः चिन्तन करे और यदि कहीं गुण-दोष दिखलाई पड़ें, उनको भी चित्त के प्रकाश में ले आवे। इसके अतिरिक्त भी डायरी रखने से पुरानी बातों की तिथि या उनके स्थान का वर्णन करने में सरलता होती है, जैसे वह घटना कल ही घटी हो। इससे

स्मरण-शक्ति का विकास भी होता है और साधारण ज्ञान बढ़ता है। जो व्यक्ति सफलतापूर्वक डायरी भर सकता है, उसकी स्मरण-शक्ति अच्छी है, यह जानना चाहिए और जो व्यक्ति सफलतापूर्वक डायरी भर सकता है, उसकी विवेक-शक्ति विकसित हो चुकी है, ऐसा भी जानना चाहिए।

मन के अन्दर एक चोर बैठा हुआ है, जिसने आत्मज्ञान के मोती को चुरा कर छिपा दिया है। वह तुम्हें अत्यन्त सन्ताप और कष्ट देता है। पद-पद पर भ्रम में डालता जा रहा है। वह चोर मन में ही है। यदि उसके प्रति सावधान नहीं रहोगे तो वह तुम्हें अच्छी तरह लूट लेगा। उसके निराकरण और अस्तित्वविच्छेद का एक साधन है, वह है डायरी रखना। शायद तुम मुझ पर हँसोगे कि कैसी बेढंगी बात की जा रही है कि मन जैसे तत्त्व पर विजय पाने के लिए कोरे कागज को काला करना। किन्तु इतना निवेदन करता हूँ कि कुछ समय तक इसको आजमा लो, यदि लाभ मालूम न हो तो मुझे अवश्य लिखना।

अरे भाई, मजेदार जिन्दगी का क्या मतलब है। मजेदार जिन्दगी तो सुअर और कुत्ते की भी है। किन्तु जिन्दगी महान् होनी चाहिए, जो महामानव की हो सकती है। महान् व्यक्ति महामानव होता है। इसलिए जो भूल आज तक कर रहे थे, उसको भूल ही जाओ। प्रण कर लो कि कम से कम आज से जीवन के इस महान् कार्य की पूर्ति कर अपने उत्तरदायित्व का पालन करोगे।

यह ठीक है कि माता-पिता ने तुमको यह देह प्रदान की है, इसका पालन-पोषण भी किया है, किन्तु डायरी का महत्व

माता-पिता से अधिक है। यह इसलिए कि डायरी तुमको नित्यमुक्ति के मार्ग पर ले जाती है और सच्चे आनन्द का द्वार तुम्हारे लिए खोलती है। डायरी को गुरु कहा जाय तो एकदम सत्य होगा। डायरी से आँखें खुलती हैं, सान्त्वना, सन्तोष और शान्ति की प्राप्ति होती है। प्रति-सप्ताह अपनी डायरी के पन्नों को लौट कर देखो, अनुभव करोगे कि तुम अपने घर के अन्धकार को समझ पा रहे हो (जिसका अभी तक तुमको पता न था)। यदि अपने प्रतिक्षण की डायरी लिख सको तो जल्दी उन्नति कर सकोगे। मैं तो उस व्यक्ति को धन्यभाग्य समझता हूँ जो अपनी दैनन्दिनी रखता है। ऐसा व्यक्ति चोर को पकड़ चुका है; उसके हाथों में दियासलाई और बत्ती आ गई है। (प्रकाश के लिए)।

यदि डायरी रखने का अभ्यास होता गया तो तुम अपनी गलतियों को सुधार सकते हो। गलतियों को सुधारने से साधना का प्रधान अङ्ग सुन्दर बनता जाता है। डायरी के समान दूसरा उपयोगी गुरु सांसारिकों के लिए नहीं है। डायरी, यदि निरन्तर रखी गई तो तुमको समय का मूल्य बतलाएगी।

महीने के अन्त में जप, स्वाध्याय, आसन, प्राणायाम, निद्रा आदि का अलग-अलग योग निकालो तथा पिछले महीने के योग से उसका मिलान करो। तुरन्त पता चल जायगा कि उन्नति कर रहे हो या अवनति के मार्ग पर जा रहे हो। इतना मालूम होते ही कि तुम पिछले महीने की अपेक्षा अवनति ही कर रहे हो, मन में ग्लानि होगी. मन निश्चय करेगा कि अब के महीने में जरूर इस कमी की पूर्ति कर दी जायगी। इस निश्चय का क्या फल होगा, कहने की आवश्यकता नहीं। यदि तुम डायरी

भरते समय सावधानी से कुछ भूल न करो तो डायरी रखने का मतलब सिद्ध होता जायगा। डायरी का कायल एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाता। वह समय की कीमत पहचानता है और उसकी तेजी को भी।

डायरी में अपने दिन भर के कार्यों का ब्योरा लिखते समय, झूठ बात नहीं लिखनी चाहिए। डायरी को अपने लाभ के लिए ही लिखा जाता है, यदि झूठी बातें भी डायरी में लिखी गईं तो डायरी भरने का क्या लाभ? आध्यात्मिक पथ पर चलने वाले साधक के लिए डायरी, यदि ठीक-ठीक भरी गई तो जादू का काम करती है। अपने दोषों को स्वीकार कर लेना चाहिए, उन्हें पहचान लेना चाहिए और आइन्दा न करने का निश्चय भी अवश्य करना चाहिए। डायरी में कुछ लिखना भी नहीं भूलना चाहिए। हर सप्ताह पिछले सप्ताह के नोटों को देख जाओ और अपनी प्रगति को आँको। प्रति-सप्ताह नहीं, तो प्रति-मास अवश्य पिछले नोटों को दुहराना चाहिए। इससे तुमको पता चलेगा कि तुम उन्नति कर रहे हो या नहीं, साथ-साथ मन को प्रेरणा मिलेगी, साहस मिलेगा और कहीं पर गलती हुई तो सुधार का आदेश भी मिलेगा।

डायरी में अपनी गलतियों, दोषों और दुर्गुणों का ब्योरा लिखना बिल्कुल न भूलो। शर्माने की कोई बात नहीं। विफलताओं को डायरी में अङ्कित कर दिया गया तो हानि के बजाय लाभ ही होता है। डायरी अपने विकास के लिए है। डायरी में जो कुछ लिखा जाता है, उसका मन पर बड़ा वैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। यदि तुम अपनी विफलताओं और दोषों को डायरी में नोट करना भूलोगे तो मन पर भी उसका प्रभाव

पड़ेगा और यदि डायरी में अपने दुर्गुणों के ब्योरे को अङ्कित कर दिया गया तो मन अवश्य चेतने का प्रयत्न करेगा।

आज तक कितने ही साल तुमने व्यर्थ गँवा दिये। गपशप, लम्बी-चौड़ी बातें और व्यर्थ के प्रपञ्चों में बहुमूल्य आयु गँवा दी। अब तो जरा उठो और साधना आरम्भ कर दो। आज तक इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए जो कुछ दुःख तुमने मोल लिये, उनको आज यहीं छोड़ कर आगे चलो। कल को नहीं, आज ही और अभी साधना आरम्भ कर दो। जिस कल की प्रतीक्षा की जा रही है, वह कल कभी नहीं आने का। यह सिद्धान्त याद रखना चाहिए। सच्चे दिल से साधना आरम्भ कर दो। परमात्मा सदा तुम्हारी सहायता के लिए तैयार है।

सांसारिक वृत्तिपरायण लोगों का संग नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार के लोगों के साथ मिलोगे, उन्हीं के चरित्र का तुम पर प्रतिविम्ब पड़ेगा। सन्तों का संग सद्गुण और दुर्जनों का संग दुर्गुणों का देने वाला है। संसार में रहो, कोई हानि नहीं, किन्तु सांसारिकता से बाहर ही रहो। जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल से अप्रभावित ही रहता है, उसी प्रकार इस प्रपञ्च में रहते हुए प्रापञ्चिक वृत्ति में न रमो। जीवन का प्रत्येक क्षण आत्म-साधना के लिए उपयुक्त किया जाना चाहिए। चाहे तुम अपने घर में रहो या सड़क पर, कार्यालय में रहो या स्नागार में—सर्वत्र और सब समय साधना करते रहना चाहिए।

जो कुछ तुम काम करते हो या कर रहे हो, भगवान् के अर्पण करते रहो, अर्थात् प्रत्येक कार्य ईश्वरार्पण-बुद्धि से ही

किया जाना चाहिए। कार्य करते समय वृत्ति स्वार्थमयी नहीं रहनी चाहिए। धीरे-धीरे जब मन निर्मल और पवित्रतर होता जायगा, तुम निष्काम कर्म के महत्व को समझ सकोगे। जब तक मन स्वार्थ और भोग-लिप्सा में फँसा हुआ है, तब तक निष्काम कर्मयोग के महत्व को जानना सम्भव नहीं।

शिवरात्रि, जन्माष्टमी आदि अवसरों पर रात को जागरण करना चाहिए। लोग रात भर ड्रामा, सिनेमा और मजलिसों में जागा करते हैं, पर साधना के दृष्टिकोण से जागना उनके लिए सम्भव नहीं। अवश्य साल में तीन-चार बार जागरण करना चाहिए। सारी रात भर जाग कर साधना करनी चाहिए, जप, कीर्त्तन, ध्यान, स्वाध्याय, पूजा करनी चाहिए।

बुरी आदतों को छोड़ देना चाहिए। धूम्रपान करना, चाय पीना, पान चबाना, दिन में सोना, उपन्यास पढ़ना, सिनेमा देखने जाना, अश्लील और अभद्र वाक्य बोलना, अधिक बातें करना, जुआ खेलना, ताश खेलना, मद्यपान करना, समाचार पत्र पढ़ना, चुगली खाना, शिकायत करना, निन्दा करना, कोकेन, अफीम आदि मादक द्रव्यों का सेवन करना—यह सब साधारण बुरी आदतें हैं, जिनका निराकरण अवश्य किया जाना चाहिए।

रोगियों की सेवा, समाज की सेवा अथवा अन्य किसी प्रकार की सेवा, अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार, आत्म-भाव या नारायण-भाव से की जानी चाहिए। यह निष्काम कर्मयोग है।

अगले पृष्ठों में डायरी का नमूना दिया जा रहा है, वैसे ही डायरी प्रतिमास भर कर मेरे पास भेजो या स्वयं ही समालोचना करते रहो। जो-जो प्रश्न उनमें पूछे गये हैं उनका जवाब तरतीबवार सामने के खानों में भरते जाओ। मनुष्य की आदत सदा छिछोरी रहती है, प्रपञ्च में उसे बड़ा आनन्द आता है, उसे बदलने के लिए साधना की आवश्यकता है। प्रयत्न दरकार है। इन आठ प्रश्नों का उत्तर बड़ी सावधानी से समझ कर लिखना चाहिए।

(१) कौन-कौन से आसन किये ?
(२) किस प्रकार का ध्यान किया ?
(३) स्वाध्याय के लिए कौन-सी पुस्तक है ?
(४) क्या भोजन करते हो ?
(५) क्या तुम्हारे पास जप माला है ?
(६) क्या ध्यान के लिए अलग कमरे की व्यवस्था है ?
(७) ध्यान के कमरे को किस प्रकार रखते हो ?
(८) क्या गीता का स्वाध्याय अर्थ-सहित करते हो ?

इनको सदा मन में रखना चाहिए और अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। डायरी में क्रोध, असत्य-भाषण, आवेश, द्वेष, हिंसा आदि दुर्गुणों का स्पष्ट दिग्दर्शन करना चाहिए।

यह आध्यात्मिक दैनन्दिनी है। प्रश्नों का सच्चा उत्तर भरना चाहिए। उत्तर साफ-साफ भरा जाना चाहिए। सोच-समझ कर प्रश्नों का उत्तर लिखो। इसी प्रकार प्रतिमास डायरी भर सकते हो।

आध्यात्मिक दैनन्दिनी (दैनिकी)

क्रम संख्या	प्रश्नावलि	महीना							योग
		१	२	३	४	५	६	७	
१.	कितने घण्टे सोये ?								
२.	सोकर कब उठे ?								
३.	कितनी माला का जप किया ?								
४.	नामस्मरण कितनी देर ?								
५.	कितने प्राणायाम किये ?								
६.	आसन कितनी देर किये ?								
७.	एक आसन में कितनी देर तक ध्यान किया ?								
८.	क्या ध्यान में नियमित रहे ?								
९.	कितने श्लोक गीता के पढ़े या याद किये ?								
१०.	सत्सङ्ग कितनी देर तक किया ?								
११.	कितनी देर तक मौन रहे ?								
१२.	कितनी देर तक निष्काम सेवा की ?								
१३.	कितना दान किया ?								
१४.	कितनी बार मन्त्र लिखा ?								
१५.	कितनी देर व्यायाम किया ?								

१६. कितनी बार असत्य बोला और क्या आत्म-दण्ड?

१७. कितनी बार क्रोध आया, और क्या आत्म-दण्ड ?

१८. कितनी देर तक व्यर्थ संग किया ?

१९. कितनी बार ब्रह्मचर्य खण्डित हुआ ?

२०. कितनी देर धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय किया ?

२१. कितनी बार बुरी आदतों को दबाने में असफल रहे और क्या आत्मदण्ड ?

२२. कितनी देर इष्टदेवता पर ध्यान किया ?

२३. कौन से गुण का विकास कर रहे हो ?

२४. कौन सी बुरी आदत को हटाने का प्रयत्न कर रहे हो ?

२५. कौन सी इन्द्रिय सता रही है ?

२६. कितने दिन व्रत और जागरण रखे ?

२७. कब सोये ?

नाम..............................

पता..............................

....

हस्ताक्षर

आध्यात्मिक दैनन्दिनी के प्रश्नों का स्पष्टीकरण

(१) कितने घण्टे सोये ?

आधा जीवन तो सोने में ही व्यतीत हो जाया करता है। अतः जो साधक आध्यात्मिक साधना करना चाहते हैं, उनको चाहिए कि सोने के घण्टों में भी कमी कर दें। इस कार्य को धीरे-धीरे करना चाहिए। सोने से जो विश्राम मिलता है, उसकी पूर्ति ध्यान द्वारा हो जाती है। पहले तीन महीनों तक सोने के समय में आधे घण्टे की कमी करो। दस बजे सोने पर पाँच बजे जाग जाना चाहिए। पाँच घण्टे की नींद आरोग्य की दृष्टि से भी हितकर है। कमी की पूर्ति के लिए दिन के समय सोना आरोग्य की दृष्टि से हानिकारक है। अभिप्राय यह कि कुछ ही महीनों में निद्रा पर विजय पा लेनी चाहिए। लक्ष्मण चौदह साल तक (वनवास में) नहीं सोये थे। अर्जुन ने भी निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली थी। जो लोग निद्रा के अभाव की पूर्ति करना चाहते हैं, वे निर्विकल्प समाधि का अभ्यास कर लें तो अभाव की पूर्ति हो जाती है।

(२) सोकर कब उठे ?

सोकर चार बजे अवश्य उठ जाना चाहिए। प्रातःकाल का समय जप, ध्यान और आत्म-विचार तथा व्यायाम के लिए सुविधाजनक और युक्त है। इसे ब्राह्ममुहूर्त्त के नाम से भी जाना जाता है। इस समय ध्यान का अभ्यास करने से सात्त्विक वृत्ति का स्वयं उदय हो जाता है, अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। वातावरण भी इस समय शान्त रहता है, अतः विद्यार्थियों के लिए अध्ययन करने का यही समय है। इस समय मन खाली

रहता है, जिस प्रकार के संस्कार भरना चाहो, भर सकते हो। शुद्ध विचारों को मन में भरने के लिए यही समय उपयुक्त है। इस समय मन जो कुछ ग्रहण करता है, वह उसकी पक्की वस्तु हो जाती है। इस समय ध्यान करने से जो लाभ होता है, वह दिन के ध्यान से अधिक प्रभावशाली है। अध्ययन किया जाय तो वह स्मृति-पटल पर अङ्कित हो जाता है। चार बजे उठ जाने से स्वप्नदोष का निवारण भी किया जाता है; क्योंकि स्वप्नदोष अक्सर इसी समय हुआ करते हैं। अनुभव ने सिद्ध किया है कि चार बजे उठने से स्वप्नदोष से मुक्ति मिली है।

अतः दिन चढ़े तक सोना छोड़ दीजिए। यह अमूल्य समय है, इसका उपयोग करना सीखिए। दिन भर के कामों को सफल बनाने के लिए इसी समय मन को शक्ति प्राप्त होगी।

(३) कितनी माला का जप किया?

भगवान् के नाम के किसी मन्त्र का सतत ध्यानपूर्वक उच्चारण जप माना जाता है। कलियुग में जब जनसाधारण हठयोग के अभ्यास के लिए योग्य नहीं है, भगवान् का जप ही सद्य-सिद्धि को देने वाला है। महाराष्ट्र में जन्म ले कर सन्त तुकाराम ने, बङ्गाल में जन्म ले कर परमहंस श्री रामकृष्ण ने तथा प्राचीन काल के सन्त महात्मा ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि आदि ने भगवान् के नामों को जप कर ही जीवन-साधना की सिद्धि प्राप्त की तथा आत्मप्रतिष्ठा को प्राप्त हुए।

जप करने से साधक को तुरन्त फल प्राप्त होता है, भले ही उसे मन्त्रार्थ का ज्ञान न भी हो। इतना जरूर है कि मन्त्रार्थ न जानने वाले साधक को सिद्धि प्राप्त करने में अधिक समय

लग जाता है। भगवन्नाम के जप में जो शक्ति है, वह अचिन्त्य और अपूर्व शक्तिसम्पन्न है, उसका आख्यान पूर्णतः नहीं किया जा सकता। यदि एकाग्र चित्त हो कर जप किया जाय तो पारमात्मिक चेतना के द्वार जल्दी खुलते हैं।

जप के लिए माला होनी चाहिए। माला यहाँ पर संस्मरण का कार्य करती है। अविद्या के कारण मनुष्य भगवन्नाम को भूल जाता है, माला उसे पुनः पुनः याद दिलाती है। माला को रात के समय अपने सिरहाने रखना चाहिए। ज्यों ही नींद से उठोगे, तब तुरन्त भगवन्नाम का स्मरण करायेगी। मन को अन्तर्मुख करने के लिए माला अमोघ अस्त्र है। मन-रूपी घोड़े को भगवान् की ओर फेरने के लिये यह चाबुक का काम करती है। जप के लिए १०८ दानों की (मनकों की) रुद्राक्ष माला या तुलसी माला का उपयोग किया जा सकता है।

जप साधन के आरम्भ काल में मन्त्रोच्चारण उच्च स्वर से करना चाहिए, अभ्यास हो जाने पर फुसफुसाते हुए और अनन्तर मन ही मन में। मन को नये-नये रूप चाहिए, अतः तीनों प्रकार से जप करना चाहिए। इससे मन को थकावट का अनुभव करने का अवसर नहीं मिलता। यदि मन ही मन जप करते रहोगे तो यह कुछ ही देर में थकावट का अनुभव करने लगेगा। इसलिए तीनों प्रकार से जप करते रहना चाहिए।

जप के तीनों प्रकारों के परिभाषिक (शास्त्रीय) नाम क्रमशः बैखरी (जोर से), उपांशु (फुसफुसाते हुए) तथा मानसिक (मन ही मन में) हैं। भावपूर्ण जप की तो कही ही क्या जाय, भावहीन मन से जप करने पर भी चित्त-शुद्धि होती

है, मन पवित्र होता है और प्रतिभा प्रखर होती है। भाव मन में हो या नहीं, पर जप करते चलना चाहिए; अभ्यास होते-होते भाव अपने आप मन में उतर आयेगा।

यह कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति न जानते हुए भी प्रतिक्षण साँस-साँस के साथ 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) मन्त्र का जप कर रहा है। २४ घण्टों में यह जप न जानते हुए २१,६०० बार कर लिया जाता है। हमारा कर्त्तव्य है कि साँस-साँस के साथ पूर्ण रूप से जानते हुए, भावपूर्वक जप करें। इस प्रकार मन्त्र-शक्ति प्रभावशालिनी हो जायगी।

कहा जा चुका है कि एक माला में १०८ मनके होते हैं। तदनुसार अपने इष्ट-मन्त्र का जप निश्चित संख्या (माला) में करना चाहिए। पहिले संख्या कम ही रक्खो, धीरे-धीरे बढ़ाते चलो। जिस प्रकार तुम खाने, पीने, सोने में नियमित रहना चाहते हो, उसी प्रकार जप-साधन में भी नियम का पालन अवश्य करना चाहिए। आज-कल कहते-कहते वर्षों बीत गये हैं, न जाने मौत कब कण्ठ पकड़ ले। अच्छा तो यही है कि जब तक साँस चल रही है, जप करते जायें, कल पर कुछ न छोड़ें। पहिले पहल अभ्यास डालने के लिए जप का निश्चित स्थान नियत किया जाना चाहिए। अभ्यास हो गया तो स्नानागार में भी स्नान करते-करते जप किया जा सकता है। स्त्रियाँ, मेरा विश्वास है, मासिक धर्म के समय भी जप कर सकती हैं। जो लोग निष्काम भाव से (विशेष फल की आशा न रख कर) जप-साधन कर रहे हैं; उन लोगों के लिए जप करने के विषय में कोई कठोर नियम नहीं है, कोई बन्धन नहीं है, अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए जो जप-साधन में लगे हुए हैं, वे किसी भी

अवस्था में जप कर सकते हैं। हाँ, जो लोग सकाम भाव से जप-अनुष्ठानपरायण हैं, अर्थात् जो लोग धन, पुत्र, स्वर्गादि के लिए जप कर रहे हैं, उनके लिए विशेष नियम निर्धारित किये गये हैं। भगवद्कृपा की प्राप्ति के लिए जप-साधन में न तो जाति का सवाल आता है और न समय और स्थान का। हर समय जप करते रहना चाहिए; यही एक सिद्धान्त अनिवार्य है।

(४) नामस्मरण कितनी देर ?

नामस्मरण मुक्ति का हेतुभूत रसायन है जो पापपूर्ण कठोर व्यक्तित्व को भी कोमल और परिष्कृत कर देता है। अविश्वासी, नास्तिक और भौतिकवादी भी नामस्मरण से शुद्ध हो जाते हैं। भाव और प्रेम से परमात्मा के नामों को गाना नामस्मरण कहलाता है। संकीर्त्तन की शक्ति की पूछते हो? पर्वतों से पूछो, सागरों से पूछो, अनन्त प्रकृति से पूछो—इतिहास का इतिहास लिख सकेंगे यह सब! क्योंकि संकीर्त्तन की शक्ति से पर्वत चलायमान् हुए, सागर आन्दोलित हुए तथा प्रकृति तक को स्तब्ध होना पड़ा। जहाँ बुद्धिवाद का प्रवेश नहीं, संकीर्त्तन की महिमा वहाँ भी गायी जाती है। संकीर्त्तन की शक्ति के लिए कुछ भी कार्य असम्भव नहीं। क्या भूल गए हो कि नामस्मरण की शक्ति ने ही तो मीरा के जहर के प्याले को अमृत तथा सर्प को शालिग्राम बना दिया था; काँटों की सेज को फूल के रूप में परिणत कर दिया था। क्या प्रह्लाद की कथा याद नहीं, संकीर्त्तन की शक्ति ने ही आग को शीतल बरफ बना दिया था।

अज्ञान की तीन ग्रन्थियाँ हैं, संकीर्त्तन उनको तोड़ देता है। संकीर्त्तन करते रहने से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं, प्राणमय कोष परिष्कृत होते हैं और कुण्डलिनी शक्ति जागती हुई भाव समाधि का अवतरण करती है। संकीर्त्तन चित्त को एकाग्र करता, मन को पवित्र बनाता, वासनाओं का निराकरण करता, तृष्णा, कामना, सङ्कल्प और दोषों से भक्त को रहित कर देता है। मल, विक्षेप और आवरण तीन दोष हैं, संकीर्त्तन से इन तीनों का परिष्कार होता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि-भौतिक तीन ताप हैं, संकीर्त्तन तीनों को समूल मिटा देता है। मनोनाश कर, अन्त में संकीर्त्तन, निर्विचार-अवस्था का उदय करता है।

नामस्मरण करते रहने से कालान्तर में भक्त सर्वत्र भगवान् की महिमा के ही दर्शन करता है, सर्वत्र भगवान् को ही विराजमान् देखता है और सभी जगहों, भूतों और कालों में भगवान्—भगवद्-चेतना को ही परिव्याप्त अनुभूत करता है। कितना शक्तिशाली है भगवान् का नाम! जब कोई इस नाम को गाता है, अथवा इस नाम को कानों से सुनता है, वह अन-जाने में भी भौतिक चेतना से ऊपर उठने लगता है। वह देहाध्यास से विमुक्त हो कर भगवान् के साथ रमने लगता है। दिव्य आनन्द और दिव्य प्रेम के रस का पान करता है। इस कलियुग में संकीर्त्तन से परमात्मा के दर्शन मिलते हैं।

(५) कितने प्राणायाम किये ?

प्राणों पर अनुशासन स्थापित करना प्राणायाम है। प्राण और अपान के संयोग को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम के अभ्यास से प्राण-अपान संयुक्त हो कर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश

करते हैं। हिन्दू धर्म में प्राणायाम का विशेष स्थान है। प्राण का सम्बन्ध मन से है, मन के माध्यम से सङ्कल्प के साथ और सङ्कल्प के माध्यम से जीवात्मा के साथ और तदनन्तर परमात्मा के साथ। यदि तुम प्राण की तरङ्गों को नियन्त्रित करना जान लो, जो मन के माध्यम से कार्यरत हो रही हैं, तो प्राणों पर नियन्त्रण स्थापित करने में सफल हो सकोगे। श्वास-क्रिया पर नियन्त्रण करने पर, बड़ी आसानी से शरीर के प्रत्येक भाग में प्रवाहित नाड़ियों को नियन्त्रित किया जा सकता है। प्राण पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेने पर शरीर, मन और आत्मा पर अनुशासन किया जा सकता है। अतः प्राणायाम की साधना पूर्ण हो जाने पर साधक शरीर और मन पर काबू पा जाता है।

पद्मासन अथवा सिद्धासन पर बैठ कर दाहिने अँगूठे से दाहिना नासिका-पुट बन्द कर लेना चाहिए। बायें नासिका-पुट से वायु अन्दर खींचनी चाहिए, इसे पूरक कहा जाता है। पूरक कर लेने के बाद बायें नासिका-पुट को भी दाहिने हाथ की अनामिका तथा कनिष्ठिका (चौथी और पाँचवीं अङ्गुली) से बन्द कर साँस, जितनी देर तक आसानी से हो सके, रोको। इसे कुम्भक कहा जाता है। अब दाहिने अँगूठे को बायें नासिका-पुट से हटा कर साँस बाहर निकाल दो। यह रेचक है। अब की बार बायें नासिका-पुट के बजाय दाहिने से साँस अन्दर खींचो और बायें से बाहर निकाल दो। आरम्भ में केवल पाँच बार दुहराओ। धीरे-धीरे बीस बार तक दुहराओ।

पूरक लेते समय यह धारणा करो कि दया, प्रेम, करुणा, क्षमा, शान्ति, आनन्द आदि दैवी सम्पत्तियाँ प्रत्येक साँस के

साथ प्रवेश कर रही हैं। रेचक करते समय यह कल्पना करो कि सभी आसुरिक वृत्ति बाहर जा रही हैं। आरम्भ में तो केवल पूरक और रेचक ही करना चाहिए, कुम्भक नहीं। कुछ काल तक अभ्यास हो जाने पर कुम्भक आरम्भ किया जा सकता है। एक महीने के अभ्यास के बाद कुम्भक आरम्भ किया जा सकता है। प्राणायाम से नाड़ी-शुद्धि होती है, ध्यान में सहायता मिलती है, साथ-साथ पाचन-शक्ति भी तीव्र हो जाती है। ब्रह्मचर्य की रक्षा तो होती ही है।

(६) आसन कितनी देर किये ?

योगाभ्यासी के लिए आसन और प्राणायाम महत्वपूर्ण हैं। आसनों के अभ्यास से हृदय, फुप्फुस और मस्तिष्क सक्रिय होता है। पाचन और रक्त-सञ्चरण अच्छी तरह से होता है। आसनों के अभ्यास से सब प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। यदि आसनों का अभ्यास नियमित और सुसञ्चालित रखा गया तो शक्ति, स्वास्थ्य और ओज का परिवर्द्धन होता है।

अष्टाङ्ग योग के अनुसार आसन तीसरा अङ्ग है। पद्मासन और सिद्धासन ध्यान के लिए उपयुक्त हैं। एक ही आसन पर देर तक बैठने का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास एक से तीन घण्टे तक किया जा सकता है। शीर्षासन, सर्वाङ्गासन तथा अन्य आसन सुन्दर स्वास्थ्य की दृष्टि से किये जाते हैं। इनसे व्याधियों का उपशमन किया जाता है। इसके अलावा आसनों के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। आसनों का अभ्यास खाली पेट में किया जाना चाहिए। प्रातः काल और सायंकाल आसनों के लिए उत्तम समय है। आसनों

का अभ्यास शुद्धवायुपूर्ण कमरे में, निर्वात नदी के तीर पर, घर के बरामदे में किया जा सकता है। आसनों के अभ्यास के साथ-साथ इष्ट-मन्त्र का जप करते रहना चाहिए।

चालीस से ऊपर की आयु वाले महाशय तीन घण्टे तक पद्मासन में नहीं बैठ सकते। उनकी अस्थियाँ और मांसपेशियाँ सख्त हो जाती हैं। अतः जब थकावट लग जाय तो आसन खोल कर दीवाल के सहारे बैठ जाना चाहिए। अक्सर देखा गया है कि जप या ध्यान करते समय निद्रा आने लगती है, अतः पद्मासन में ही जप या ध्यान का अभ्यास किया जाना चाहिए। नवयुवकों को पद्मासन में देर तक बैठने का अभ्यास करना चाहिए। साधारणतः कह दिया जाता है कि उनको ब्रह्मचर्य में सहायता मिलेगी। स्वयं अभ्यास कर देख लें कि यह बात सच है या नहीं।

(७) एक आसन में कितनी देर तक ध्यान किया ?

पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन में बैठना चाहिए। प्रातः काल का समय होना चाहिए लगभग ४ से ६ बजे के बीच। ध्यान के कमरे में आसन बिछा कर जप और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। रात को सोने से पहले भी ध्यान करना चाहिए।

अपने इष्टदेवता के चित्र के सम्मुख बैठ जाओ और एकाग्र चित्त से चित्र की ओर निहारते रहो। मन ही मन स्तोत्रों का पाठ भी करते जाओ। अब आँखें, कुछ देर बाद, बन्द कर लो और मन में उस चित्र की कल्पना करो। साथ-साथ जप चलते रहना चाहिए। आरम्भ में आध घण्टे तक अभ्यास करना चाहिए और धीरे-धीरे कर के अभ्यास तीन घण्टे तक बढ़ा

देना चाहिए। ध्यान करते समय शरीर को बिल्कुल नहीं हिलाना चाहिए। अपने मन में सतत परमात्मा का ही एक विचार रखना चाहिए।

दोनों आँखों को बन्द किये हुए, त्रिकुटी पर ध्यान करो अथवा नासिकाग्र भाग पर।

जब मन ध्यान के समय इधर-उधर भागने लगे तो बलात्कार खींचना नहीं चाहिए, बल्कि उसकी शैतानी को देखते रहना चाहिए और धीरे-धीरे फिर वापस ले आना चाहिए। यदि बलात् खींचने का प्रयत्न करोगे तो थक जाओगे। चञ्चल मन को अपने वश में करने के लिए कुछ समय अवश्य लग जाता है। इस विषय में चिन्तित नहीं होना चाहिए, पर सदा जाग्रत रहना चाहिए। सावधानी से मन के कार्य-कलापों का निरीक्षण करते रहना चाहिए।

(८) क्या ध्यान में नियमित रहे ?

ध्यान में सदा नियमित रहना चाहिए। एक दिन के लिए भी ध्यान का अभ्यास नहीं छूटना चाहिए। नियमितता के साथ-साथ एकरसता भी होनी चाहिए। यह नहीं कि एक दिन तीन घण्टे और दूसरे दिन १५ मिनट और तीसरे दिन जय सीताराम।

ध्यान में नियमित रहने लगोगे तो आसन में बैठते ही ध्यान का अवतरण हो जायगा, अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं रहेगी। सात्त्विक भोजन करना चाहिए। फल और दूध उत्तम आहार है। जब मन को थकावट प्रतीत होने लगे, ध्यान न करो। उसे थोड़ा आराम लेने दो।

आरम्भ में नियम-पालन में बड़ी कठिनता प्रतीत होती है। मन विद्रोह करता है। इन्द्रियाँ उत्पात मचाती हैं; पर लगन में दृढ़ता सभी विघ्न-बाधाओं को दूर करती है।

ध्यान में नियमित हो गये तो समझ लो तुम्हारे अन्दर एक शक्ति जागती जा रही है, जो तुम्हारे प्रत्येक कार्य में सहायक बनेगी, सहयोग देगी।

(६) कितने श्लोक गीता के पढ़े या याद किये ?

स्वाध्याय को क्रिया योग के अन्तर्गत माना जाता है। यह नियम है। स्वाध्याय से हृदय तो शुद्ध होता ही है, विचार भी पवित्र तथा बुद्धि प्रखर होती है। स्वाध्याय के लिए गीता अद्-भुत ग्रन्थ है। योग का सारा सार गीता में भरा पड़ा है। वेद के सभी तत्त्व गीता में ग्रथित हैं। सुविधानुसार ३० मिनट से ले कर तीन घण्टे तक गीता का स्वाध्याय कर सकते हो।

गीता में सदाचार के नियमों का सविस्तार वर्णन दिया गया है। संसार की सभी जाति के लोगों के लिए गीता में कितनी अनुभूतियाँ भरी पड़ी हैं, कही नहीं जा सकतीं। गीता मानव जीवन में सफलता तथा आत्म-दर्शन का मार्ग प्रशस्त करती है।

इसीलिए गीता को स्वाध्याय के लिए चुना गया है। नित्य-प्रति एक अध्याय का पाठ किया जाय तो एक महीने में गीता को दो बार पढ़ लिया जाता है। स्वाध्याय का स्वाध्याय और

ज्ञान का ज्ञान।

(१०) सत्सङ्ग कितनी देर तक किया ?

सत्सङ्ग जीवात्मा को भव-सागर से पार ले जाने वाली किश्ती है। सत्सङ्ग से निःसङ्गत्व की प्राप्ति होती है, जो कालान्तर में निर्मोहत्व को प्राप्त होती हुई निश्चल चित्त को जन्म देती है, जिसका परिवर्त्तन जीवन्मुक्ति में हो जाता है। महात्मा लोगों का सङ्ग करने से बुद्धि सात्त्विक होती है और चरित्र पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। मन में वैराग्य के भाव उदय होते हैं, विषय-भोग की लालसा जाती रहती है।

भागवत में सत्सङ्ग की महिमा का बड़ा ही रोचक वर्णन किया गया है, रामायण और अन्य शास्त्रों में भी सत्सङ्ग को अत्यन्त मान्यता दी है। सत्सङ्ग करने से पुराने क्षुद्र संस्कारों का परिष्करण होता है और आदर्श मनुष्यता का आविर्भाव होने लगता है। सत्सङ्ग करने से मनुष्य का मन आदर्शवाद की ओर प्रेरित होने लगता है। महात्माओं का सत्सङ्ग न मिले तो धर्मग्रन्थों का अध्ययन कर सत्सङ्ग की पूर्ति की जा सकती है। धार्मिक पुस्तकें भी सत्सङ्ग के लिए उत्तम साधन हैं।

(११) कितनी देर तक मौन रहे ?

पिछले पृष्ठों में मौन की महिमा का सविस्तर वर्णन किया गया है। दिन में सुविधानुसार दो घण्टे और प्रति-रविवार को अधिक समय तक मौन धारण करना चाहिए। मौन धारण करते समय जिन नियमों का पालन करना पड़ता है, उनका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

(१२) कितनी देर तक निष्काम सेवा की ?

निष्काम कर्म (सेवा) करने से चित्त शुद्ध होता है (अन्तःकरण पवित्र होता है)। शुद्ध मन में ही तो ज्ञान का अवतरण

होता है और ज्ञान के अवतरण बिना मुक्ति नहीं मिलने की। निष्काम कर्मयोग मानवता के प्रति की गयी सेवा को कहते हैं। सेवा करो, पर अहङ्कार तथा गर्व से विवर्जित रह कर। गीता में सतत कर्म करने का आदेश दिया गया है। गीता का कर्म सकाम नहीं, पूर्णतः निष्काम है। अपने कर्म करते जाना तथा फल की आशा से परिव्रजित ही रहना।

फलाकांक्षा से विवर्जित तथा नित्यप्रति सेवा में लीन साधक सद्य-मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। दिन में कुछ ऐसे काम करो, जिनसे किसी का भला हो और जो सेवा भाव से ही किये गये हों। किसी रोगी के लिए औषधि ला दो। किसी के लिए पथ्य बना दो। किसी के वस्त्र धो दो, किसी को विद्यादान दो, किसी को कुछ सिखला दो तथा जब कभी सेवा का अवसर मिले, उसे न चूको।

(१३) कितना दान किया?

बाहर निकलते समय जेब में कुछ पैसे रख लो। जब कभी कोई भिखारी माँगे, तुरन्त दे दो। हृदय को उदार बनाओ। ऐसा मत कहो कि हमारी आय है ही कितनी, जो सबको दान देते फिरें। अपना फिजूल खर्च कम कर दान दो, अवश्य दो। दान देने से दिल खुलता है, मन का मैल धुलता है, प्रेम का विकास होता है तथा मनुष्य आत्म-ज्ञान का अधिकारी बनता है। उपनिषदों में 'द-द-द' कह कर दान देने का आदेश दिया है। दान केवल पैसों का ही नहीं दिया जाता। वस्त्र दान किया जा सकता है, विद्यादान, अन्नदान, धान्यदान, स्वर्णदान आदि दान के कई भेद हैं। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए और जरूर देना चाहिए। अपनी आय का दसवाँ

भाग दान में अवश्य दो। यदि दान देने में हिचकने लगे तो और क्या कर सकोगे?

(१४) कितनी बार मन्त्र लिखा?

मन्त्र-लेखन के लिए कापी होनी चाहिए। दिन में नियमित समय पर निश्चित संख्या में अपना इष्ट-मन्त्र, जो गुरु ने दिया है, और जिसका आप जप कर रहे हैं, लिखना चाहिए। मन्त्र लिखते समय अक्षर साफ और सुन्दर होने चाहिए। मन्त्र लिखना है तो नाम के लिए कलम नहीं घसीटनी चाहिए। ध्यानपूर्वक और चित्त को एकाग्र कर मन्त्र लिखा जाना चाहिए। मन्त्र लिखते समय न तो किसी ओर देखना चाहिए और न किसी से बातचीत ही करनी चाहिए। मन में अन्य विचारों को नहीं आने देना चाहिए। मन्त्र लिखने के लिए केवल स्याही का ही उपयोग किया जाना चाहिए। पेन्सिल से लिखना नियम-विरुद्ध है। रविवार के दिन अधिक मन्त्र लिखो। मन्त्र-लेखन को लिखित जप भी कहा जाता है। इसका महत्व जप से कई गुना अधिक होता है। पश्चिम के लोग भी लिखित जप करने लग गये हैं।

(१५) कितनी देर व्यायाम किया?

व्यायाम (शारीरिक विकास) का महत्व उतना ही है, जितना मानसिक विकास और सङ्कल्पोन्नति का है। यदि शरीर को उचित अवस्था में नहीं रखा गया तो कोई भी उन्नति या सफलता सम्भव नहीं। सभी सफलताओं का आधार स्वस्थ शरीर है। आरोग्य शरीर में स्वस्थ बुद्धि का निवास रहता है। शरीर परमात्मा का घूमता-घामता मन्दिर है। नित्य-स्नान आदि कर इसे शुद्ध और स्वस्थ रखा जाना चाहिए।

व्यायाम कई प्रकार के होते हैं। अपनी-अपनी रुचि, योग्यता और पसन्द के अनुसार ही अपने लिए किसी व्यायाम विशेष को चुन लेना होगा। जिस व्यक्ति का शरीर अस्वस्थ है, उसे चाहिए कि नित्यप्रति सुबह और शाम भ्रमण के लिए जावे। घूमने के लिए किसी के साथ जाने की अपेक्षा अकेले जाना ही अच्छा है। तभी सर्वत्र परमात्मा की विभूति का अनुभव किया जा सकता है और प्रकृति के साथ तल्लीन रहा जा सकता है। सुबह का घूमना शरीर में नवीनता लाता है।

नित्यप्रति सूर्य-नमस्कार का अभ्यास करना चाहिए। यह व्यायाम प्रत्येक आयु के लोगों के लिए लाभकर है। सूर्य-नमस्कार, आसन, प्राणायाम और व्यायाम का समन्वय है। जो लोग नेत्र-रोग से पीड़ित हैं, वे अवश्य इसका अभ्यास करें। आँखों के अतिरिक्त यकृत, आमाशय, आन्त्रिक मण्डल, वृक्क पर भी इसका आरोग्यकर प्रभाव पड़ता ही है। तैरना, दौड़ना, टेनिस् खेलना, कसरत करना, दण्ड-बैठक लगाना इत्यादि व्यायाम के अनेकों रूप हुआ करते हैं, जिनका समन्वय समय-समय पर अवश्य किया जाना चाहिए।

(१६) कितनी बार असत्य बोला और क्या आत्म-दण्ड ?

श्रुति के वचन हैं कि सत्य बोलना चाहिए। सत्य ही विजयी होता है, असत्य नहीं। जो व्यक्ति सत्यवादी है, वह चिन्ता और सन्ताप से विमुक्त बन कर रहता है। यदि बारह साल तक सत्य बोलने की साधना की जाय तो वाक्सिद्धि प्राप्त हो जाती है। वाक्सिद्धि की प्राप्ति हो जाने पर, वचनों में अद्भुत शक्ति आ जाती है। जो कुछ तुम कहोगे, वह हो

कर रहेगा। सदा सत्य बोलो। सत्य ही परमेश्वर है। हर काम में सत्यवादिता ही सच्चा फल देती है और साधक को पथ-भ्रष्ट नहीं होने देती। नित्यप्रति प्रातःकाल उठते ही सत्य का स्मरण करो और निश्चय करो कि तुम अवश्य सच बोलोगे। यदि असत्य बोलने का अभ्यास है तो प्रत्येक असत्य-भाषण के लिए एक-एक दिन का उपवास (आत्म-दण्ड के रूप में) करो। इससे तुममें चेतना आयेगी और तुम असत्य बोलने से पहले यह याद करने लगोगे कि असत्य नहीं बोलना चाहिए। आत्म-दण्ड का महत्व अत्यन्त वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक है। आत्म-दण्ड द्वारा असत्य-भाषण पर रोक लगायी जा सकती है।

(१७) कितनी बार क्रोध आया और क्या आत्म-दण्ड ?

क्रोध शान्ति का शत्रु है। इसे काम-वासना का ही रूपान्तर कहा जाना चाहिए। जब इच्छातृप्त नहीं होती, मनुष्य को तभी क्रोध आता है। क्रोध के आ जाने पर वह स्मृति और बुद्धि दोनों को खो बैठता है। क्षमा का अभ्यास कर क्रोध पर विजय पायी जानी चाहिए। क्रोध आ जाने पर कुछ शीतल जल पी लेना चाहिए। पिछले पृष्ठों में क्रोध का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था, जिसमें क्रोध को जीतने के उपाय भी बतलाए गए थे। उन्हीं उपायों का सहारा लिया जाना चाहिए। ध्यान के अभ्यास से क्रोध की शक्ति स्वतः ही क्षीण होती जाती है। जिस दिन क्रोध का आना हो, उस दिन तुम्हें अपनी जप-संख्या को आत्म-दण्ड के रूप में बढ़ा देना चाहिए। आत्म-दण्ड के रूप में उपवास भी किया जा सकता है। जिस दिन क्रोध आया हो, उस दिन रात को जागरण करना चाहिए, कीर्तन करते हुए प्रभु से क्षमा माँगनी चाहिए, जिससे कि दूसरी बार तुम उसके शिकार न बनो। अवश्य क्रोध पर विजय पा सकोगे।

(१८) कितनी देर तक व्यर्थ संग किया ?

जिनको तुम मित्र समझते हो, वे तुम्हारे शत्रु हैं। इस दुनियाँ में जितने तुम्हारे मित्र होंगे, स्वार्थी होंगे। निःस्वार्थ मित्र मिलना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। इसलिए सावधान ! तुम्हारे मित्र तुम्हारा अमूल्य समय बातों में नष्ट करने के लिए तुम्हारे पास आते हैं। उनके साथ रह कर तुम सांसारिक बनने लगते हो, नास्तिक भी बन जाते हो। सदा अकेले रहने का अभ्यास डालो। सदा यही विचार करो कि परमात्मा तुम्हारे साथ-साथ है। महात्माओं का सत्संग न मिले तो आत्मा के साथ विचरण करो, जो सदा तुम्हारे साथ रहता है।

(१९) कितनी बार ब्रह्मचर्य खण्डित हुआ ?

मन, कर्म और वचन से काम-वासना विवर्जित रहना ब्रह्मचर्य का पालन करना है। ब्रह्मचर्य का महत्व पुरुषों और स्त्रियों के लिए समान रूप से है। भीष्म, हनुमान, लक्ष्मण, मीराबाई, सुलभा और गार्गी के समान ब्रह्मचारी बनना चाहिए। शङ्कराचार्य ने एक जगह पर लिखा है कि ब्रह्मचर्य (पवित्रता) सब तपस्याओं में श्रेष्ठ तपस्या है। ब्रह्मचारी भगवान् है।

ब्रह्मचर्य धारण करने से अनेकों समस्याओं का हल हो जाता है, जो समस्याएं मनुष्य को दुःखित कर रही थीं तथा जिनके कारण वह चैन की नींद नहीं ले सकता था। ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य, मानसिक शान्ति, सहनशीलता, बहादुरी, स्मृति, शक्ति आदि का विकास होता है। जिसने अपनी वीर्य-शक्ति को अपने वश में कर लिया वह अनेकों चमत्कारों से अपने को सज्जित हुआ पाता है।

जब तक ब्रह्मचर्य का पालन न किया जाय, तब तक न तो आध्यात्मिक उन्नति की सम्भावना है और न लौकिक उन्नति की ही। वीर्य में महान् शक्ति रहती है। इसको ओज में परिणत कर देना चाहिए। जो जीवन में सफल बनना चाहते हैं और आत्म-दर्शन का रहस्य भी खोलना चाहते हैं, वे अवश्य ब्रह्मचर्य धारण करना आरम्भ कर देवें।

(२०) कितनी देर धार्मिक-ग्रन्थों का स्वाध्याय किया ?

रामायण, भागवत, योगवाशिष्ठ, उपनिषद् आदि धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय नियम है। यह क्रियायोग के नाम से जाना जाता है। स्वाध्याय करते समय अपने विचारों को इतना एकाग्र कर लेना चाहिए कि जिस पुस्तक का स्वाध्याय कर रहे हो, उसका चित्र आँखों के के आगे नाचने लगे। स्वाध्याय करने से अनुभव होगा कि चञ्चल मन एक स्थान पर स्थिर रहता है। ईशावास्य उप-निषद् के कुछ मन्त्रों को कण्ठाग्र कर लो। ध्यान आरम्भ करने से पहले उनका उच्चारण किया जा सकता है।

(२१) कितनी बार बुरी आदतों के दबाने में असफल रहे और क्या आत्मदण्ड ?

मनुष्य में अनेकों बुरी आदतें होती हैं। उनका दमन, मानव जीवन में सफल बनने के लिए, अनिवार्य हो जाता है। बहुत लोगों को यही पता नहीं कि उनमें कौन-कौन सी बुरी आदतें हैं। यदि उनको पता चल जाय कि कौन-कौन सी बुरी आदतें उनको सता रही हैं, वे उनके निवारण का प्रयत्न करने लगेंगे। इसलिए जान लेना चाहिए कि कौन-कौन सी बुरी

आदतें अपने में प्रबल हैं। जब दूसरे लोग तुम्हारी बुरी आदतों की ओर इशारा करें तो क्रोधित नहीं होना चाहिए ; बल्कि अहसानमन्द होना चाहिए और उनके उस इशारे का लाभ उठाना चाहिए। बुरी आदतों को छोड़ना कठिन काम नहीं है। केवल यह पता चलना चाहिए कि तुममें अमुक आदत बुरी है और उसका परित्याग ही अच्छा होगा। बुरी आदतों पर विजय पाने के दृष्टिकोण से प्रतिसप्ताह उपवास करना चाहिए। नित्यप्रति जप-संख्या में वृद्धि करनी चाहिए, कभी-कभी नमकरहित भोजन करना चाहिए। आज मैंने अमुक कार्य बुरा किया, उसके लिए शाम का भोजन नहीं करूँगा। इस प्रकार के विचार मन में आने चाहिए और तदनुसार व्यवहार भी करना चाहिए। आत्म-दण्ड का महत्व कितना अधिक और प्रभावशाली है, कहा नहीं जा सकता। आत्म-दण्ड के रूप में जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह अपने को सुधारता ही है।

(२२) कितनी देर इष्ट-देवता पर ध्यान किया ?

जब मन एकाग्र हो जाता है, अस्त-व्यस्तता नहीं रहती, तभी ध्यान (धारणा) का सूत्रपात्र होता है। आरम्भ में मनोनीत वस्तु पर चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए। मन को इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह तुरन्त ध्यानगत हो जाय। आरम्भ में स्थूल पदार्थों पर ही चित्त को एकाग्र करना चाहिए, धीरे-धीरे सूक्ष्म और सूक्ष्मतम पदार्थों पर। धारणा के अभ्यास में नियमित और युक्तियुक्त रहना चाहिए, तभी सफलता की अधिक सम्भावना रहती है।

जब आप नारायण की धारणा कर रहे हैं तो उनका चित्र अपने सामने रखना चाहिए। एकटक दृष्टि से चित्र की ओर निहारना चाहिए, पलक भी नहीं मारना चाहिए। शरीर-विन्यास और शृङ्गार का विश्लेषण करो। धीरे-धीरे चित्र की विश्लेषणा करते जाओ। तीन महीनों तक चित्र के प्रत्येक अङ्ग और प्रत्येक कला की विश्लेषणा करो। मन एकाग्र होता चला जायगा।

धारणा सगुण और निर्गुण—दो प्रकार की होती है। आत्मा के गुणात्मक रूपों जैसे राम, कृष्ण, नारायण आदि रूपों पर चित्त को एकाग्र करना सगुण धारणा के नाम से जाना जाता है। आत्मा के निर्विकार, आनन्द, सत्स्वरूप, चित्स्वरूप आदि गुणों पर चित्त को एकाग्र करना निर्गुण धारणा के नाम से जानना चाहिए।

(२३) कौन से गुण का विकास कर रहे हो?

जिस गुण का अभाव है, उसका विकास पहिले किया जाना चाहिए। तुम्हारे जिस अवगुण की ओर तुम्हारे घर वाले या मित्र इशारा कर रहे हों, उसका निवारण कर, उसके प्रति-पक्षीय गुण का विकास करना चाहिए।

प्रतिमास एक-एक सद्गुण ले लो। उसका विकास करो। कुछ समय तक सत्य का, फिर ब्रह्मचर्य तथा फिर अहिंसा का पालन करो। बहुधा ऐसा होता है कि एक गुण के विकास कर लेने पर अन्य गुण अपने आप ही तुममें आते जाते हैं। इसलिए प्रतिमास आरम्भ में एक सद्गुण का विकास करते रहना चाहिए।

(२४) कौन सी बुरी आदत को हटाने का प्रयत्न कर रहे हो?

पहिले कहा जा चुका है कि मनुष्य में अनेकों बुरी आदतें होती हैं, जिनका निवारण अवश्य करना होता है। किन्तु किस प्रकार उनका निवारण किया जाय ? प्रतिमास एक बुरी आदत को छोड़ने का निश्चय करते जाओ। एक साल में बारह बुरी आदतें तुमसे छूट जायेंगी। ज्यों-ही एक बार बुरी आदतों के छूटने का सिलसिला शुरू हुआ, त्यों ही शेष आदतें भी अपने आप ही बोरिया-बिस्तरा ले कर छूमन्तर होती जायेंगी।

(२५) कौन सी इन्द्रिय सता रही है ?

बहुधा देखा गया है कि समय-समय पर मनुष्य को एक-एक इन्द्रिय सताया करती है; किसी समय रसना तो किसी समय कोई और। इसलिए सदा ध्यान रखना चाहिए कि इस महीने में कौन सी इन्द्रिय प्रबल है। पता चलने पर ही उसका निराकरण किया जा सकता है। किसी को शब्द तो किसी को स्पर्श, इसी प्रकार रूप-रस और गन्धादि गुणात्मक इन्द्रियाँ मनुष्य को आक्रान्त किया करती हैं। यदि व्यक्ति सावधान है तो उसे स्पष्ट उनके व्यापारों का पता चल जायगा। जब तक यह पता नहीं चलता कि कौन सी इन्द्रिय तुमको सता रही है, तब तक उसका निवारण भी कैसे किया जा सकता है ?

(२६) कितने दिन व्रत और जागरण रखे ?

रात को जागरण करना व्रत है और भोजन (आहार) न करना उपवास। आत्म-दण्ड के रूप में तो इनकी विशेषता है ही; साधना के दृष्टिकोण से भी इनका महत्व कुछ कम नहीं है।

उपवास करने से पाचन-शक्ति को आराम मिलता है तथा अवयव श्रम-मुक्त रहते हैं। सप्ताह में एक बार अन्यथा महीने में दो बार उपवास तो अवश्य ही रखना चाहिए। उपवास से शारीरिक विष शान्त होता, आन्तरिक अवयवों को आराम मिलता तथा मन की चञ्चलता दूर हो जाती है।

शक्ति से अधिक उपवास नहीं करना चाहिए। उपवास के साथ-साथ मिताहार का पालन भी करना चाहिए। मिताहार का पालन किया गया तो उपवास से दूना प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उपवास के दिन, यदि अभ्यास न हो तो दूध और फलों का सेवन किया जा सकता है। किन्तु उपवास का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य होना चाहिए। उपवास की आदत हो जाने पर शरीर से रोगों का डेरा-डण्डा हटते जायगा।

मौन-साधना भी व्रत के अन्तर्गत आता है। इस पर पहिले ही कहा जा चुका है।

रात को जागरण करना भी व्रत है। एकादशी, शिवरात्रि, गीता जयन्ती तथा किसी पवित्र दिन में, साल में कम से कम दो-तीन बार जागरण अवश्य करना चाहिए। जागरण करने वाले व्यक्ति के लिए कुछ नियम हैं। वे हैं आहार-सम्बन्धी, मैथुन-सम्बन्धी, आचार-सम्बन्धी। जागरण करने के दिन सात्त्विक और हल्का आहार ही लिया जाना चाहिए, फल और दूध ही लिये जायें तो उत्तम है। जागरण के दिन सहवास नहीं करना चाहिए, ब्रह्मचर्य को खण्डित नहीं करना चाहिए। प्रत्येक आचार जागरण के दिन पवित्र रहें, इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त जागरण के दिनों में जप, ध्यान आदि करते रहना चाहिए, मन को गलत रास्ते पर जाने

से रोकना चाहिए। साल में कम से कम तीन बार जागरण करने पर निद्रा के पूर्ण योग में २४ घण्टों की कमी होती है। इसका मतलब यह होता है कि यह २४ घण्टे अच्छी तरह उपयोग में लाये गये। यदि जीवन भर प्रति-साल २४ घण्टे सोने के बदले साधना के लिए उपयुक्त कर दिये जायें तो जीवन का कितना अच्छा उपयोग हो सकता है। यदि फल को सड़ाने की अपेक्षा पेट में डाल कर उसका सदुपयोग किया जाय तो कितना अच्छा है। निद्रा तो अनेकों जन्मों में ले चुके हैं और लेंगे भी; परन्तु जागरण तो मनुष्य की विशेषता है। उस उत्तर-दायित्व को, जो मनुष्य को प्राप्त हुआ, पालना तो होगा ही।

(२७) कब सोये ?

इस प्रश्न पर पहिले ही प्रकाश डाला जा चुका है। दस बजे से पहिले कभी भी नहीं सोना चाहिए। सोने का निश्चित समय होना चाहिए। यह नहीं कि आज एक बजे रात को सोए तो कल को नौ बजे ही।

सोने से पहिले चाय, काफी आदि कुछ भी न पीयो।

सोने से पहिले जप, ध्यान और प्रार्थना तथा प्रभु-स्मरण करो। रोजाना नियत समय पर सोने की आदत डालोगे तो कभी भी यह शिकायत नहीं रहेगी कि मुझे कल नींद नहीं आयी थी। निद्रा का आविर्भाव अपने हाथों में है। जैसी आदत डालोगे, वैसा ही अभ्यास पड़ जायगा और वैसी ही कामयाबी भी हासिल होगी।

सप्तम प्रयोग

उपसंहार

समय बड़ा मूल्यवान् है

संसार में ऐसे लोग भी हैं जो सारे का सारा जीवन खाने, पीने और सोने के अतिरिक्त ताश खेलने और शराब पीने में बिता देते हैं। बहुत से लोग ऐसे भी हैं, जिनके जीवन में न तो कोई सिद्धान्त है, और न नियम; केवलमात्र समय को बरबाद करना ही उनको मालूम है। मनुष्य की दशा कितनी दयनीय हो चुकी है। लोग धन को होम करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते, साथ-साथ चरित्र और समय की बलि भी देते हैं। आज तत्परिणामस्वरूप मद्यपान, जुआ, वेश्यागमन आदि न जाने कितने सामाजिक दुर्गुण मनुष्य को निगले बैठे हैं। मनुष्य कब चेतेगा और राह पर आयेगा।

कितने अफसोस की बात है; मनुष्य का जन्म किसी कार्य-विशेष के लिए हुआ है। जीवन खाने, पीने, पहनने और सन्तानोत्पादन के लिए नहीं है। जीवन के पीछे परमात्मा का पवित्र विधान है। इस जीवन से परे भी आनन्दमय जीवन है। इसलिए इस जीवन का प्रत्येक क्षण लक्ष्य की ओर अग्रसर होने

में बिताना चाहिए। समय कीमती है—बेशकीमती है। एक बार हाथ से निकल गया तो निकल ही गया। समय बड़ी तेजी से भागा जा रहा है। जब-जब समय की सूचना देने वाली घण्टी बजती है, तब-तब समझ लो कि तुम्हारे जीवन में मृत्यु एक घण्टे को पार कर चुकी है और जीवन का एक घण्टा कम हो चुका है। जब घड़ी घण्टा बदलती है, तब-तब यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि तुम्हारे जीवन के विस्तार में एक कड़ी कम हो चुकी है, जञ्जीर का एक कड़ा निकाल लिया गया है। मृत्यु कितनी तेजी से अपना मार्ग तय करती हुई आ रही है, फिर भी हम जीवन को पानी के मोल बहा रहे हैं। बतलाओ, कब अपनी मञ्जिल पर पहुँचोगे ; जहाँ पहुँच जाने पर मौत तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। सोचो तो सही कि आज कुछ नहीं करोगे तो और कब कर पाओगे। दूसरे क्षण क्या होगा, कौन जानता है। अभी-अभी दम निकल जाय, इसमें सन्देह ही क्या है ?

सबसे बड़े शोक की बात तो यह है कि जीवन का आधा हिस्सा सोने में ही बीत जाता है। दूसरा बड़ा भाग व्याधियों में ही चला जाता है। जो कुछ शेष है, उसको भी खाने, पीने और गप्पें हाँकने में बिता दिया जाता है। बचपन खेल-कूद में बिता दिया। युवावस्था स्त्रियों के पीछे भाग-भाग कर, और जब उम्र बढ़ जाती है, बुढ़ापा अपने दाढ़ फैलाये आ ही जाता है तो परिवार की समस्या से अवकाश नहीं मिलता। बोलो, बोलो तो सही, कब क्या कर सकोगे ? कब ऐसा काम करोगे, जिससे जीवन का मतलब सिद्ध हो, मनुष्य जीवन और पशु जीवन में अन्तर पड़े? थोड़ी देर विचार करो।

डाक्टर साहब अभी-अभी टेलीफोन पर बातें कर रहे थे। टेलीफोन पर बात कर बैठक में आ कर बैठे ही थे कि प्राण निकल गये, मेज़ पर का नाश्ता अछूत पड़ा ही रह गया। एक राजकुमारी अपने पति के साथ उद्यान-भ्रमण के लिए कार में बैठ कर जा रही थी कि रास्ते में दुर्घटना हो गयी, दोनों के प्राण साथ-साथ निकल गये। घर के अन्दर से एक जमींदार निकला, कुर्सी पर आराम करने के लिए आँगन में बैठा था कि बैठा ही रह गया। जल के बुलबुले के समान जीवन में ऐसी घटनाएं नित्यशः देखने में आती हैं। जीवन इतना अनिश्चित है और मौत का आगमन इतना आकस्मिक है कि हवा भी नहीं लगती। बोलो तो सही, हम क्या हैं और क्या कर रहे हैं। जीवन नश्वर है, अनिश्चित है तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम पलायनवादी बनें। एक-एक क्षण की कीमत पहचाननी चाहिए। मि० राक्फेलर और मि० आस्टिन् ने समय की कद्र की। प्रतिदिन दसों लाख पाउण्ड व्याज उन्हें प्राप्त होता था। उनके लिए एक-एक सेकण्ड का मूल्य था। एक घण्टे के अन्दर ही अन्दर वे लाखों और करोड़ों का व्यापार करते थे। समय महासम्पत्ति है। जिस प्रकार व्यवसायी समय की कीमत पहिचानता है और प्रतिक्षण का उपयोग करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक साधक को संन्यास लेने के बाद भी, समय का सदुपयोग करना चाहिए। संन्यास ले कर आराम से बैठ गये और शेष जिन्दगी मजे के साथ बितानी निश्चित कर दी—यह ठीक नहीं है। संन्यासी को भी आलसी नहीं बनना चाहिए। संन्यासी को कर्मठ ही नहीं महाकर्मठ, विचारशील ही नहीं महाविचारशील और निश्चयपरायण ही नहीं महानिश्चयपरायण होना चाहिए। आध्यात्मिक साधक को अपना पूरा समय जप, ध्यान

ग्रात्मचिन्तन, स्वाध्याय ग्रौर सेवा में ही व्यतीत करना चाहिए। बेकार की बातें एक क्षण के लिए भी की जायें तो मन पर बड़ा बुरा प्रभाव डालती हैं। प्रत्येक क्षण परमात्मा की सेवा में व्यतीत होना चाहिए। एक-एक क्षण को बचा कर घण्टों का सदुपयोग किया जा सकता है।

बिहार ग्रौर क्वेटा के भूकम्पों से हमने क्या शिक्षा ग्रहण की है? क्या ग्रब भी हमारे मन में सद्वैराग्य के भाव नहीं जागे हैं? क्या ग्रब भी हमने साधना करने का निश्चय नहीं किया है? क्या ताश खेलने ग्रौर सिनेमा देखने से ही सच्ची शान्ति मिल सकेगी? ग्ररे भाई, जब मौत तुम्हारा गला पकड़ेगी तो कौन तुम्हारी मदद के लिए ग्रायेगा?

समय भाग ही नहीं रहा है, सीमित भी है, उस पर विघ्नों का पहाड़ जीवन के सामने। भाई, ग्रज्ञान की गाँठ को खोल दो; निर्वाण का ग्रानन्द लो। संसार दुःखों से भरा हुग्रा है। इस दुःख से मुक्ति पाने के लिए लगन से साधना ग्रारम्भ कर दो।

जिस तरह दो दिन का मेला लगता है, लोग ग्राते ग्रौर ग्रानन्द ले कर फिर चले जाते हैं, जिस तरह नदी में बुलबुले उठते ग्रौर सागर में तरङ्गों पर तरङ्गे लहराती हैं, उसी प्रकार यह जीवन भी दो दिन का मेला है, सागर की चञ्चल तरङ्गों के समान ही ग्रस्थिर है।

जब तुम ग्राये ग्रकेले थे ग्रौर जब जाग्रोगे, ग्रकेले ही। कोई तुम्हारा साथ नहीं देगा। तुम ग्राये थे नङ्गे ही, जाग्रोगे तो भी नङ्गे ही, एक चिथड़ा भी तुम्हारे साथ नहीं जायेगा।

भजन करो, कीर्तन करो, यही तुम्हारे साथ जायेगा (अवश्य जायेगा)।

समय का सदुपयोग करो तो जीवन में सफलता की प्राप्ति कर सकोगे तथा आत्म-दर्शन के रहस्यों को भी समझ सकोगे। जो कुछ उपदेश अब तक बतलाये जा चुके हैं, उनका अक्षरशः पालन करो, अपने जीवन के अन्दर छिपी हुई शक्ति को प्रकाशित करो।

इन्द्रिय-संयम

इन्द्रिय-निग्रह के लिए दम और प्रत्याहार का अभ्यास अत्यन्त प्रभावशाली है। उपवास, सात्त्विक आहार-विहार, नमक, चीनी, इमली, मिर्च, प्याज, लहसुन, मांस आदि का त्याग रसना (रसनेन्द्रिय) पर निग्रह स्थापित करने में सहायता देता है। ब्रह्मचर्य धारण करने से गुप्त इन्द्रिय पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। मौन धारण करने से वाणी-निग्रह होता है।

राह चलते समय बन्दर की तरह चारों ओर नजर दौड़ाते हुए मत चलो। सदा निम्न दृष्टि कर चलना चाहिए। जब घर में रहते हो, त्राटक का अभ्यास करो। आँखों को एकटक किसी वस्तु पर स्थापित करना त्राटक है। इस अभ्यास से चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह होता है। सिनेमा, ड्रामा, नाच-पार्टी में नहीं जाना चाहिए। सोने के लिए मखमली गद्दों का उपयोग नहीं करना चाहिए। बिस्तरा पर्याप्त और सुखकर, किन्तु विलासी न हो, फूलों और सुगन्धित द्रव्यों का सेवन न करो। जब-जब जो-जो इन्द्रिय काबू से बाहर जा रही हो, उसका ध्यान रखते रहो।

मौका मिलते ही उसे घसीट कर अन्दर ले जाओ। इन्द्रिय पर निग्रह कर लिया जाय तो बड़ी शान्ति मिलती है। सफलता ऐसे ही व्यक्तियों को मिलती है, शान्ति ऐसे ही व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिन्होंने अपनी तमाम इन्द्रियों पर संयम की स्थापना कर ली हो। जब तक इन्द्रिय-दमन नहीं किया गया, तब तक साधना का मतलब ही क्या सिद्ध हुआ ?

कठोपनिषद् में कहा गया है कि स्वयंभू ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्गामी प्रवृत्तिशील बनाया, इसलिए मनुष्य बाहरी विश्व को ही देखता है, आन्तरिक आत्मा को नहीं; परन्तु जो लोग बुद्धिमान् हैं, जिनका निश्चय दृढ़ है और जो आत्मतत्व को प्राप्त करने के अभिलाषी हैं, उनकी आँखें अन्दर की ओर देखने लगती हैं। उनकी वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। वे आत्मचिन्तन करने लगते हैं। बाहरी विश्व को ही सब कुछ न समझ कर आन्तरिक आत्मा की सत्ता पर विश्वास करना और उसको जानना ही अन्तर्मुख वृत्ति है। जब इन्द्रियाँ बाहरी व्यापारों से विमुख हो कर अन्दर की ओर विचारपरायण हो जाती हैं, तभी कहा जाता है कि अन्तर्मुख वृत्ति का उदय हो चुका है।

जब मनुष्य कछुए के समान सब ओर अपनी इन्द्रियों को विषय से विमुख कर अन्दर समेट लेता है, तब स्थितप्रज्ञ बन जाता है।

जब साधक इन्द्रियों को विषयों के भोग से विमुख कर देता है, तब इन्द्रिय-विषय निराहार रह कर निर्जीव हो जाते हैं; किन्तु उनका लेशमात्र अवशिष्ट रहता है। जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है, तभी उस लेश की निवृत्ति हो जाती है।

मनुष्य की सतत साधना के बावजूद भी कभी-कभी इन्द्रियाँ अपनी प्रबलता के कारण उसको घसीट ले जाती हैं। इन्द्रियों का सामना प्रबलता से करना चाहिए।

जिस प्रकार समुद्र में तीव्र बवण्डर जहाज को, जिस दिशा में चाहे ले जा सकता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी साधक को अपनी प्रबलता के कारण जहाँ चाहें ले जा सकती हैं।

साधक में कभी-कभी प्रतिक्रिया की सम्भावना भी रहती है। साधक को इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि वह सावधान नहीं है तो वैराग्य के अभाव में प्रतिक्रिया का होना आरम्भ होता है तथा इन्द्रियाँ फिर से उत्पात मचाने लगती हैं। इस अवस्था में निग्रह बड़ा ही दुष्कर हो जाता है। साधक गिर जाता है।

प्रत्याहार के अभ्यास के लिए वैराग्य और त्याग की सहायता चाहिए। प्रत्याहार में सफलता प्राप्त कर लेने पर एकाग्रता का अवतरण होता है। अधिकांश लोग प्रत्याहार का अभ्यास तो नहीं करते और धारणा आरम्भ कर देते हैं। यही कारण है कि वे सफलता के भागी नहीं बन सकते। प्रत्याहार का बड़ा महत्व है। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों को विषय-भोग की प्राप्ति नहीं होती, उनको निराहार रह कर निर्जीव हो जाना पड़ता है। प्रत्याहार के कारण वे क्षीणाङ्ग हो जाती हैं। कुछ दिनों के अनन्तर यदि वे विषय-भोग के सम्पर्क में आती भी हैं तो उत्तेजित नहीं हो पातीं। जिस प्रकार सर्प के विषदन्त निकाल कर उसको शक्तिहीन कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों के विष को भी निचोड़

लिया जाता है। किन्तु इसके लिए अभ्यासतत्परता होनी चाहिए। दीर्घकाल तक नियमित रूप से अभ्यास करते रहना चाहिए। यह एक-दो दिन या दो-चार महीनों का मसला नहीं। इसके लिए धैर्य की आवश्यकता है। दो-चार महीनों में प्रत्याहार में सफलता नहीं मिली तो इसका अर्थ यह नहीं कि मिलेगी ही नहीं। प्रत्याहार के अभ्यास में वैराग्य और त्याग के साथ-साथ विवेक का सम्पुट भी होना चाहिए।

प्रत्याहार के अभ्यास में सफल हो गये तो शोरगुल वाली जगहों में भी चित्त को एकाग्र कर दिया जा सकता है। प्रत्याहार सम्पन्न साधक ज्यों ही आसन लगाता है, त्यों ही उसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने बाहरी व्यापार बन्द कर देती हैं और वह ध्यानस्थ हो जाता है। बाहरी शब्दों और वातावरण से वह जरा भी प्रभावित होने नहीं पाता। प्रत्याहार से न तो चित्त चञ्चल रहता है और न मानसिक कष्ट ही अनुभूत होते हैं।

वेदान्त के अभ्यासियों के लिए दम की साधना निश्चित की गयी है। यही राजयोगियों का प्रत्याहार-साधन है। दम का अर्थ इन्द्रियों के दमन से है। प्रत्याहार में राजयोगी जिन-जिन नियमों और अनुशासनों का पालन करता है, उन्हीं नियमों और अनुशासनों का पालन वेदान्ती को भी करना होता है, तभी दम की साधना में सफलता मिलती है। दम-साधन में सफलता मिल जाने पर समाधान की वृत्ति का अवतरण होता है।

राजा जनक और शुकदेव की कथा सब को मालूम ही है। शुकदेव की प्रत्याहार की परीक्षा लेने के लिए ही जनक ने यह

रीति निकाली थी। शुकदेव को प्रत्याहार का अच्छा अभ्यास था, अतः वे सफल उतरे।

मौन, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करो, प्रत्याहार में सहायता मिलेगी।

सत्सङ्ग की महिमा : उससे लाभ

श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा था : मुझे योग के साधनों में उतनी प्रीति नहीं, सांख्य-दर्शन में उतना आकर्षण नहीं, वेदाध्ययन में उतना प्रेम नहीं, तपस्या में उतनी श्रद्धा नहीं, त्याग में उतना विश्वास नहीं, अग्निहोत्रों, दान, धर्म, उपवास-व्रत, पूजा-पाठ, मन्त्रोच्चारण, तीर्थ-दर्शन, यम-नियम आदि धार्मिक नैतिक आचारों में उतनी अस्था नहीं, जितनी आस्था, प्रीति और श्रद्धा सज्जनों के संग में है। उद्धव को पूरा ज्ञान देने के अनन्तर भगवान् ने इस रहस्य का उद्‌घाटन किया कि सत्सङ्ग ही महामहिमशालीनता के द्वार को खोलने की कुञ्जी है। इसलिए सत्सङ्ग केवल साधारण धर्म नहीं, साधना है, जिसके सहारे साधक आत्म-दर्शन और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है।

सत्सङ्ग का प्रभाव

हिन्दू शास्त्रों में सत्सङ्ग का प्रभाव ओजस्वी शैली में वर्णित किया गया है। बुद्धिमान्, सन्त, योगी, संन्यासी, महात्मा, सदाचारपरायण, सद्विचारवान् लोगों के साथ रहने को सत्सङ्ग कहते हैं। सत्संग का स्थूल रूप कथा-वार्ता, व्याख्यान सभाओं में जा कर उपन्यास-वक्ताओं का प्रसंग सुनना है। पर सत्सङ्ग

का सही अर्थ है, उपरोक्त लोगों के सम्पर्क में रह कर उनके आचार में अपने को ढालने का प्रयत्न करना। बड़े लोगों में बड़ी शक्ति होती है, उनका दर्जा सबसे बढ़ कर रहता है। गुलाब को किसी पत्थर में रख दो तो उससे भी सुगन्ध निःसृत होने लग जायगी। इत्र को शरीर पर मलो तो मलमूत्रपूरित शरीर भी सुरभि से महँकने लगता है। सत्सङ्ग का भी ऐसा ही प्रभाव है। एक क्षण के लिए भी सन्तों के साथ रहा जाय तो मन का अनेकों जन्मों से सञ्चित मैल धुलने लगता है। जिस तरह आग में पड़ने पर बड़े से बड़ा वस्त्र भी जलने लगता है, बड़ी से बड़ी लकड़ी भी जलने लगती है, जमा हुआ बरफ भी पानी होने लगता है, उसी प्रकार सन्तों के संग में रहने से अनेकों पापों का प्रक्षालन होता जाता है। उनमें बड़ी शक्ति रहती है, जो अपने चारों ओर एक प्रकार के विभिन्न वातावरण की सृष्टि करती है। जो उस वातावरण के सम्पर्क में आता है, वही, नम्र, विनीत, दयालु बनने लगता है। जिस तरह वेश्या के पास जाने से कामुक विचार, दुकान में जाने से खरीद के विचार, सिनेमा जाने से मनोरञ्जन के विचार अपने आप ही आ जाते हैं (क्योंकि वहाँ का वातावरण ही वैसा है), उसी प्रकार सन्तों के ढिग जाने से सन्तत्व के गुण अपने आप ही विचारों में उतरने लगते हैं।

जिस प्रकार एक ही दियासलाई रुई के पर्वतोपम ऊँचे संग्रह को फूँक सकती है, उसी प्रकार एक ही क्षण का किया हुआ सत्सङ्ग मनुष्य के जन्मजन्मातरगत मैल को धो देता है, अनेकों संस्कारों को भस्मसात् कर देता है। भगवान् शङ्कराचार्य ने भी जगह-जगह पर सत्सङ्ग का बखान किया है।

अपने नगर या ग्राम में सत्सङ्ग का अभाव होने से ऐंसी जगहों में जाना चाहिए, जहाँ सन्त लोग रहते हों; जिनके पास रहने से पवित्र विचारशील बनने की प्रेरणा मिल सके। हरिद्वार, वाराणसी, नासिक, प्रयाग, ऋषिकेश, बद्रीनाथ, उत्तरकाशी आदि स्थान सन्तों के जमघट के लिए प्रसिद्ध हैं। जब कभी अवकाश मिले, इन स्थानों में अवश्य जाओ।

यदि इतना करना शक्ति के बाहर है तो महापुरुषों के लिखे हुए ग्रन्थों का नियमपूर्वक श्रद्धासहित स्वाध्याय करो। इससे भी सत्सङ्ग की आंशिक पूर्ति हो सकती है।

सत्सङ्ग का प्रभाव देखिए, जगाई और मधाई डाकू थे, तर गये। रत्नाकर को सत्सङ्ग ने ही वाल्मीकि बना दिया। सत्सङ्ग तीव्र अग्नि के समान है, जिसके सामने व्यर्थ के घास-फूस नहीं ठहर सकते हैं। सत्सङ्ग महासागर की प्रचण्ड लहर है, जो वृत्ति रूप जहाजों को अन्तर्लय कर देती है। सत्सङ्ग वह निर्वात व्योम है, जहाँ सूर्य सुन्दरतापूर्वक शोभित रहता है।

मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान और प्रेम ही तो चाहिए; सत्सङ्ग से उसके लिए प्रेरणा मिलती है, सहायता मिलती है और आधार मिलता है। सत्सङ्ग के महाप्रभाव के कारण जिसके अवगुण नष्ट हो गये हैं, उन व्यक्तियों में विद्या का प्रादुर्भाव होता है। सत्सङ्ग से अविद्या का निराकरण और विद्या का श्रीगणेश होता है।

सन्त लोग सदा अच्छी बातें ही सिखलाया करते हैं। उनका कर्त्तव्य सबको प्रेरित करना होता है। वे प्रत्येक व्यक्ति को

सुधार की बातें ही सिखलाते हैं। इसलिए सन्तों का सङ्ग प्रभावशाली बतलाया गया है।

कहा जा चुका है कि जो पद तपस्या, पूजा, अन्न-वस्त्र तथा गृहदान, वेदाध्ययन, देव आदि पूजन, अग्नि-सूर्य उपासना से प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे ही सत्सङ्ग के द्वारा अनेकों साधारण-अतितर नीच व्यक्ति भी पा गये, तब तुम भी क्यों न प्रयत्न करो।

घर-घर में सत्सङ्ग कीजिए

रोजाना शाम के समय, जब घर के सभी प्राणी उपस्थित हों मिल कर सत्सङ्ग करना चाहिए। इसके लिए कोई कमरा या गृह-मन्दिर अच्छा है। पास-पड़ोस के जो लोग रुचि लेते हों, उनको भी निमन्त्रित करना चाहिए।

दो घण्टे तक गीतापाठ, उपनिषदों का अध्ययन, रामायण की कथा, भागवत पर प्रवचन, योगवाशिष्ठ पर उपदेश, भजन, कीर्त्तन इत्यादि कार्यक्रम सम्पन्न किये जा सकते हैं। यही प्रत्येक परिवार के लिए सत्सङ्ग है। वे इससे लाभ उठा सकते हैं।

इससे सारे घर का वातावरण आध्यात्मिक हो जायगा, भौतिकता और नास्तिकवाद का नाम भी नहीं रहेगा। घर की औरतों को सत्सङ्ग का उत्तरदायित्व मिलना चाहिए, बालकों को इसका तुरन्त फल।

अकेले-अकेले सत्सङ्ग

कभी-कभी सन्तों के सङ्ग का सुअवसर नहीं मिलता। सन्तों का सङ्ग न मिले, इसके लिए सत्सङ्ग न करना ठीक नहीं।

यदि सन्तों का सङ्ग मिलने में कठिनाई हो तो सन्तों की रचनाओं के साथ (जिनमें उनके अनुभव हैं) सत्सङ्ग करो। महात्माओं के विचार उनकी पोथियों में अङ्कित किये रहते हैं। उनके लिखे हुए ग्रन्थों से ज्ञान और अनुभव की पर्याप्त सामग्री मिलती है। शङ्कराचार्य तो हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु हम उनके विचारों और अनुभवों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। उनकी रचनाओं को पढ़िए। विवेक चूड़ामणि का अध्ययन कीजिए तो उनका सत्सङ्ग ही तो किया जा रहा है। जहाँ साधारणतः महात्माओं के साथ सत्सङ्ग कर उनके व्यक्तित्व के साथ भी सम्पर्क स्थापित किया जाता है, वहाँ अकेले-अकेले सत्सङ्ग करना है तो उन्हीं महात्माओं के विचारों और अनुभवों के साथ सम्पर्क स्थापित करो।

आजकल जीवन पेचीदा हो गया है। अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं हल हो रहा है। और तो और, लोगों को अपने घर की खबर लेने के लिए भी समय नहीं। तब कौन प्रयाग, काशी, हरिद्वार जाय और किस प्रकार सत्सङ्ग प्राप्त हो। इसी दृष्टिकोण से मैं 'अकेले-अकेले सत्सङ्ग' की प्रशंसा करने में नहीं चूकूँगा।

जब समय मिले, एक घण्टा, दो घण्टा या पन्दरह मिनट ही तुरन्त विवेक चूड़ामणि खोल लो। योगवाशिष्ठ पढ़ना आरम्भ कर दो। कठिन विषय में रुचि न ले सको तो रामायण, महाभारत, मार्कण्डेय पुराण, स्कन्द पुराण तथा भागवत आदि काव्यों का अध्ययन करो। कथात्मक होने से इन ग्रन्थों में प्रत्येक दिलचस्पी लेने लगेगा।

यदि तुम्हारी प्रकृति विचारात्मक है तो योगवाशिष्ठ, गीता, पञ्चदशी आदि वेदान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय करो। प्राचीन काल

के सामाजिक विधान का अध्ययन करना चाहो तो मनुस्मृति का अध्ययन करो। १०८ उपनिषद् हैं, उनका अध्ययन भी करो तो मन को उच्च प्रेरणा मिलेगी।

इस प्रकार व्यस्त सांसारिक जीवन में भी तुमको महात्माओं के विचारों के साथ सत्सङ्ग करने का अवसर मिलेगा। अपने पास पुराने धर्म-ग्रन्थ जुटा कर रखो। गीता प्रेस, गोरखपुर से बड़ी अच्छी पुस्तकें मिल सकती हैं, जो यावज्जीवन तुम्हें सत्सङ्ग-सुधा का पान करायेंगी।

सत्सङ्ग और परमात्म-दर्शन

पहले धर्मात्मा व्यक्तियों से सम्पर्क और उनकी सेवा। सम्पर्क और सेवा से स्वात्म-स्वरूप के ज्ञान का उदय होता है। ज्ञानोदय होते ही वैराग्य, विषय-पदार्थों से अनासक्ति तथा परमात्मा के प्रति प्रेम। यहाँ पर भक्ति का जन्म होता है। भक्ति सत्कार-सेवित हुई तो भक्त परमात्मा का प्यारा बन जाता है।

स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण परमहंस का सत्सङ्ग किया। ज्ञानदेव को निवृत्तिनाथ का सत्सङ्ग मिला। गुरु गोरखनाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का सत्सङ्ग प्राप्त हुआ। परमात्मा को सर्वत्र व्यापक देखना, सभी प्राणियों में संप्राण्यमान् अनुभव करना—यही क्या कम है? इससे उच्चतर सत्संग तो और है ही नहीं।

प्राचीन काल में विद्यार्थी इसीलिए पवित्र गुरुकुलों में पवित्र गुरुओं के पास भेजे जाते थे। उनको महात्माओं का सत्संग का आदेश दिया जाता था। बाल्यकालीन अवस्था सत्संग के सुन्दर

प्रभाव को स्वीकार कर लेती है, उसे अपने में अन्तर्लीन भी कर देती है।

बीसवीं शती, तुम भी सुन लो

बीसवीं शताब्दि के नर और नारियाँ भौतिकवाद के विष से सराबोर हैं। उनके दिलों में आध्यात्मिकता की रजकण भी नहीं। सत्संग करने की बात तो दूर रही, उनको यही मालूम नहीं कि सत्संग किस चिड़िया का नाम है। उनके संस्कार उलझ गये हैं, मैले हो गये हैं, काले हो गये हैं, किया ही क्या जाय ?

यदि आज का नर-नारी समाज अपने सामने मुँह खोले हुए दुःखों के निराकरण की जरा भी चाह रखता है, तो अपने दिल और दिमागों को साफ़ कर लेवे। जिस प्रकार मशीन को, कल-पुर्जे निकाल कर पुनर्नव किया जाता है, जिस प्रकार गन्दी जगहों को पानी से साफ किया जाता है, उसी प्रकार बीसवीं शताब्दि के प्रतिनिधि मनुष्य ने अपने हृदय और अपनी बुद्धि को पुनर्नव करना होगा तथा आध्यात्मिकता के जल से साफ कर लेना होगा। यदि यह हो गया तो बीसवीं शताब्दि के दूसरे अर्द्धक को आध्यात्मिकता के प्रकाश से उज्ज्वल किया जा सकता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्संग की साधना अनिवार्य हो गयी है। यदि वह सत्संग नहीं करता तो भौतिकवाद के अन्धकार में ही पथ-भ्रष्ट बना रहेगा। पहले ही जीवन को छोटा कहा गया है, जब कि मनुष्य कई सौ सालों तक आयु-धारण किये रहते थे। फिर आज की क्या पूछो, जबकि मुश्किल से जीवन की अर्द्ध-शताब्दि पार होती है, वह भी पार होते ही

मृत्यु के तट पर पहुँचती है। इसलिए जीवन एकदम छोटा हो गया है। समय तो भागता ही जा रहा है, रुकने वाला वह है ही कब। यदि समय को हार खिलानी है तो हमें उससे तेज भागने की शक्ति का अर्जन करना चाहिए।

मनुष्य-जन्म बड़ा अनमोल है। इसको खोना ठीक उस व्यापारी के समान होगा, जो मिले मोती को (जो कई साल के परिश्रम के बाद उसे मिला था) अथाह सागर में गिरा देता है। एक बार इस जन्म से हाथ धो दिया तो समझ लो, सदा के लिए खो दिया। कह नहीं सकते कि फिर होगा क्या। यदि इस जीवन में कुछ अच्छे संस्कारों का अर्जन किया है तो कभी-न-कभी मनुष्य जीवन की आशा की जा सकती है; पर यदि जन्म से लेकर कफन ओढ़ने तक कुत्ते, बिल्ली, गधे आदि के समान कर्म किये तो न जाने फिर कब यह मनुष्य योनि मिलेगी।

अभी तो खून में जोश है, बिटामिन् बी की गोलियाँ, इन्स्यूलिन् की सुइयाँ, काड्लिवर आइल, च्यवनप्राश, स्वर्णभस्म आदि खा-खा कर शक्ति को गिरने से बचाया जा रहा है। गाल अभी लाल हैं, रग-रग में खून खौल रहा है, इसलिए कुछ भी समझ में नहीं आता—भले ही लाख समझाओ। कल को जब लकड़ी के सहारे उठने लगोगे, जिस दिन बालों पर बरफ गिर जायगी, दाँतों को कोई आ कर सोते-सोते ही तोड़ जायगा, जिस दिन हलवा और दूध ही पेट के अन्दर आसानी से जा सकेगा—सम्भवतः उसी दिन कुछ विचार आयेगा—ओहो, हमने गलती की, युवावस्था को जुए में हार दिया, शराब और सिनेमा और उपन्यास और अश्लील समाज के हाथों बेच दिया।

पर तब हो ही क्या सकता है ? चिड़िया तो खेतों को चुग गई, अब तो व्यर्थ का कनिस्टर बजाओ।

देवी, बीसवीं शताब्दि, जागो, तुम्हारे जन जागें। सोये हुओं में तुम जाग-जाग कर जागृति भरो। इतिहास में तुम्हारे अध्याय का शीर्षक न तो काले अक्षरों में लिखा जाना चाहिए और न लाल अक्षरों में ही। या तो पीला या काषाय या स्वर्णिम—मुझे यही तीनों रङ्ग पसन्द हैं। क्यों नहीं तुम ही अपने इतिहास का आमुख अपने हाथों से गेरू रङ्ग में लिख जाती हो ? मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।

जब भगवान् परीक्षा लेते हैं

प्रतियोगिता परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर योग्य व्यक्ति को नौकरी मिलती है। भगवान् भी साधक की परीक्षा लिया करते हैं और यह निश्चित करते हैं कि वह मोक्ष पाने का अधिकारी बना है या नहीं। इन परीक्षाओं का स्वरूप बड़ा कठोर हुआ करता है। आध्यात्मिक क्षेत्रस्थ साधकों के लिए ब्रह्मचर्य परीक्षा, देहाध्यास परीक्षा, समदृष्टि परीक्षा, मनोपशम परीक्षा नामक चार परीक्षाएँ निश्चित रहती हैं, जिनमें उत्तीर्ण हो कर ही उनको मोक्षाधिकारी बनाया जाता है।

भगवान् बुद्ध के जीवनचरित्र से ज्ञात होता है कि वे भी परीक्षित हुए थे। कौन-कौन ऐसे माया-भाव नहीं थे, जिन्होंने उनको आक्रान्त नहीं किया। उनको मार का सामना करना पड़ा था। युद्ध-भूमि में लोहा लिया, परीक्षा में उत्तीर्ण उतरे तो बोधि-वृक्ष के नीचे उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई।

शैतान ने ईसामसीह को आक्रान्त किया। जैमिनी को उनके गुरु भगवान् व्यास ने परीक्षा में कसा था। विश्वामित्र मुनि की परीक्षा ली गयी थी। श्री हरि ने देवर्षि नारद को भी कसौटी पर कसा था। खरा उतरने के लिए सोने को आग में तपना पड़ता है। ब्रह्मचर्य में उत्तीर्ण हो जाने पर साधक को मोक्ष का अधिकारी समझ लिया जाता है।

दूसरी परीक्षा है देहाध्यास की। यह शरीर नाशवान् है, इसमें आसक्तिभूत न रहना। यह शरीर नाशवान् है, इससे आसक्ति क्यों? देहाध्यास होने पर भी साधक इस देह से प्रेम करने लग जाता है। योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने एक बार अपने शिष्यों की भी परीक्षा ली थी। जमीन पर एक त्रिशूल गाड़ कर उन्होंने अपने शिष्यों को पेड़ पर चढ़ कर उस पर कूदने को कहा। शिष्यों का देह से प्रेम था, मोह था। एक शिष्य ऐसा निकला, जिसने गुरु की आज्ञा के सामने शरीर को कुछ भी न समझा और आज्ञानुसार वृक्ष पर चढ़ कर त्रिशूल पर कूद पड़ा। योगी मत्स्येन्द्रनाथ की योगशक्ति ने उस शिष्य की अनासक्ति पर प्रसन्न हो कर उसे मृत्यु से बचा लिया।

गुरु गोविन्दसिंह ने भी अपने शिष्यों की परीक्षा ली थी। उन्होंने उनसे सिर देने के लिए कहा। बहुतों ने डर कर अस्वीकार कर दिया। चार शिष्य ही आगे आये, सहर्ष अपना सिर देने के लिए। देहाध्यास से छुटकारा मिल गया तो साधक परीक्षा में सफल उतरता है।

तीसरी परीक्षा है समदृष्टि की। क्या साधक कुत्ते, बिल्ली, हाथी और सूअर—सभी में भगवान् के ही दर्शन कर रहा है—

भगवान् इस प्रकार साधक की परीक्षा लेते हैं। एकनाथ महाराज की परीक्षा हुई थी। नामदेव को भी कसौटी पर खरा उतरना ही पड़ा। भगवान् शङ्कराचार्य की परीक्षा के लिए भगवान् को चाण्डाल का रूप धरना पड़ा। चाण्डाल का रूप धारण करने पर ही उन्होंने शङ्कराचार्य को ब्राह्मणत्व के अभिमान से मुक्त किया था। मनीषापञ्चकम् के पढ़ने से पता चलेगा कि किस प्रकार शङ्कराचार्य को चाण्डाल के रूप में भगवान् ने उपदेश दिये थे।

चौथी कसौटी मनोपशम (मानसिक शान्ति या समता) की है। भगवान् साधक के जीवन में अनेकों प्रकार के कष्टों को उत्पन्न करते हैं। किसी की स्त्री का प्राणान्त हो जायगा या बच्चे की अकाल मृत्यु हो जायगी। किसी की सम्पत्ति नष्ट हो जायगी, किसी को व्यधिग्रस्त होना पड़ेगा। इस प्रकार भगवान् साधक को निःसहाय-सा बना कर उसके मन की समता की जाँच करते हैं; क्योंकि ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य अपने मन की शान्ति को खो बैठता है। यदि यह दुःख न आयें तो प्रत्येक व्यक्ति मन को शान्त रख सकता है। अतः भगवान् इसी कसौटी पर साधक को कसते हैं। भद्राचलम् के श्री रामदास की कथा में इसी परीक्षा की प्रतिध्वनि है।

तुम्हारी लगन और सहिष्णुता की भी इसी प्रकार जाँच की जायगी। तिब्बत के योगी मिलारप्पा को उसके गुरु ने कितनी कठिनाइयों में कसा था, सर्वविदित है। बार-बार ऊँचे पहाड़ पर मकान बनाने का आदेश दिया जाता था और जब मकान तैयार हो जाता था तो मिलारप्पा को उसे तोड़ कर, उसके गारे-पत्थरों को पहाड़ के नीचे लाने लिए कहा जाता

था। कई बार ऐसा हुआ। इतनी कठोर यन्त्रणा के बावजूद भी योगी मिलारप्पा ने हिम्मत न हारी, वे गुरु की आज्ञा के अनुसार कार्य करते गये। फल यह हुआ कि योगी मिलारप्पा तिब्बत के महान् योगी हो चुके हैं। गुरु ने भी उनको मन्त्र-दीक्षा तभी दी, जब वे अपनी परीक्षाओं में सफल उतरे।

अतः इन चार अग्नि परीक्षाओं में सफल उतरने की शक्ति और योग्यता हो तो भगवद्दर्शन होते हैं। ऐसे साधक के योग-क्षेम के लिए भगवान् ने 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' की प्रतिज्ञा की है और वचन दिया है। पुरी के माधवदास की तरह भगवान् साधक की रुग्णावस्था में सेवा करने आयेंगे। सूरदास को जिस प्रकार वे रास्ते पर ले जाते थे, उसी प्रकार अपने भक्त को भी ले जायेंगे। बिल्वमंगल के लिए वे ही तो पानी और भोजन ले जाते थे, तुम्हारे लिए भी वह करेंगे ही। सोना खरा उतरने पर राजाओं और महाराजाओं के गले का आभूषण बनता है और साधक अपनी परीक्षाओं में सफल उतरने पर भगवान् का प्यारा।

जीवन की सफलता भगवद्दर्शन में ही है और सफलताएं विफलता की प्रतिरूप।
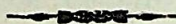
अष्टम प्रयोग

दो कथाएं

तीन खोपड़ियाँ

राजा विक्रमादित्य के दरबार में एक राक्षस आया। उसके पास तीन खोपड़ियाँ थीं। उसने कहा—'हे राजन्, अपने दरबार के पण्डितों को कहिए कि इन तीनों में से किसी एक सुन्दर और अच्छी खोपड़ी को छाँट लें। यदि उन्होंने एक सप्ताह के अन्दर यह कार्य न कर पाया तो मैं उनके प्राण हर लूँगा।'

विक्रमादित्य ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया। अपने दरबार के सभी पण्डितों को बुला कर राक्षस की चुनौती दुहराई गई। पण्डितों ने यह सब सुना तो डर के मारे बेहोश से हो गये। भाग्यवशात् उनमें एक चतुर पण्डित था। उसका नाम राजाराम था। राजाराम पण्डित ने सभी को धीरज दिया और यह आश्वासन देते हुए कहा कि वह अवश्य उत्तम खोपड़ी को छाँट सकेगा।

सातवें दिन राक्षस पुनः दरबार में प्रकट हुआ। राजाराम पण्डित ने मञ्च पर से कहा—'जिस खोपड़ी में एक कान से दूसरे कान तक लोहे की शलाका निकल सकती है, वह निकृष्ट है। उसका मूल्य एक कौड़ी भी नहीं। जिस खोपड़ी में शलाका

एक कान से प्रविष्ट हो कर दूसरे कान से नहीं निकलती, पर मुँह के रास्ते से निकल जाती है, वह मध्यम कोटि की है, और जिस खोपड़ी में लोहे की शलाका एक कान से अन्दर जा कर हृदय तक पहुँच जाती है, वही खोपड़ी इन तीनों में सर्वोत्तम है।'

परीक्षण और प्रयोग पर उसने उत्तम खोपड़ी राक्षस के हवाले कर दी। राक्षस ने पण्डित की चतुराई को सराहा और अन्तर्ध्यान हो गया। राजा ने पण्डित को धनादि से सम्मानित किया।

इसी प्रकार जो लोग एक कान से धर्म की बातें सुनते तथा दूसरे से निकाल देते हैं, वे निकृष्ट कोटि के हैं। जो लोग धर्म की बातें एक कान से सुन कर मुँह से बक देते हैं, वे मध्यम कोटि के हैं। किन्तु जो व्यक्ति एक कान से धर्म की बातें सुन उसे अपने हृदय में अङ्कित कर लेता है, उन्हें समझ जाता है, वह उत्तम कोटि का है; क्योंकि ऐसा व्यक्ति उन पर व्यवहार-परायण भी होगा।

अभिप्राय यह कि केवल पढ़ना और बोलना जीवन की सफलता के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध होंगे और न आत्म-दर्शन की सम्भावना ही होगी। आवश्यकता है कि तुम प्रत्येक बात को सुन कर उस पर अमल भी करो। यही मार्ग है जीवन की सफलता और आत्म-दर्शन के रहस्य को समझने का भी।

बिल्वमङ्गल और चिन्तामणि

चिन्तामणि नर्तकी थी। उसने बिल्वमङ्गल से कहा—'हे बिल्वमङ्गल, मेरा यह शरीर अनेकों रोगों से भरा-पूरा है और तुम इसके पीछे पागल हो रहे हो। आज का दिन तुम्हारे पिता

का मृत्यु-दिन है, तो भी तुम अन्धेरी निशा में प्रवाहवती नदी को पार कर मेरे पास आये हो। मृता स्त्री के शव के सहारे नदी पार करने के कारण तुम्हारे शरीर से दुर्गन्ध निःसृत हो रही है। वह मृता कौन थी, जानते हो? वही जो कुछ घण्टों पहले मांसादि से भरी हुई अनेकों नवयुवकों को काममोहित कर सकती थी। तब उसके अधरों में लाली थी तथा अङ्ग-अङ्ग में सौन्दर्य दीखता था। पर अब वह कहाँ है? वह सौन्दर्य केवल मल-मूत्र और मांसादि में था। यदि तुमने अपने मन को परमात्मा के चरणों में लगाया होता तो तुम्हें अनहत आनन्द की प्राप्ति हो सकती थी, तुम तर जाते। तुम कितने मूर्ख हो।'

बिल्वमङ्गल के नेत्र खुल गये। वह अपने रास्ते को पा गया। अविद्या का परदा हट गया, एक नर्तकी के उपदेश से। कृष्ण के चरणों में चित्त लगा कर बिल्वमङ्गल का स्थान आज कहाँ पर है, कुछ देर के लिए सोचिए।

यह न कहो कि वैराग्य समाज को निर्बल बना देता है। तुम क्या समाज के बड़े भारी ठेकेदार हो? पहिले अपनी ठेकेदारी कर लो, पहिले अपने घर में दिया जला लो, पहिले अपने दिमागों को दुरुस्त कर लो, तब दूसरों की जिम्मेवारी की चिन्ता करना। वैराग्य से समाज निर्बल होगा यह नहीं होगा, यह सोचना तुम्हारा काम नहीं है और न तुममें इसके निर्णय की शक्ति है। जिनके पास यह शक्ति थी, वे वैराग्य-निष्ठ ही थे। पहिले अपने को वासनाओं से मुक्त कर लो, विषयों से दूर लेते चलो, पवित्र बना लो और सच्चा आदमी बना लो, तब कहना कि समाज को वैराग्य ने निर्बल किया है या दृढ़ आधार पर खड़ा किया है।

परिशिष्ट

बीस आध्यात्मिक नियम

१. चार बजे प्रातः उठो। जप तथा ध्यान करो।

२. सात्त्विक आहार करो। पेट को उचित से अधिक मत भरो।

३. जप तथा ध्यान के लिए पद्म या सिद्ध आसन में बैठो।

४. ध्यान के लिए एक अलग कमरा ताले-कुञ्जी से बन्द कर रखो।

५. अपनी आय के दसवें हिस्से को दान दो।

६. भगवद्गीता के एक अध्याय को नियमित रूप से पढ़ो।

७. वीर्य की रक्षा करो। अलग-अलग सोओ।

८. धूम्रपान, उत्तेजक मदिरा तथा राजसिक भोजन का त्याग करो।

९. एकादशी को उपवास करो या केवल दूध या फल का आहार करो।

१०. नित्यप्रति दो घण्टे के लिए तथा खाते समय भी मौन का पालन करो।

११. हर हालत में सत्य बोलो। थोड़ा बोलो, मधुर बोलो।

१२. अपनी आवश्यकताओं को कम करो। सुखी तथा सन्तुष्ट जीवन बिताओ।

१३. दूसरों की भावनाओं पर आघात न पहुँचाओ। सबों के प्रति सदय बनो।

१४. अपनी गलतियों पर विचार करो। आत्म-विश्लेषण करो।

१५. नौकरों पर निर्भर मत रहो। आत्मनिर्भर बनो।

१६. प्रातः उठते ही तथा रात्रि को सोते समय ईश्वर का स्मरण करो।

१७. अपनी जेब या गले में एक माला रखो।

१८. सरल जीवन तथा उच्च विचार का आदर्श रखो।

१९. साधुओं, संन्यासियों तथा गरीब एवं रोगी व्यक्ति की सेवा करो।

२०. नियमित डायरी रखो। अपनी दिनचर्या का पालन करो।

इन बीस शिक्षाओं में ही योग और वेदान्त का सार निहित है। इनका अक्षरशः पालन कीजिए। अपने मन को ढील न दीजिए। आपको परमानन्द की प्राप्ति होगी।

विश्व-प्रार्थना

हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव,
तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है।
तुम सच्चिदानन्दघन हो।
तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो।
तुम सबके अन्तर्वासी हो।
हमें उदारता, समदर्शिता और मन का समत्व प्रदान करो।
श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो।
हमें आध्यात्मिक अन्तःशक्ति का वर दो
जिससे हम वासनाओं का दमन कर मनोजय को प्राप्त हों।
हम अहंकार, काम, लोभ और द्वेष से रहित हों।
हमारा हृदय दिव्य गुणों से पूर्ण करो।
सब नाम रूपों में तुम्हारा दर्शन करें।
तुम्हारी अर्चना के ही रूप में इन नाम रूपों की सेवा करें।
सदा तुम्हारा ही स्मरण करें।
केवल तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम हमारे
अधरपुट पर हो।
सदा हम तुममें ही निवास करें।

—★—

श्री स्वामी शिवानन्द

आप प्रख्यात हुए,
नवयुग के धर्माधिनायक के रूप में।
निज अपरिसीम सेवा से
अभिनव विश्व-मानव के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन-स्तर
को प्रोन्नत बनाया।

महामहिम, स्वामी शिवानन्द, आपने
८ सितम्बर १८८७ को दक्षिण भारत के
पट्टामडाई ग्राम में
जीवन का प्रथम प्रभात देखा।
पुन: चिकित्सा व्यवसाय को अपनाया—
'ऐम्ब्रोसिया' अंग्रेजी में चिकित्सा-विज्ञान की पत्रिका
प्रकाशित की।
मलय में दस वर्ष तक चिकित्सा-कार्य करते रहे,
१९२३ में सांसारिक ऐश्वर्य का त्याग किया,
१९२४ में संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हुए,
१२ वर्ष तक अनवरत् तपश्चर्या के पश्चात्
—१९३६ में दिव्य जीवन संघ का
—१९४५ में विश्व धर्म समाज का
—१९४८ में योग-वेदान्त आरण्य अकादमी का
संस्थापन किया।
दिव्य जीवन संघ की शाखाएं विश्व भर में व्याप्त हैं।

इसमें सभी धर्मों और राष्ट्रीयताओं का
अभिनिवेश हैं।
आपने योग, वेदान्त, आरोग्य एवं
चिकित्सा विज्ञान पर ३०० से अधिक
ग्रन्थों का प्रणयन किया।
१९५० में अखिल भारत और सिंहल देश की यात्रा की
और सर्वत्र आध्यात्मिक जागृति प्रदान की—
१९५२ में विश्व-धर्म संसद का समाह्वान किया—
जिसमें देश-विदेश के शिष्टमण्डल पधारे।
आपके दिव्य प्रेरणाप्रद एवं परहितनिरत
जीवन-सरणि ने भारत के धर्म और अध्यात्मवाद में
चार चाँद लगाए हैं।
और भारत की 'दिव्य वाणी' को
अधिकाधिक विस्फुटित, महिमान्वित किया है।
यह 'वाणी' विश्व के जनमानस तक विकीर्ण हुई।
हे विश्व के धर्माधिष्ठाता!
हम समर्पित करते हैं, आपके निमित्त
अपने भक्तियुक्त विपुल हृदयोद्गार।

आनन्द कुटीर के यशस्वी सन्त आराध्यदेव स्वामी शिवानन्द के प्रति श्रद्धा, असीम कृतज्ञता और चिरन्तन प्रेम के प्रतिरूप यह संक्षिप्त वृत्त अङ्कित किया गया है।

प० पू० स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने अपनी इहलौकिक लीला १३ जुलाई १९६३ को समाप्त की उनका यह लोक-पावन जीवन वृत्त शिवानन्दनगर स्थित एक स्तूप से लिया गया है।

दिव्य जीवन संघ

उद्देश्य

विश्व भर में आध्यात्मिक भारत की महान् संस्कृति और जीवनादर्श के बहुमूल्य एवं सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का यथासम्भव विस्तृत प्रसार करने के हेतु सन् १९३६ में श्रद्धेय श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने दिव्य जीवन संघ की स्थापना की। श्री स्वामी जी इस संस्था और आश्रम के द्वारा भारत के नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श का विश्वव्यापी प्रचार करने तथा योग-वेदान्त, दर्शन, धर्म तथा दिव्य गुण, सच्चरित्रता, निःस्वार्थ-सेवा, विश्व-बन्धुत्व, और जीवमात्र की एकता के भाव से सन्निहित आदर्शजीवन के प्रचार करने का अथक परिश्रम करते रहे थे।

हिमालय पर्वत की तलहटी में, गंगा के तट पर ऋषिकेश के निकट शिवानन्दनगर में इस संघ का केन्द्रीय कार्यालय है। यहाँ संन्यासियों का एक बहुत बड़ा समूह है, जिसने अपना जीवन मानवता की नैतिक तथा आध्यात्मिक सेवा के लिए अर्पित कर दिया है। ये संन्यासीगण निष्काम कर्मयोग, भक्ति, उपासना, ध्यान तथा ईश्वर-साक्षात्कार का शिक्षण ले रहे हैं और उन्हें अपने जीवन में व्यवहृत करने का प्रयत्न करते हैं। यह संघ सारी मानव-जाति को जीवन के सही और उन्नत ध्येय

के प्रति जागरूक बनाने तथा उस ध्येय को प्राप्त करने के सभी साधनों पर प्रकाश डालने की दिशा में प्रयत्नशील है।

दिव्य जीवन संघ अध्यात्म को विश्व भर में फैलाने के अपने उद्देश्य के लिए पुस्तक-पुस्तिकाओं का प्रकाशन करता है जिनमें योग-वेदान्त, धर्म, दर्शन, प्राचीन वैद्यक शास्त्र सम्बन्धी विचार होते हैं। यह धार्मिक सम्मेलनों और शिविरों का आयोजन तथा प्रबन्ध भी करता है और विश्व में नैतिक एवं आध्यात्मिक पुनर्जीवन लाने की दृष्टि से योग के व्यावहारिक प्रयोग के शिक्षण-सत्र भी चलाता है।

ऋषिकेश के मुनि-की-रेती नामक स्थान में स्थित शिवानन्दाश्रम में दिव्य जीवन संघ तथा उसके प्रशिक्षण विभाग, योग-वेदान्त फारेस्ट एकैडेमी का प्रधान कार्यालय है। यह एक ऐसा स्थान हैं जहाँ शताब्दियों के विरासत में प्राप्त प्राचीन संस्कृति और परम्परा को सुरक्षित बनाये रखने का प्रयास हो रहा है। यह संघ बहुमुखी और परोपकारी प्रवृत्तियों और अनुकरणीय आदर्शों का नमूना प्रस्तुत करने तथा मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास करने के लिए स्थापित हुआ है। संसार भर में सुशिक्षित नागरिकों के लिए यह आश्रम एक उत्तम आश्रय-स्थान है जहाँ वे नयी स्फूर्ति तथा नवचेतना प्राप्त कर सकते हैं और अपने जीवन में भौतिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के लिए नया बल सञ्चय कर सकते हैं।

प्रवृत्तियां

यहाँ आश्रम की ओर से एक एलोपैथिक अस्पताल चलाया जाता है जिसमें रोगियों के रखने की भी व्यवस्था है। उनके

उपचार तथा सामान्य रोगियों को दवा देने का काम निःशुल्क किया जाता है। आयुर्वेदिक फार्मेसी में आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण होता है। ये औषधियाँ अति उत्तम तथा विश्वसनीय हैं। इससे वे न केवल भारत में वरन् विदेशों में भी बहुत ही ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। गरीब जनता तथा योग के विद्यार्थियों में प्रति-वर्ष ये आयुर्वेदिक औषधियाँ बिना मूल्य के बाँटी जाती हैं। एक नेत्र-चिकित्सालय भी यहाँ पर है जिसमें सुधरे हुए आधुनिक साधन पर्याप्त मात्रा में हैं। इसका लाभ आस-पास के पहाड़ी इलाके के असंख्य लोगों को मिल रहा है। उपचार के लिए रोगियों के रहने की भी व्यवस्था यहाँ है। इन दोनों अस्पताल के रोगियों को भोजन और दवा मुफ्त दी जाती है। एक भव्य मन्दिर तथा भजनहाल भी है जो आध्यात्मिक साधन तथा प्रार्थना के लिए अनुकूल आदर्श सुविधाओं से सम्पन्न है। एक योग-वेदान्त प्रदर्शन-कक्ष (म्यूज़ियम) है जिसमें योग-वेदान्त का संक्षिप्त रूप एक नजर में देखा जा सकता है। दिव्य जीवन संघ के योग-वेदान्त फारेस्ट एकैडेमी के माध्यम से भारत के अतिरिक्त यूरोप, इंगलैंड, अमरीका, अफ्रीका, हिन्देशिया और मलाया के विद्यार्थियों को प्रशिक्षित किया जाता है। इस एकैडेमी की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह है कि योग की विभिन्न प्रक्रियाओं का विशिष्ट ज्ञान दिया जाय, लोगों को आध्यात्मिक मार्ग में उन्नत ध्यान के लिए तैयार किया जाय, और कर्मयोग, विश्व-प्रेम तथा विश्वबन्धुत्व के आधार पर मानवता की निःस्वार्थ सेवा करने के लिए प्रशिक्षित किया जाय। संघ के द्वारा प्रति-वर्ष एक लाख रुपये से भी अधिक मूल्य की पुस्तकें विश्वविद्यालयों, सार्वजनिक पुस्तकालयों, कालेजों और सांस्कृतिक संस्थाओं के अतिरिक्त योग के विद्यार्थियों, साधकों

और जिज्ञासुओं में वितरित की जाती है जिससे कि वे आध्यात्मिक मार्ग में शीघ्र प्रगति कर सकें। संघ के द्वारा सञ्चालित अन्नक्षेत्र से यहाँ रहने वाले निःस्वार्थ सेवकों, साधकों, रोगियों, गरीबों, यात्रियों और दर्शकों को बिना किसी मूल्य के भोजन दिया जाता है।

प्रातःकाल योग के वर्ग चलते हैं, जो स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी हैं। प्रतिदिन तीसरे पहर दार्शनिक और आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्यापन होता है। नित्य संध्या के समय सत्सङ्ग के द्वारा आध्यात्मिक स्फूर्ति और मार्ग-दर्शन प्राप्त कराये जाते हैं। आश्रम में जाति अथवा सम्प्रदाय का कोई भेद नहीं है। अलग-अलग विभागों की सारी प्रवृत्तियों से निःस्वार्थ सेवा और नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास का एक अलौकिक वातावरण का निर्माण होता है।

संघ निम्नलिखित सेवायें प्रस्तुत करता है—(१) वार्षिक सदस्यता, (२) व्यक्तिगत सुझाव तथा मार्ग-दर्शन के लिए पत्र-व्यवहार, (३) योग और वेदान्त सम्बन्धी व्यावहारिक ग्रन्थों का प्रकाशन, (४) मासिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और (५) विशेष प्रचार तथा प्रेरणा प्रदान करने की दृष्टि से पुस्तकों का निःशुल्क वितरण।

प्रवृत्तियों का प्रबन्ध

संघ को इस अबाध सेवा-कार्य में सदा ही सेवाभावी भक्त और प्रेमी जनों का सहयोग प्राप्त होता रहा है। यह एक सर्वजनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा उदार संस्था है जो जनता

द्वारा दिये गये (आयकर-मुक्त) दान से ही चलती है। ऐसे भक्तों के उदार दान और सामान्य जनता की स्वेच्छापूर्ण आर्थिक सहायता से ही इस आध्यात्मिक संस्था तथा यहाँ की प्रवृत्तियों का दिन-प्रतिदिन का निर्वाह-व्यय चलता है।

—●—

ज्ञान-यज्ञ

(आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार)

श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज मानवता की सेवा के लिए करीब पच्चीस साल से इस महान् यज्ञ को करते आ रहे थे।

तथा उन्होंने आपको सुअवसर प्रदान किया जिससे कि आप ईश्वरीय कृपा, महिमा तथा आशीर्वाद को प्राप्त करें।

स्वामी जी की बहुत सी पुस्तकें अभी तक अप्रकाशित हैं। अपने धर्म-धन के द्वारा आप उन पुस्तकों में से किसी को भी अपने नाम से छपवा सकते हैं। लाखों इससे लाभ उठायेंगे।

एक पुस्तक को छपवाने में लगभग खर्च ५००) रु० से २०००) रु० तक। विशेष जानकारी के लिए नीचे के पते पर लिखिए।

सेक्रेटरी, डिवाइन लाइफ सोसाइटी,
शिवानन्दनगर, जिला टिहरी गढ़वाल

योग-वेदान्त

(हिन्दी मासिक पत्र)

संस्थापक—श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती
सम्पादक—श्री स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती,
वार्षिक चंदा : ३ रु० ७५ पैसे; एक प्रति ३५ पैसे
(वी० पी० से भेजने का नियम नहीं है।)

यह पत्र शिवानन्द साहित्य का अनमोल रत्न है। "योग वेदान्त आरण्य अकादमी" का मुख पत्र होने से इसमें सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, योग और वेदान्त विषयक सुबोधगम्य सामग्री रहती है।

योग के जटिल अर्थ को साधारण जन समाज में सरल रीतियों से समझाने के लिए यह उत्तम माध्यम है। अपने पवित्र विचारों को लेकर यह पत्र नवीन आध्यात्मिक युग का शंख प्रघोषितकरता है।

इस पत्र में सर्व साधारण के लेखों को प्रकाशित नहीं किया जाता है। किन्तु अनुभव के आधार पर जो लेख लिखे गए हों और जिनके विचारों की पृष्ठभूमि ठोस और प्रामाणिक हो, ऐसे लेखों को ही इस पत्र में प्रकाशित किया जाता है। जीवनोपयोगी व्यावहारिक सिद्धान्त को प्रकट करने वाले लेख पत्र में अवश्य प्रकाशित किये जाते हैं।

यह पत्र किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता, किन्तु विश्वात्म-भावना के उद्देश्य को अंगीकार कर, केवल उसी सिद्धान्त का हर रीति से प्रतिपादन करता है।

पता— व्यवस्थापक, योग-वेदान्त
पो० शिवानन्द नगर वाया ऋषिकेश (यू. पी.)